परमपूज्य तपोनिधि विद्यालंकार
१०८ आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज

श्री १०८ श्री आचार्य देशभूषणजी महाराज
और
यह ग्रन्थ

समस्त संप्रदायों के साधुओं की चर्या में निर्ग्रन्थ दिगंबर जैन साधु की चर्या महान् कठिनतम है। साधु का जैसा स्वरूप होना चाहिये वैसा आदर्श स्वरूप दिगंबर जैन धर्म में ही है। दिगंबर जैन धर्म कोई संप्रदाय नहीं किन्तु; एक आदर्श सिद्धांत है। इस धर्म में परमोग्र साधु के लिए २८ मूल गुण परमावश्यक हैं। इन २८ मूलगुणों में भी नग्नता, केशलोंच आदि महान् गुण परम आदर्श और परम वीतरागता के स्पष्ट दर्शक हैं। जिनके हृदय में अंतरंग और बहिरंग परिग्रह का अभाव होता है वेही इस परमोच्च पद के अधिकारी हो सकते हैं।

किसी के विषय में बात बना देना या उसकी झूंठी सच्ची समालोचना कर देना सहज और सरल है परन्तु उस पद तक पहुँच कर उसका उत्तरदायित्व निभाना सहज और सरल नहीं है। आजके अधिकांश लोग पारलौकिक श्रद्धा और आत्मरुचि की न्यूनता अथवा अभाव से बात बनाने या समालोचना करने में बड़े भारी पटु तथा दत्तचित्त हैं परन्तु उस पद तक पहुँच कर उसका उत्तरदायित्व निभाने में वे सर्वथा असमर्थ ही नहीं किन्तु; अनधिकारी भी हैं।

आज इस पंचमकाल में भी ऐसे वीतरागी निर्ग्रंथ महात्माओं के दर्शन होरहे हैं। समस्त इन्द्रियों के विकारों में स्पर्शनेन्द्रिय का

दिकार छिपाये छिपता नहीं। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं और जिनकी स्पर्शनेन्द्रिय पुरुषाकार में अनेक काम विकार के निमित्त होते हुये भी विकार नहीं होता, एवं अन्य इन्द्रियों पर भी जिनका पूर्ण नियंत्रण है वे एक मनुष्य के रूप में भगवान् ही हैं। हमें तो उनकी वीतरागता, तपश्चर्या और इन्द्रिय-विजयादि उत्तम आदर्श दशा को देखकर हृदय में साक्षात् आत्म-दर्शन होजाता है और उनके प्रति हमारा स्वाभाविकता से मस्तक नत होजाता है।

इस पंचमकाल में शारीरिक संहनन और कुछ निर्बलता से चौरासी लाख उत्तरगुण मुनिराजों में नहीं होते जिसे कलिकाल का प्रभाव ही कहना चाहिये। यह हुंडावसर्पणीकाल है, इसमें उन साधनों के अभाव से वैसा साध्य भी नहीं बनता तो भी पंचमकाल के अंत तक २८ मूलगुणों के धारी दिगंबर जैन मुनियों का सद्भाव बना रहेगा, ऐसा जैन शास्त्र बतलाते हैं।

आजकल लोग अपनी ओर न देखकर दूसरों की ओर देखने के अधिक अभ्यासी हो गये हैं जिसका कारण अपने अपराधों और कुकर्मों की ओर किसी को न देखने देने का प्रयत्न है। चाहे आज का जैन नामधारी स्वयं अष्ट मूलगुण का पालन भी न करता हो तो भी मुनि में पूरे चौरासी लाख गुण देखना चाहते हैं और अनुचित समालोचना कर निर्णय करने में सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान जजके भी कान कतरता है।

आज चारित्र चक्रवर्ती अनन्य वीतरागी परमतपस्वी आचार्य शांतिसागर, आचार्य पायसागर, आचार्यकल्प महा मुनिराज परम

तपस्वी वीरसागर जैसे महान् आदर्श साधुओं में भी लोग दोप टटोलने की बुद्धि से कुप्रयत्न करते हैं, जिनकी गति विधि पर हमें हार्दिक वेदना होती है।

आचार्य देशभूपणजी महाराज एक शांत वीतरागी साधु हैं। निरंतर ध्यान स्वाध्याय में रत रहते हैं। कानड़ी और मराठी भाषा के महान् विद्वान् हैं। भरतेश वैभव, रत्नाकर शतक, परमात्मप्रकाश, धर्मामृत, निर्वाणलक्ष्मीपतिस्तुति, निरंजनस्तुति आदि कानड़ी भाषा के महान् ग्रंथों का हिंदी गुजराती मराठी भाषाओं में अनुवाद किया है। गुरुशिष्य,-संवाद चिन्मय-चिंतामणि आदि स्वतंत्र रचनाएँ तथा अहिंसा का दिव्य संदेश, महावीर दिव्यसंदेश आदि अनेक ग्रन्थ लिखकर भव्य जीवों का कल्याण किया है। तीन वर्ष से चातुर्मास के समय जो आप प्रवचन करते हैं उनके पुस्तकाकार बन जाने से वे भी मननीय शास्त्र सम बन गये हैं। आपका अक्रोधमय शांत स्वभाव, अमृतमय धर्मोपदेश बड़ा ही सुन्दर होता है।

यों तो आपकी धर्मोपदेशादि की प्रशंसा कर्णाकर्णि सुनी थी: परन्तु आपके दर्शनों का सौभाग्य मुझे जयपुर आपके पधारने पर ही हुआ। आप विहार करते २ श्री महावीरजी से जयपुर आये और ज्येष्ठ शु० ६ सं. २०११ को जयपुर में ही आपने केशलोंच भी किया। केशलोंच के समय १०००० जैन जनता उपस्थित थी। आपसे जयपुर धार्मिक समाज ने चातुर्मास जयपुर में ही विताने की प्रार्थना की जो विशेप अनुरोध होने पर आपने स्वीकृत की।

आपके निमित्त से जयपुर में बड़ा भारी धार्मिक आनंद रहा,

धार्मिक चहल पहल भी काफी अच्छी रही। जिन लोगों ने आपसे धर्मामृत का पान कर आपको आहार दान देकर लाभ उठाना चाहा उन्होंने उसमें यथाशक्य सफलता प्राप्त की। सारांश यह है कि जयपुर की बहुभाग जनता ने आपसे लाभ उठाया।

आप बेलगांव जिले के कोथलपुर गांव के रहने वाले हैं। आपके पिता का नाम सत्यगौडा और माता का नाम अक्कावती था। वे दोनों ही धर्मपरायण थे। आपका जन्म संवत् १६.५ में हुआ था और जन्म का नाम बालगौड़ था। आपकी माता आपको तीन मास की अवस्था में ही छोड़कर स्वर्गस्थ हो गईं और पिता भी ६ वर्ष की अवस्था में छोड़कर परलोकवासी हो गये। आपके पिता संपत्तिशाली तथा उक्त गांव के मुखिया थे। माता पिता के चरित्र नायक की अबोध अवस्था में ही स्वर्गस्थ हो जाने से आपकी नानी ने आपका पालन पोषण किया, संपत्ति की भी संभाल की। १६ वर्ष की अवस्था तक आपने कानडी और मराठी भाषा में अच्छी शिक्षा प्राप्त की, परन्तु धर्म में रुचि न थी। आप सदैव कुसंगति में रहने लगे। देव शास्त्र गुरु जैनमंदिर सभी से पराङ् मुख थे।

एक समय ऐसा आया कि वहां श्री १०८ श्री जयकीर्ति आचार्य महाराज पहुंच गये। थोड़े दिन तो आप उनके पास ही न गये। जाते भी कैसे? रुचि तो उधर थी ही नहीं। परन्तु एक दिन उनके उपदेश सुनने का प्रसंग आ ही गया। बस, इसी उपदेश ने आपके हृदय में धर्म के बीज डालने का काम किया। फिर तो रोज जाने लगे। उधर आपके विवाह करने की मामा नाना ने चर्चा की।

उनके प्रबल अनुरोध और चारों तरफ से दबाव पड़ने पर भी विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार न कर उसे ठुकरा दिया और उक्त महामुनि के साथ पड़ गये। मुनि महाराज ने इनको धर्मग्रन्थों के पठन स्वाध्याय के लिए कहा और थोड़े ही दिनों में अनेक ग्रन्थों का पठन तथा स्वाध्याय कर लिया। आचार्य महाराज के साथ ही घर से खर्चा लेकर थोड़े दिन ब्रह्मचारी रहकर रामटेक तीर्थ क्षेत्र पर ऐलक दीक्षा लेली और सम्मेदशिखरजी साथ चले गये। तत्पश्चात् २० वर्ष की अवस्था में श्रीकुंथलगिरिसिद्ध क्षेत्र पर उक्त आचार्य महाराज से मुनिदीक्षा भी लेली और मुनि अवस्था में खूब विद्याभ्यास किया।

आप कानड़ी और मराठी भाषा के तो अच्छे विद्वान् हैं ही, पर उसके साथ २ हिंदी, संस्कृत, गुजराती और कुछ अंग्रेजी भी जानते हैं। आपकी प्रवचन शैली प्रभावक है। हिंदी भी अच्छी बोलते हैं और उसमें उपदेश भी मार्मिक देते हैं। आपने अनेक स्थानों में चातुर्मास किये हैं और प्रत्येक चातुर्मास में ही धर्म रसिकों के लिए नई सामग्री तैयार करते रहते हैं। इस जयपुर के चातुर्मास में आपने कानड़ी काव्य अपराजितेश्वर शतक का हिंदी में सविवेचन अनुवाद करके रसास्वाद कराया है।

आपका स्वभाव मृदुल और सरल है। क्रोध का तो आभास भी आपकी भाषा तक में कभी नहीं देखने में आया। प्रति समय स्वाध्याय और अनेक शास्त्रों के अवलोकन में ही आप व्यतीत करते हैं। इस ग्रन्थ के विवेचन में भी अनेक ग्रन्थों से लेकर वहां

के प्रकरण उद्धृत किये हैं जिससे इस ग्रन्थ में अनेक ग्रन्थों का सार आ गया है।

आपके संघ में इस समय दो क्षुल्लिकाएँ भी हैं जिनके नाम क्रमशः श्री विशालमती और वीरमती हैं। ये दोनों ही साक्षर, शास्त्रज्ञ, प्रवचन पटु और पठन पाठन में रत हैं। जयपुर में रहकर इन्होंने संस्कृत का भी बहुत कुछ अध्ययन कर लिया है।

अयोध्या जैसी जैन नगरी में जैन जनता का अभाव होने से वह तीर्थ स्थान सूनासा लगता था। उक्त आचार्य महाराज ने वहां एक गुरकुल स्थापित कर बहुत काम किया है। यह गुरुकुल उन्नति करता जा रहा है। यदि इस को जैन समाज ने ऊँचा उठाया और यहां कोई और भी विशेष आकर्षण पैदा कर दिया गया जैसा कि आचार्य श्री चाहते हैं, तो यह क्षेत्र उत्तर प्रान्त में भविष्य में एक दर्शनीय स्थान और भी विशेष रूप से बन जायगा।

कुछ भी हो, हमें तो आचार्य श्री देशभूषण महाराज के निमित्त से कुछ आत्मशोधन करने में सहायता ही पहुँची। चातुर्मास का समय अधिकांश पठन पाठन और स्वाध्याय में ही व्यतीत हुआ। जाता हुआ समय दीखा नहीं। ऐसे संतों का समागम यावज्जीव होता रहे, मानव पर्याय का रस प्राप्त हो, यह हृदय निजात्म रसमें लीन हो जाय, यही निरंतर भावना है।

प्रकाशन व्यय भार

इस ग्रन्थ को दो भाग में बांटा गया है। इस ग्रन्थ में कुल

१२७ पद्य हैं। विवेचन विशद किये जाने से इस ग्रन्थ का कलेवर विस्तीर्ण होगया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्ययभार श्री राधाकिशनजी टकसाली की धर्मपत्नी श्री रामदेई देवी तथा उनके कनिष्ठ पुत्र श्री हरीशचंद्रजी ने अपनी स्वाभाविक उदारता से उठाया है। यों तो आपकी तरफ से श्री सम्मेद शिखर तीर्थराज पर भवन निर्माण, जयपुर में रथोत्सव, जयपुरस्थ वाई के मन्दिर में चांदी के अनेक उपकरणों की भेंट एवं अन्यान्य धर्म कार्य हुये एवं सतत होते ही रहते हैं परन्तु साहित्य प्रकाशन की ओर अभिरुचि के होने में उक्त आचार्य महाराज का जयपुर चातुर्मासार्थ पदार्पण और आपके अमृतमय उपदेशों का श्रवण निमित्त है। आचार्य महाराज की वाणी में उपदेश के समय ऐसा लगता है जैसे कि कोई झरते हुए अमृत का पान होरहा हो ?

श्री राधाकिशनजी टकसाली दि० जैन अग्रवाल महानुभाव हैं। आपके दो पुत्र हैं:—वड़े पुत्र श्री देवीनारायणजी हैं कनिष्ठ श्री हरीशचन्द्रजी हैं और सोने चांदी का व्यवसाय करते हैं। आपकी धर्मपत्नी श्री रामदेई देवी की दिगंवर जैन धर्म और देवगुरु शास्त्र में अगाढ़ भक्ति है। मुनिराज आदि पात्रों के उपस्थित होने पर आप तथा आपके कुटुम्ब के अनेक सज्जन प्रतिग्रहार्थ द्वार पर खड़े रहते हैं और योग मिलने पर वड़ी भक्ति से आहार देते हैं। आचार्य देशभूषणजी महाराज की सौम्यमूर्त्ति और अमृतमय सदुपदेश के प्रभाव से आपने इस ग्रन्थ के इस प्रस्तुत पूर्व भाग

के प्रकाशन का सारा व्ययभार विना किसी विशेष प्रेरणा के बड़े हर्ष के साथ अपने ऊपर उठा लिया है जिसके लिए साभार सधन्यवाद व कृतज्ञता प्रकाशित किये विना नहीं रहा जा सकता। आप तथा आपके समस्त परिवार की धर्म कार्यों के प्रति उत्तरोत्तर अभिरुचि बढ़ती रहे, इसके लिए भगवान् से प्रार्थना है। आपका अनुकरण अन्य धार्मिक सज्जन भी करके इसी प्रकार परिग्रह को हलका करते रहें तो आत्म-कल्याण दूर नहीं है।

अन्य सहायक

यों तो श्री १०८ श्री आचार्य महाराज श्री कुंथुसागरजी ने इस सारे ग्रन्थ पर अपनी चिर संचालित लेखनी से विवेचन किया है परन्तु आचार्य महाराज की मातृभाषा हिन्दी नहीं है, इसलिए भाषा संबंधी सौष्ठव लाने में जयपुर निवासी पंडित कन्हैयालाल जी गोधा एवं पंडित रामशंकरजी त्रिपाठी ने विशेष सहयोग दिया है। इस ग्रन्थ के पद्यों के अंग्रेजी अनुवाद में बाबू ज्ञानचन्द्रजी जैन एम० ए० तथा श्री महेन्द्रकुमारजी बी० ए० एल-एल० बी०, साहित्यरत्न रांवका ने भी परिश्रम तथा पर्याप्त सहयोग दिया है। इसलिए सभी महानुभावों को आभार और कृतज्ञता के साथ धन्यवाद दिये विना नहीं रहा जा सकता। एवं जिन २ सज्जनों से भी इस रचना के संपादन प्रकाशन आदि में जरासा भी सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी को कृतज्ञता के नाते धन्यवाद

श्री हरीशचन्द्रजी टिकसाली

भेंट किये जाते हैं।

जब उक्त आचार्य महाराज ने जयपुर में चातुर्मास करने की स्वीकारता दी तो जयपुर के प्रधान धार्मिक नेता श्रीमान् सेठ गोपीचंदजी ठोलिया, सेठ बधीचंदजी गंगवाल, सेठ रामचन्द्रजी कोठ्यारी, सेठ गुलाबचन्दजी सेटी, सेठ मनीरामजी कासलीवाल, मुन्शी फूलचन्दजी गोधीका, बाबू गैंदीलालजी एडवोकेट आदि शतशः सज्जनों की यह सम्मति हुई कि एक चतुर्मास प्रबंध समिति बनाई जावे। फलतः एक चतुर्मास प्रबंध समिति का निर्माण हुआ और मेरे निर्बल कंधों पर मेरे अस्वस्थ रहते हुये भी मेरी सर्वथा अनिच्छा होने पर भी विशेषानुरोध से उक्त समिति के मंत्रित्व का भार डाल दिया। मुझे सभी प्रमुख सज्जनों के विशेषानुरोध से उसे स्वीकार करना पड़ा। यद्यपि इस पुस्तक के प्रकाशन का चातुर्मास प्रबंधक समिति से कोई संपर्क तथा संबंध नहीं है, तोभी व्यक्तिगत रूप से जो कुछ मुझसे सेवा होसकी, मैंने की है। यदि प्रमादवश कोई त्रुटि या भूल रह गई हो तो मैं उसके लिए उक्त आचार्य महाराज एवं अन्य सभी से करबद्ध क्षमा चाहता हूँ। एवं इस आचार्य महाराज के चातुर्मास में मेरी अस्वस्थता आदि के कारण कोई गलती होगई हो या किसी को कुछ मानसिक कायिक वाचिक वेदना पहुँची हो तो मैं उसकी भी अन्तःकरण से क्षमा चाहता हूँ। मुझे चातुर्मास के प्रबंध के संबन्ध में श्री सेठ बधीचंदजी गंगवाल ने पूर्ण सहयोग देकर सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर मुझे केवल नाम मात्र का

वैधानिक उत्तरदायी रखकर कुछ कष्ट नहीं होने दिया. जिसके लिए मैं उनका सदैव आभारी रह कर कृतज्ञ हूँ और उनकी सेवा में धन्यवादार्पण करता हूँ।

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा
विक्रम सं० २०११

प्रार्थी—
इन्द्रलाल शास्त्री जैन
जयपुर नगर

ग्रन्थ कर्त्ता का परिचय

भारतीय साहित्य में कर्णाटक साहित्य का भी बहुत ऊंचा स्थान है। जैन धर्म के प्रायः सभी बड़े२ आचार्य कर्णाटक देश की ही विभूतियां हैं जिन्होंने विश्वमुकुट भारतीय संस्कृति के शिरोमणि रूप आदर्श ग्रन्थों की रचना कर संसार के विज्ञ और भव्य प्राणियों को सन्मार्ग-प्रदर्शन किया है। श्री धरपेण पुष्पदन्त, भूत वलि, कुन्दकुन्द, उमास्वामी यतिवृषभ, नेमिचन्द, देवसेन आदि महा महिम सर्वज्ञ कल्प आचार्य जिनमें मुख्य हैं। कर्णाटक साहित्य में शब्दलालित्य, भावगांभीर्य, तत्त्वदर्शित्वं आदि साहित्य गुण संस्कृत साहित्य के समान ही पाये जाते हैं।

आज से अनुमानतः ४०० वर्ष पूर्व कर्णाटक देश में रत्नाकर वर्णी नामक एक महान् प्रख्यात महाकवि और सभी शास्त्रों के पारंगत विद्वान् हो गये हैं। इस उद्भट महाकवि ने भरतेशवैभव, त्रिलोकशतक, रत्नाकरशतक, अपराजितशतक आदि ग्रन्थों की रचना की हैं। इन्होंने त्रिलोक शतक में उसका रचना काल शाके संवत्सर १४७६ अर्थात् ईसवी सन् १५५७ बतलाया है।

इस ग्रन्थ के निर्माता श्रीरत्नाकर वर्णी ने अपने को क्षत्रिय वंशज बतलाया है। पिता का नाम श्रीसीमंधर स्वामी और दीक्षा गुरु श्री चारुकीर्त्ति और मोक्षाग्र गुरु श्री हंसनाथ (परमात्मा) को बतलाया है। श्री देवचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में श्री रत्नाकर कवि को मूडविद्री के सूर्यवंशीय राजा देवराज का पुत्र बतलाया है।

कहते हैं कि रत्नाकर कवि भैरव राजा का दरबारी कवि था। रत्नाकर की उद्भट विद्वत्ता को देखकर भैरव राजा की पुत्री राजकन्या उस पर मोहित हो गई और रत्नाकर भी उस पर मोहित हो गया। रत्नाकर शरीर की वायुओं को वशीभूत कर वायु निरोध से राजकन्या के पास अन्तःपुर में जाया करता था। यह सब बात राजा को मालूम हो गई और राजा ने उसे पकड़ने का प्रयत्न किया। रत्नाकर ने राजा द्वारा पकड़ने की बात जानकर अपने गुरु महेन्द्र कीर्ति से पंच अणुव्रत धारण कर लिये। भट्टारक महेन्द्र कीर्तिजी के एक अन्यशिष्य विजयण्णा ने द्वादशानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ की रचना संगीत में की थी जिसका जुलूस हाथी पर निकाला गया था। तब रत्नाकर वर्णी महाकवि ने अपने द्वारा लिखे हुए भरतेशवैभव का भी इसी प्रकार जुलूस निकालने की भट्टारकजी से प्रार्थना की। भट्टारकजी ने भरतेशवैभव में कुछ दोष बतलाकर वह प्रार्थना अस्वीकार कर दी जिस पर भट्टारकजी तथा रत्नाकर वर्णी में यहां तक अनबन होगई कि भट्टारकजी ने अपने श्रावक शिष्यों के ७०० घरों को यह आदेश दे दिया कि रत्नाकर वर्णी को कोई आहार भी न दे। श्री रत्नाकर वर्णी ने अपनी बहन के घर रहकर भोजनादि करते हुये जैन धर्म से ही रुष्ट होकर लिंगायत शैव मत धारण कर लिया और वीरशैवपुराण, बसवपुराण, सोमेश्वर शतक आदि ग्रन्थों की रचना की।

श्री रत्नाकर वर्णी के संबंध में एक ऐतिहासिक या किंवदन्ती रूप आख्यान तो यह एकरूप वाला है और दूसरा इस प्रकार है

कि—रत्नाकर को बचपन में ही संसार भोगों से घृणा हो जाने से वैराग्य हो गया था। विद्वत्ता तो उसमें अपूर्व थी ही-श्रीयोगिराज चारुकीर्ति महाराज से व्रत दीक्षा लेकर योगाभ्यास में आप लग गये। अनेक शिष्य हो गये, जिन्हें आप निरंतर पढ़ाया भी करते थे। योगाभ्यास और विद्वत्ता में आपकी बड़ी भारी ख्याति होगई जिससे २-४ लोगों को ईर्ष्या भी हो गई। इन ईर्ष्यालु लोगों ने रत्नाकरजी को गिराने के लिए उनके सोने के तख्ते के नीचे एक दिन एक वेश्या को लाकर सुला दिया। फलतः रत्नाकर का बड़ा भारी अपमान किया। रत्नाकर को उन दुष्टों के संसर्ग से बड़ी ग्लानि हुई और उस स्थान से वे चल दिये। उनको मनाया भी बहुत गया परन्तु रत्नाकर ने कहा कि मुझे इन दुष्टों के संसर्ग में रहना ही नहीं है। वे दुष्ट भी जैन ही थे। रत्नाकर ने क्रुद्ध हो, जैन धर्म को भी बाह्यरूप से छोड़ दिया। उसी समय वहाँ एक राजा ने एक शैव ग्रन्थ का हाथी पर जुलूस निकाला था परन्तु उस शैव ग्रन्थ को रत्नाकर ने पढ़कर कहा कि इसमें कोई रस नहीं, यह खबर राजा तक भी पहुंच गई और रत्नाकर से बुला कर कहा कि यदि यह ग्रन्थ नीरस है तो तुम कोई सरस ग्रन्थ बना कर सुनाओ। तब रत्नाकर ने भरतेशवैभव की रचना कर राजा को उसे सुनाया। भरतेशवैभव काव्य से राजा तथा सभी बड़े २ विद्वान् अत्यन्त प्रसन्न हुये। रत्नाकर कवि का पूर्ण सत्कार किया और लिंगायत शैव बन जाने को कहा। राजा के आग्रह से शैव लिंग मती होना इस शर्त से स्वीकार किया कि जब मेरा देहान्त हो तो

मेरा दाह संस्कार जैनों से ही कराया जाय। राजाने स्वीकार किया। इस प्रकार रत्नाकर कवि बाहर से तो लिंगायत शैव बने रहे और भीतर से दृढ़ जैन। अन्त में रत्नाकर ने पूर्ण जैनत्व ही भीतर तथा बाहर से भी स्वीकार किया था।

भरतेशवैभवादि काव्यों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि रत्नाकर कवि महान दिग्गज साहित्यवेत्ता विद्वान थे। जैन धर्म की आस्था भी इनकी आत्मा में कूट कूट कर भरी हुई थी। दोनों कथाओं से ही उनके शैव हो जाने में संदेह नहीं है परन्तु वे वास्तव में जैन धर्मानुयायी महान् विद्वान् थे। इस अपराजितेश्वर शतक की रचना से सुस्पष्ट विदित होता है कि रत्नाकर की जिनेन्द्र देवाधि देव में अटूट भक्ति थी। यह शतक भक्तिरस से भरा हुआ है। अन्य भी साहित्य संबंधी सभी ही गुण इस शतक में हैं। कानड़ी साहित्य का रसास्वाद कराने के लिए श्री १०८ श्री आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज ने जयपुर वर्षायोग के समय इस ग्रन्थ का विशद विवेचन के साथ हिंदी में अनुवाद किया है जो धार्मिक साहित्य प्रेमियों के सामने प्रस्तुत है।

श्री रत्नाकर वर्णी की ऐतिहासिक सामग्री भरतेशवैभव में श्री विद्यावाचस्पति पंडित वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री द्वारा प्रकाशित विवरण से ली गई है जिससे उक्त शास्त्रीजी का आभार माने बिना नहीं रहा जा सकता। धार्मिक विद्वज्जन इस रचना से लाभ उठावें।

॥ इति शुभम् ॥

दीपमालिका
विक्रम संवत् २०११

निवेदक—
इन्द्रलाल शास्त्री
जयपुर नगर

आचार्य श्री की ओर से:—

शुभाशीर्वाद

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का पूर्ण भार जयपुर के धर्म प्रेमी सेठ राधाकिशन जी जैन अग्रवाल टकसाली की धर्मपत्नी श्री रामदेई देवी तथा उनके कनिष्ठ पुत्र श्री हरीशचन्द्र जी ने अपना द्रव्य लगा कर उठाया है। ये बड़े सज्जन सुशील तथा भद्र पुरुष हैं। इन्होंने पहले भी अनेकों धार्मिक कार्य करके अपने धन का सदुपयोग किया है। भविष्य में भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयार्थ इनकी ऐसी ही सद्‌भावना तथा सत्प्रवृत्ति बनी रहे।

इस ग्रन्थ के संशोधन का कार्य यहाँ के पं० इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालङ्कार ने अस्वस्थ होते हुये भी बड़े परिश्रम के साथ निःस्वार्थ भाव से संपन्न किया है। ये बड़े विद्वान् धर्मात्मा हैं तथा देवगुरु शास्त्र के प्रति इनकी पूर्ण श्रद्धा सदा बनी रहती है और कई वर्षों से अस्वस्थ होते हुये भी जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिये अहर्निश जैनशास्त्रों का अवलोकन करते हुये अपना अमूल्य समय धर्म ध्यान में व्यतीत करते रहते हैं।

ग्रन्थ के संपादन कार्य में यहाँ के पं० कन्हैया लाल जी गोधाने भी सहयोग दिया है। ये विद्वान् धर्मात्मा तथा जैन शास्त्र से रुचि रखने वाले भद्र परिणामी सज्जन पुरुष हैं। इसके इँग्लिश अनुवाद में श्रीज्ञानचन्दजी जैन M. A. बिल्टी वाले तथा श्री महेन्द्रकुमारजी

जैन रांवका B. A, LL. B. साहित्यरत्न ने पूर्ण सहायता दी है। ये दोनों ही बड़े सज्जन तथा सुशील पुरुष हैं। जैन शास्त्र तथा देव गुरु में इनकी भक्ति निरन्तर बनी रहती है।

इस वर्षायोग में उपर्युक्त धर्मात्माओं तथा यहाँ की जैन समाज ने बड़ी भक्ति के साथ सेवा की है तथा शास्त्रोपदेश श्रवण करके विशेष धर्मलाभ उठाया है। इसी प्रकार सभी लोग सदा धर्मध्यान में रत रहकर आत्म कल्याण करने का सतत प्रयत्न करते रहें और उत्तरोत्तर धर्मकी वृद्धि होती रहे—यही हमारा सब को शुभाशीर्वाद है।

ओं वीतरागाय नमः

रत्नाकरकविविरचितः—

अपराजितेश्वर शतक

(कानड़ी भाषा)

का

[श्री १०८ आचार्य देशभूषण मुनि महाराज के द्वारा]

हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन

श्रीकुलमाप्तगोत्रममलांगमतंद्रते सम्यगायुवि-
  द्याकुशलत्वमादोडमिदेन्नदिदिन्यमेनुत्ते कंडु नि-
र्व्याकुलनागियेल्लरिनगल्दु मणित्रय संपदक्के र-
  त्नाकर नादपं तव कृपात्मनला अपराजितेश्वरा ! ॥१

अर्थः—हे अपराजितेश्वर ! उत्तम वंश, श्रेष्ठ गोत्र, निरोग शरीर, दीर्घायु, उत्तम जाति, कुल, विद्या, बुद्धि, चतुरता आदि प्राप्त होने पर "यह मेरा है, वह तेरा है" इस प्रकार कहते हुए भी जो उसमें रत नहीं होता है, भोगादि पर वस्तुओं से अलग तथा आकुलता से रहित होकर, स्वपर का जिसने अच्छी तरह ज्ञान कर लिया

है एवं जो रत्नत्रयरूपी सम्पत्ति के समुद्र के समान हैं वह भद्र-परिणामी, भव्यज्ञानी जीव आपकी दया का पात्र नहीं होगा क्या ? अवश्य होगा ॥ १ ॥

' O, Aprajiteshwar ! (God of the unconquered) having been of worthy clan, high order & good caste and secured long life, knowledge, wisdom & skill;

" This is mine, that is thine" even uttering as such; one who does not attach himself with all this, remains diverged from the objects of wordly enjoyments and is free from anxieties, who is alike the ocean of three Jewels ("Ratnatraya") will that pious observer soul not win your kindness ?

ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक के अन्त में 'अपराजितेश्वर' पद को लगाया है । इसका कारण यह है कि पूर्व विदेह क्षेत्र के बीसवें अजितवीर्य तीर्थंकर का उनको इष्ट विशेष था । इसीलिये अपने इष्ट को वार २ स्मरण करते हुए उनके प्रति अपने भाव इन श्लोकों में निवेदन किये हैं । अजितवीर्य को ही यहाँ अपराजितेश्वर कहा है । अजित का अर्थ है कि संसारमें जो सबसे अजेय है, कारण कि संसार में सबको जीतने वाला प्रचंड मोह है जिसके संसारी जीव सब अधीन हैं । परन्तु इन भगवान ने सर्व जगतके विजयी मोह को जीत लिया, इसलिये उनका 'अजित' यह नाम गुण रूपसे सार्थक हो गया । जैसा कि कहा है:—

अजितो जितकामारिरमितोऽजितशासनः ।
जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः ।

अर्थ—जिसने त्रिलोक विजयी कामशत्रु को जीता है, जो अमित है अर्थात् जो अपने स्वाभाविक गुणों से अमित है, जिन गुणों की कोई गणना नहीं कर सकता, अतएव उसका शासन संसार में अजित है, तथा जिसने क्रोध को जीता है, तथा संसार में जिसने सर्वशत्रु को जीत लिया है, सर्वक्लेश का जिसने नाश किया है व अंतक जो यमराज है उसको भी जिसने जीत लिया है ऐसा भगवान अजित है। वह ईश्वर है यानी अरहन्त पद का धारी है, अर्हतके नीचे लिखे गुण, सब जिसमें अपनी सत्ता से सदाकाल विद्यमान हैं। अर्हत भगवान्के प्रधान गुण नीचे लिखे जाते हैं।

णिद्दड्ढमोहतरुणो वित्थिण्णाणाण-सायरुत्तिण्णा।
णिहयणियविग्घवग्गा बहुबाहविणिग्गया अयला ॥१॥
दलियमयणप्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि।
दिट्ठसयलट्ठ-सारा सुदड्ढ-तिउरा मुनिव्वइणो ॥२॥
ति-रयणतिसूलधारिय मोहंधासुरकबंधविंदहरा।
सिद्धसयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णयकयंता ॥३॥

अर्थ-जिन्होंने मोहरूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्र से उत्तीर्ण होगये हैं, जिन्होने अपने विघ्नों के

समूह को नष्ट कर दिया, जो अनेक प्रकार की बाधाओं से रहित हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रताप को दलित कर दिया है, जिन्होंने तीनों कालों का विषय करने रूप तीन नेत्रों से सकल पदार्थ के सार को देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग, द्वेष इन तीनों को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् दिगम्बर अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन शक्ति रूपी त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अंधकासुर के कबंध वृन्द का हरण करलिया है, जिन्होंने आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नय का अन्त कर दिया है। ऐसे अरहंत परमेष्ठी 'अजित' हैं। तथा :—

जितमदहर्षद्वेषाः मोहपरिषहाः जितकषायाः।
जितजन्ममरणरोगा जितमात्सर्या जयन्तु जिनाः।

जिस प्रभुने मद, हर्ष, द्वेष को जीता है, जिसने मोह परिषह को तथा कषायों को जीता है, जिस भगवान ने जन्म मरण रोग को जीता है तथा जिसने मात्सर्य दोष को जीत लिया है, इसही कारण से 'जिन' इस नाम को प्राप्त किया है, वे जिन सदा जयवन्त हों। इस प्रकार अजित भगवान अर्हन्त, जिन इत्यादि नामों से युक्त हैं। ये अजित भगवान हैं, इनने संसार के सम्पूर्ण प्राणियों को सच्चा मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया है जिसको

ग्रहण कर अनेक भव्य जीव संसार समुद्र के पार हुए हैं। कहा भी है प्रवचनसारे यथा:—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोपदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

भगवान तीर्थंकर देवने पहिले अरहंत का स्वरूप द्रव्य गुण पर्याय से जाना पीछे उसी प्रकार अपने स्वरूपका अनुभव करके समस्त कर्मों का नाश किया और उसी प्रकार भव्य जीवों को उपदेश दिया कि यही मोक्ष मार्ग है अन्य नहीं है, तथा आज पंचमकाल में भी वही उपदेश चला आता है। इसलिये भगवान वीतराग देव बड़े ही उपकारी हैं। उनको तीनों काल नमस्कार होवे। यहां भगवान को परम हितोपदेशी कहकर नमस्कार किया है लेकिन इसमें सर्व कर्मादिकों को (घातिया कर्मों को) जिनने नाश किया है, उनको परम हितोपदेशी कहा है। इससे यह बताया है कि ईश्वर, (भगवान) वही है जिसने घातिकर्मादि नष्टकर अर्हन्त पद प्राप्त किया है और जो घाति कर्मादिका नाशक है वह ही सच्चा हितोपदेशी भी है। यहां कोई यह कह सकते हैं कि काम क्रोधादि रहित को ही हम ईश्वर कहते हैं और आप भी वैसाही कहते हैं इसलिये यह कहना कि अर्हन्त देव ही सच्चा परमात्मा देव है और अन्य नहीं है, यह अयुक्त है। इसके लिये ऐसा जानना कि जितने भी संसार में आगम प्रचलित

हैं उनके सबके वचन में विरोध है, कोई कहता है ब्रह्म अद्वैत है, कोई विज्ञानाद्वैत को कहता है, कोई आत्मा को ज्ञान रहित कहते हैं, कोई भक्ति से मोक्ष कहते हैं, कोई कर्म से मोक्ष कहते हैं कोई मोक्ष में जीव के ज्ञानादि गुणों का अभाव कहता है, कोई पदार्थ को नित्य कहता है। कोई क्षणिक बताता है इत्यादि अनेक धर्मों के अनेक प्रकार के वचन है, इन परस्पर विरोधी वचनों के सामने आने पर यह आवश्यक होजाता है कि सच्चादेव कौन है कि जिसका प्रतिपादित धर्म ग्रहण कियाजावे तो, इस बारे में श्री स्वामि समन्तभद्राचार्य ने आप्त—मीमांसा में इस प्रकार कहा है कि:—

> तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।
> सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥

अर्थात्—सब ही अपने देव को आप्त कहते हैं और उसके वचन को सत्यधर्म कहते हैं। परन्तु उनके सबके वचन परस्पर विरोध लिये हुए हैं इसलिए सबही आप्त नहीं हैं, किन्तु इनमें कोई एक ही आप्त तथा सच्चा गुरु है तो वह तो कौन है! इसी श्लोक के अन्तिम पद में उनने बताया है कि 'चिद्देव' परम अनन्त ज्ञान रूपी चैतन्य ही सच्चा आप्त है।

सांख्य, मीमांसक व वेदांतवादियों आदि के द्वारा देव का स्वरूप अलग २ वर्णित किया है। उन वर्णित स्वरूपों के द्वारा

दोनों में विरोधात्मक बातें पाई जाती हैं। इस दूषण को दूर करने के लिए, अथवा यह दूषण से दूर है इस बात का द्योतन करने के लिए यहां इस 'अपराजितेश्वर' शब्द का प्रयोग किया है।

जैनाचार्य ने देवाधिदेव महादेव को इस प्रकार नमस्कार किया है :—

'त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम् ।
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलिः ॥
रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभादयो ।
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वंद्यते ॥'

जैसे मनुष्य के अपने हाथ की रेखाओं के स्पष्ट जानने में किसी प्रकार का विवाद या तर्क का अवसर नहीं रहता है, उसी प्रकार जिसने अपने केवलज्ञान रूपी आत्म-ज्योति से त्रिकालवर्ती भूत, भविष्यत्, वर्तमान सम्बन्धी समस्त सूक्ष्मादि पदार्थों को बिलकुल स्पष्ट रूप से जान लिया है और राग, द्वेष भय व्याधि आदि अंतरंग व बहिरंग शत्रु लोभ, कषाय, तथा जन्म जरा मरण, शोक इत्यादि से रहित जिसका संसार में आकर राग द्वेष का सद्भाव तथा लेन देन बाकी नहीं रह गया है और जिसने सम्पूर्ण आत्मा का घात करने वाले व कलंकित करने वाले कर्म-शत्रु को जीत लिया है वह वादीपति, वादियों द्वारा पराजित न

होने के कारण 'अपराजित' ऐसे नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ईश्वर तभी होते हैं जब उनको संसार में इष्ट अनिष्ट किसी वस्तुका संबंध नहीं रहता और संपूर्ण कर्म को नष्ट करने के तीन लोकके अखंड शाश्वत सुखको देनेवाली मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति बनजाते हैं, फिर उनको संसार के क्षणिक वस्तु की इच्छा या मांगने की क्या जरूरत है? कहा भी है कि—

ईशः किं छिन्नलिंगो यदि विगतभयः शूलपाणिःकथं स्यात्।
नाथः किं भैक्ष्यचारी यतिरिति स कथं सांगनःसात्मजश्च॥
आर्द्रोजः किंत्वजन्मा सकल विदिति किं वेत्ति नात्मान्तरायं।
संक्षेपात्सम्यगुक्तं पशुपतिमपशुः कोऽत्र धीमानुपास्ते॥

ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहा जाता है। सर्वशक्तिमान का भी यदि कोई अंग काट डाले तो सर्वशक्तिमान में संदेह हो सकना स्वाभाविक है। भगवान होने पर भी कोई शस्त्र रखता है! निर्भय क्यों रक्खे? शस्त्र भी हाथ में रक्खे और निर्भय भी कहलावे, यह बात गले नहीं उतरती। जो सबका मालिकहो वह भीख क्यों मांगे? मालिक भी यदि भिक्षुक बन जाय तो उसकी मालकियत में संदेह हो जाना स्वाभाविक है। यति साधु तो वेही हो सकते हैं जो स्त्री पुत्र छोड़ चुके हों, उन्हें साथ भी रखना और यति भी कहलाना समझ में नहीं आता। अजन्मा तो उसे ही कहा जाता है, जिसका कभी जन्म न हुआ हो, परन्तु अजन्मा भी कहना और

किसी से पैदा हुआ ऐसा भी कहना समझ में नहीं आता। जो सर्वज्ञ हो और अपने कार्य में आने वाले विघ्न को न जाने तो कैसी सर्वज्ञता ? विवेकी स्वयं सोचें।

सच्चे ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार है'—

रागद्वेषमहामल्लो दुर्जयो येन निर्जितो।
महादेवं ततो मन्ये शेषाश्च नामधारकाः ॥
नमस्तुते महादेवो सर्वदोषविवर्जितो।
महालोभविनिर्मुक्तः महागुणसमन्वितः ॥

दुर्जय रागद्वेष रूपी महामल्लों को जिसने परास्त कर दिया है वही महादेव है, दूसरा नहीं। अन्य तो केवल नाम मात्र के ही हैं। सच्चे महादेव कषाय और दोषों से रहित होकर विशिष्ट सद्गुणी हुआ करते हैं और वे ही देव महादेव देवाधिदेव अरहंत देव नमस्कार करने योग्य हैं। यही महादेव संसारी भव्य अज्ञानी जीवों को सच्चा मार्ग बतलाने वाला होता है। इसलिये सभी संसारी अज्ञानी प्राणी इन भगवान् के पास अपने सच्चे मार्ग की खोज में दौड़े हुए आते हैं। महादेव बनने का भी यही मार्ग है क्योंकि यह ही सच्चा आत्मा का स्वरूप है। ज्ञानी जीव इस प्रकार भेद-विज्ञान से ही परमात्मा पद की प्राप्ति करते हैं। तत्त्व भावनाका भी फल आचार्यों ने इसी प्रकार बताया है जैसा कि आचार्य श्री पद्मनन्दजी ने कहा है:—

दुःखव्यालसमाकुलं　भववनं　जाड्यांधकाराश्रितं ।
　तस्मिन् दुर्गति पल्लिपाति कुपथे भ्राम्यन्ति सर्वांगिन ॥
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलज्ञानप्रभाभासुरं ।
　प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखप्रदं याति प्रबुद्धो ध्रुवं ॥

यह संसार रूपी वन दुख रूपी अजगरों से भरा हुवा है। यहां अज्ञान रूपी अन्धकार फैला हुवा है। इस वनमें दुर्गति रूपी भिल्लों को तरफ ले जाने वाला खोटा मार्ग है। ऐसे वन में सर्व संसारी प्राणी भटका करते हैं। परन्तु चतुर मनुष्य इसी वन में निर्मल गुरु के वचन रूपी दीपक को जो निर्मल ज्ञान के प्रकाश से चमक रहा है, पाकर के सच्चे मार्ग को इसी दीपक से ढूंढ कर अविनाशी अनन्त सुखके पद को प्राप्त कर लेता है। इसलिये गुरु वचन (दीपक) जब तक प्राणी को नहीं मिलता है अज्ञान रूपी अंधकार में अनिष्ट असत्य मार्ग को अपना कर निरन्तरकाल भव के दुःखों से आकुलित व व्यथित रहता है।

संसार में दुःख का कारण अज्ञान है। अज्ञान से यह जीव क्या २ खोटे व असत्य विचार बनाता है, उसके लिये अन्य शास्त्र-कार कहते हैं:—

कान्तेयं तनुभूरयं सुहृदयं मातेयमेषा स्वसा ।
　जामेयं रिपुरेष पत्तनमिदं सद्मेदमेतद्धनम् ॥

एष यावदुदेति बुद्धिरधमा संसारसंवर्द्धिनी।
तावद्गच्छति निर्वृतिं बत कुतो दुःखद्रुमोच्छेदिनीम्॥
(तत्त्वभावना ॥ १० ॥)

अर्थ इसका यह है कि जब तक यह जीव-संसार बढ़ाने वाली-यह स्त्री है, यह शरीर है, यह मेरा मित्र है, यह माता है, यह बहिन है, यह लड़की है, यह मेरा शत्रु है, यह नगर है, यह घर है, यह बाग, इस तरह की मेरा मेरा करनें वाली नीच बुद्धिको धारें रहता है तब तक दुःखरूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकने वाली निर्वृत्ति इस जीव को प्राप्त नहीं होती। यह बड़े दुःख की चीज है। जो इस पूर्वोक्त दुर्बुद्धि को छोड़ देते हैं वे बहुत भोगोपभोग सामग्री में भी अरुचि प्राप्त करते हुए नीचे लिखी भावना भाते हैं। यथाः—

जीवाजीवविचित्रवस्तुविविधाकारार्द्धिरूपादयो।
रागद्वेषकृतोऽत्रमोहवशतो दृष्टाः श्रुताः सेविताः॥
जातास्ते दृढ़बंधनं चिरमतो दुःखं तवात्मन्निदं।
जानात्येव तथापि किं बहिरसावद्यापि धीर्धावति॥
(पद्मनंदि० ॥ १४७ ॥)

अरे जीव ! इस संसार में चेतन अचेतन स्वरूप नाना प्रकार के पदार्थ आहार संपत्ति तथा रूप रस आदि सर्व मोह के वश से ही देखे, सुने तथा सेवन किये गये हैं, इसी कारण मोह से चिरकाल

पर्यन्त सर्व पदार्थ तेरे से दृढ़ बंधे हुए हैं और इस दृढ़ बंधन से ही तुझे नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़े हैं। ऐसा भली-भांति जानते हुए भी तेरी बुद्धि बाह्य पदार्थों में दौड़ती है- यह बड़े आश्चर्य की बात है। और भी कहा है। यथा—

किं लोकेन किमाश्रयेण किमर्थद्रव्येण कायेन किं।
किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किं ते विकल्पैः परैः।
सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे त्वत्तः प्रमत्तो भवन्।
आत्मन्नेभिरभिश्रयिष्यतितरा मालेन किं बन्धनम्॥
(पद्मनंदि० ॥ १४६ ॥)

अरे जीवात्मन्! न तो तुझे लोक से प्रयोजन है, न लोक के आश्रय से प्रयोजन है, न द्रव्य से प्रयोजन है, न वाणी से प्रयोजन है, न स्पर्शादि इंद्रियों से प्रयोजन है तथा न तुझे खोटे विकल्पों से प्रयोजन है, क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। तू चैतन्य स्वरुप है इसलिये ये तेरे स्वरूप से सर्वथा अलग ही हैं। अतः इन वस्तुओं में प्रमाद करता हुआ तू क्यों वृथा दृढ़ बंधन को बांधता है। लोकादि से ममता करने पर तू बंधेगा ही, इससे कभी नहीं छूट सकता।

हे जीवात्मन्! तूने अनादिकाल से इस संसार सम्बन्धी भोग सामग्री की किस २ चीजका परिचय नहीं किया। कहा भी है कि—

तीन हि लोक अहार कियो सब,
नेक समुद्र पियो पुनि पानी।
और जहाँ तहाँ ताकत डोलत,
काढत आँख डरावत प्राणी॥
दाँत दिखावत, जीभ हिलावत;
या हितमें यह डाकिनि जानी।
सुन्दर खात भये कितने दिन,
हे तृष्णा अजहूं न अघानी॥

इसलिये हे जीव तू अपनी मलीन आत्मा को निर्मल करने के लिए हमेशा उद्यम करने की भावना कर। और भी कहा है कि:—

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयानन्तशः॥
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तप्रदाम्।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं तां देव! पूर्णां कुरु॥

भावार्थ—हे देव! मैंने इस संसार में चिरकाल से भ्रमण करते हुए इन्द्रपना तथा निगोदपना प्राप्त किया, बहुत प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी रत्नत्रय की पदवी उपलब्ध की, कोई वस्तु मेरे लिये अपूर्व नहीं रही। अब मैं अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मानुभव के सिवाय और किसी वस्तु को नहीं चाहता हूँ; क्यों-

कि इसी से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस कारण आप इसकी पूर्ति कीजिये।

मेरा आत्मा अनादिकाल से अत्यन्त भयानक कर्मरूपी गर्त में पड़ कर तीव्र वेदना को भोग रहा हूँ। जैसा कि कहा है—

कर्माब्धौ तद्विचित्रोदयलहरिभरव्याकुले व्यापदुग्र-
भ्राम्यन्नक्रादिकीर्णे मृतिजननलसद्वाड़वावर्तगर्ते ॥
मुक्तः शक्त्या हतांगः प्रतिगति स पुमान् मज्जनोन्मज्जनाभ्या-
मप्राप्यज्ञानपोतं तदनुगतिजड़ः पारगामी कथं स्यात् ॥
(पद्मनंदि० ॥ १३१ ॥)

यह कर्म एक प्रकार का बड़ा भारी समुद्र है। क्योंकि जिस प्रकार समुद्र अनेक लहरियों से व्याप्त रहता है उसी प्रकार यह कर्म रूपी-समुद्र भी अनेक उदयरूप लहरियों से सर्वदा व्याप्त रहता है। जिस प्रकार समुद्र में नाना प्रकार के भयंकर मगर मच्छादि हुआ करते हैं उसी प्रकार इस कर्म रूपी समुद्र में भी इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग इत्यादि नाना प्रकार की आपत्ति रूप मगरमच्छादि विद्यमान हैं। तथा जिस प्रकार समुद्र में वड़वानल भँवर गड्ढे हुआ करते हैं उसी प्रकार इस कर्म रूपी समुद्र में भी नाना प्रकार के जन्म मरणादि वडवानल भँवर हैं। इसलिये ऐसे भयंकर समुद्र में शक्तिहीन तथा अनादि काल से सर्वत्र गोता खाता आया हुआ यह जीवात्मा जब तक ज्ञानरूपी अनु

कूल जहाज को नहीं प्राप्त करेगा तब तक कदापि पार नहीं हो सकता। हे मन! तूने चिरकाल से बाह्य स्त्री आदि पर पदार्थों को देखा है, तभी तेरा मन भ्रमसे अनुरागी बना हुआ है तथा उसी अनुराग से सदा तू दुखी होता है। इसलिये स्त्री आदिक से राग छोड़कर तू अंतरंग में प्रवेश कर और ज्ञानके सागर श्री परमगुरू से ऐसा कोई उपदेश श्रवण कर कि जिससे तेरे समस्त कर्म तथा दुःखों का नाश होकर तुझे अविनाशी मोक्षरूपी सुख की प्राप्ति हो जाय।

हे आत्मन्! इस गहन भयंकर मिथ्यारूपी अंधेरे से भरे हुई संसार में तूने ऐसी कौनसी वस्तु देखी है कि उसे छोड़कर अपने निज आत्मा की ओर देखना नहीं चाहता? क्या भगवान आदि प्रभु का संसारसुख कम था? कहाँ तीर्थंकर पद! कहाँ चक्रवर्ति पद! क्या किसी वस्तु की न्यूनता थी? नहीं। परंतु इन सारी वस्तुओं को क्षणिक व दुःखदायी जानकर तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने सर्वदा के लिये छोड़कर शास्वत परमपद प्राप्त करके सुखी बन गये।

इस मोह रूपी तृष्णा के पीछे भरत व बाहुबली जैसे महापुरुषों को भी एक तुच्छ राज्य के लिये परस्पर में युद्ध करना पड़ा। अंतमें उस समय बाहुबली ने क्षणिक राज्य के लिये अपने पूज्य बड़े भाई भरतजी को युद्ध में परास्त किया। क्या तू इस

मोह राजा या तृष्णा के महत्व को नहीं जानता ? इसी के पीछे ही तू अनंतकाल तक जन्म और मरण के अधीन होता हुआ बहुत कष्ट उठाता रहा। इसलिये हे आत्मन् ! तुम अपने अंदर विचार करो और बाह्य इंद्रियादि पर वस्तुओं से भिन्न होकर केवल अपने भीतर अनादिकाल से छिपे हुए सम्यग्दर्शन ज्ञानरूपी निधि का निरन्नण करो ! तभी तू अरहंत जिनेद्र देव से प्रतिपादित सच्चे आत्मधर्म का पात्र वन सकोगे। तत्पश्चात् जन्म मरण से रहित होगा, अन्यथा नहीं ॥१४॥

जन्म मरण के नाश करने में सच्चे तत्त्व के श्रद्धान की आवश्यकता है। यह अगले श्लोक में वतलाते हैं।

नंबुवुदेळु तत्त्वमनदुत्तमदृष्टितदर्थमं नया-
थं वरे नोडि भेदिपुदत्तमबोधमहिंसे यक्किऊमा-
र्गं विडदिपुंदुत्तमचरित्रमिचिन्तु मणित्रययं तदी-
यांबुधि यावुदुत्तमतपंगळला अपराजितेश्वरा ! ॥२॥

हे अपराजितेश्वर ! जीव, अजीव, आस्रव, वंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन सात तत्त्वों पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है। इन सात तत्त्वों के अर्थ को अपने मनमें ठीक तरह से समझ लेना सम्यग्ज्ञान है। अहिंसा धर्ममें या जिनवाणी में वाधा न आवे, इस तरह आचरण करना यह सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार ये तीन रत्नत्रय हैं। इन तीनों रत्नत्रयों क:

प्राप्ति किस समुद्र से है? यह अमोल रत्नत्रय का स्थान श्रेष्ठ तप ही एक समुद्र है ॥२॥

O' Ajiteshwar ! There are Seven elements (Tattavas) 1. Jiva (soul) 2. Ajiva (Non-Jiva or inanimate) 3. Ashrava (Inflow-Pouring of karmic matter into the soul) 4. Bandha (Bondage of Jiva by karmic matter) 5. Samvara (Stopage, of inflow of karmic Matter in to the soul) 6. Nirjara (Shedding the elemination of karmic matter) 7. Moksha (Liberation of soul from matter). To have faith on these seven elements is called right faith (Samyak–Darshan), to know about them is called right knowledge (Samyak–Gyan) and to act according to the teachings of 'Shastras' (Jinvani), so as not to cause any obstacle in the way of 'Non–Voilence' is called Right Conduct (Samyak–Charitra). There constitute three Jewels i. e. Ratnatraya which is the occean containing three Jewels Is it not the occean of hard austerities.

विवेचनाः—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सातों

पर श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन है तथा उन सातों तत्त्वों को ठीक तरह से अलग २ ज्ञान कर लेना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। अहिंसा धर्म में या जिनवाणी में वाधा न आवे इस तरह आचरण करना सम्यक्चारित्र है। इन तीनों रत्नत्रय के उत्पत्ति का स्थान कौनसा है? तो उनकी उत्पत्ति का स्थान श्रेष्ठ तप है-इस तरह भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण:—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ में अलग अलग धर्म रहता है। उसी धर्म से उस पदका निश्चय किया जाता है। उस धर्मको तत्त्व कहते हैं। अर्थ शब्द का अर्थ निश्चय करना है। जिस पदार्थ का निश्चय उसमें रहने वाले धर्म से कर लिया है उस पदार्थ का स्वरूप कभी विपरीत नहीं हो सकता, ऐसे यथार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह जो सम्यग्दर्शन का लक्षण वतलाया गया है वही प्रमाण है और यही श्रुतकेवलियों ने माना है। जीव, अजीव, आश्रव, वंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहलाते हैं। इनका जो स्वरूप है वही पदार्थ कहलाता है तथा निश्चयनय से उन पदार्थों की अनुभूति होना श्रद्धान कहलाता है। वह यथार्थ पदार्थों का श्रद्धान व अनुभूति या सम्यग्दर्शन सामान्य रीति से एक प्रकार का है। विशेष विधि से वही दो प्रकार का है। उसके उत्पन्न होने के कारण जोकि पर पदार्थों के उपचारोंकी अपेक्षा रखते हैं यह दो प्रकार का है।

इन कारणों के दो भेद होने से सम्यग्दर्शन के भी दो भेद हो जाते हैं। उसके दोभेद निश्चय और व्यवहार से होते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन भी निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। उसमें निश्चय सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है। निश्चय सम्यग्दर्शन में भेद-प्रभेद नहीं है। जो बिना किसी उपाधि के, बिना किसी उपचार के शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होता है वही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। उस निश्चय सम्यग्दर्शन में कोई उपाधि या उपचार नहीं है। इसलिये वह सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है। जैसे कहा है कि—

दर्शनमात्मविनिश्चितरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः॥

अर्थात्—शुद्ध आत्मा का निश्चय हो जाना, अनुभव हो जाना निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्ध आत्मा का ज्ञान हो जाना निश्चय सम्यग्ज्ञान है, और शुद्ध आत्मा में लीन हो जाना निश्चय सम्यक्-चारित्र है। इसलिए इन निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से कभी बंध नहीं होता।

जीव, अजीव आदि सप्त तत्त्वोंका नाश न होने वाला, मलिन रहित, निश्चल, गाढ़ श्रद्धान करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें जीव तत्त्व ही एक मुख्य तत्त्व है शेष आस्रव, बंध, संवर,

निर्जरा और मोक्ष आदि सब उसी के परिकर हैं। इसलिये आत्म-तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान करना ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। यही व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यथा—

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपदो॥

अर्थात्—जीवादिक सातों पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उन्हीं जीवादिक सप्त पदार्थों का जानना सम्यग्ज्ञान है और राग-द्वेष को दूर करना सम्यक्चारित्र है। यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं। अथवा व्यवहार के लिए स्थूल सम्यग्दर्शन का लक्षण आप्त, आप्त का कहा हुआ एवं आगम दयामयी धर्म इन तीनों का सब प्रकार के दोषों से रहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यथा—

नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मो नास्ति दयापरः।
तपः परं च नैर्ग्रंथ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम्॥

भगवान अरहन्त देव के समान अन्य कोई देव नहीं है, दया के समान अन्य कोई धर्म नहीं है और निर्ग्रन्थ अवस्था के समान और कोई उत्कृष्ट तप नहीं है। अर्थात् तप करने वाले गुरु निर्ग्रंथ ही होते हैं यह मानना सम्यग्दर्शन है। और यही सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यह सम्यग्दर्शन जिस प्रकार अपने लक्षण से निश्चय

और व्यवहार रूपसे दो प्रकार का है उसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के कारणों के भेद से भी दो प्रकार का है। उसके उत्पन्न होने के दो कारण हैं, एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। जो निसर्ग से उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो अधिगम से उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। जो सम्यग्दर्शन स्वयं उत्पन्न होता है, जो विना किसी उपदेश के उत्पन्न होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। और जो वहिरंग उपदेशादि उपायोंसे उत्पन्न होता है, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह अर्थ केवल शब्दमात्र से वतलाया है। जो भेद व जो अर्थ उन शब्दोंसे निकलता है, वह वतलाया है। वास्तव में उन दोनों में क्या भेद है तथा निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? यह आगे वतलाते हैं। सम्यग्दर्शन रूप आत्माके गुण का घात करने वाला एक मिथ्यात्व कर्म है। वह मिथ्यात्व कर्म अनादिकाल से एक ही प्रकार का चला आया है। जब इस जीव को मिथ्यात्व कर्मके उपशम होने से प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब वही एक प्रकार का मिथ्यात्व कर्म पृथक्-पृथक् द्रव्यरूप तीन प्रकार का हो जाता है। (१) अधःकरण (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण, ये तीन करण प्रसिद्ध हैं। इन तीनों करणों में प्रत्येक का समय अन्तर्मुहूर्त्त है। यह जीव जिस अन्तर्मुहूर्त्त में इन करणों को करता है उसी अन्तर्मुहूर्त्त में उस मिथ्यात्व कर्म के तीन भेद कर डालता है। ये

भेद किसी दूसरे समय में नहीं होते हैं, करणत्रय करने समय ही होते हैं। सम्यक्त्व उत्पन्न होने में पंच लब्धि कारण हैं। पंचलब्धियों में से चारलब्धि तो भव्याभव्य दोनों ही को होती है परन्तु पंचम करण लब्धि भव्य को ही होती है। इस करणलब्धि के बिना जीव अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण कर रहा है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि यह जीव इस संसार के दुःखों से छुटकारा चाहता है तो आगम के अनुकूल अर्हत् परमेष्ठी के स्वरूप को समझकर—आप्त सच्चा अर्हंतदेव ही है, उनकी वाणी ही सच्चा शास्त्र है तथा अर्हत् प्रणीत मार्ग को अपनाने वाला निर्ग्रंथ गुरू ही गुरु है, ऐसा—देव, गुरु, शास्त्र का पूर्ण अटल अचल श्रद्धान प्राप्त करता है। इस श्रद्धान के नहीं होने के कारण ही जैन नाम कहलाने वाले भी इधर उधर अन्य देवों को पूजते व मानते फिरते हैं तथा धर्म धर्म सब एक हैं ऐसा विपरीत समझकर अन्य के उप-देशों को सुनने के लिए दौड़ते हैं तथा अन्य के बनाये हुए शास्त्रों तथा पुस्तकों को पढ़ते हैं तथा अन्य धर्मानुयायियों की संगति में रात्रि भोजन करना, अनछना जल पीना, अभक्ष्य पदार्थों का खाना सीख कर जिन धर्म के उपदेशों को त्याग कर देते हैं और अपनी आत्मा का बिगाड़ कर लेते हैं। इसी कारण से-जिन धर्म का दिन प्रति दिन ह्रास होने का कारण होता जा रहा है और जैन समाज का धार्मिक पतन के साथ २ सर्व प्रकार से पतन होता जाता है। समाज के लड़के आज जिनधर्म को प्रायः खो चुके हैं और खोते

जाते हैं। बड़े बड़े मदरसों की शिक्षा की डिगरियों से जैन समाज का तथा जैन धर्म का अस्तित्व संसार से उठता जा रहा है। जैन समाज केजीवों का संरक्षण इस लोक में तथा परलोक में केवल देव, गुरू, धर्म का श्रद्धान श्रेष्ठ आचरण से ही' हो सकता है। इसलिये देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान व शुद्ध आचरण प्राप्त करने में प्रत्येक जीव को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसीसे जीव का कल्याण हो सकता है। श्री पद्मनंदि आचार्य कहते हैं कि:—

यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि।
सन्दिह्य तत्त्वमसमंजसमात्मबुद्ध्या॥
खे पात्रिणां विचरतां सुदृशोऽक्षितानां॥
संख्यां प्रति प्रविद्धाति विवादमंधः।

मूढ प्राणी सर्वज्ञ के वचन में भी संदेह करके अपनी बुद्धि की गढ़न्त से अपरमार्थ भूततत्त्वों की कल्पना करता है जैसे कि अंध मनुष्य आकाश में जाते हुए पक्षियों की गणना में अच्छे नेत्र वाले पुरुष के साथ विवाद करता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव भगवान के वचन को ठीक न समझनेके कारण उसका उपयोग करने या अर्थ निकालने में मनमानी बुद्धि लगा कर अंतमें खोटे मार्ग में जाकर गिर जाता है। और भी कहा है—

उक्तं जिनैः द्वादशभेदमङ्गं श्रुतं ततो बाह्यमनंतभेदम्।
तस्मिन्नुपादेयतया चिदात्मा ततः परं हेयतयाऽभ्यधायि।

श्रुतके दो भेद हैं—एक अंग प्रविष्ट तथा दूसरा बाह्य प्रविष्ट। उसमें अंग श्रुत बारह प्रकार का जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। बाह्य श्रुत के अनन्त भेद कहे गये हैं, परन्तु उन दोनों श्रुतों में ज्ञान दर्शनशाली आत्मा को ही ग्राह्य कहा है और अन्य समस्त पदार्थों को मोक्षाभिलाषी जीव के लिए हेय बताया है।

इस पंचम काल में ज्ञान आयु बल वीर्य आदि के निरंतर घटते जाने से मनुष्य अल्पायु तथा अल्पज्ञानी रह गये हैं, इसलिये वे समस्त श्रुत का अभ्यास नहीं कर सकते। अतः जो पुरुष मोक्ष अर्थ के अभिलाषी हैं, उनको मुक्ति के देने वाले तथा आत्मा के हितकारी श्रुतका तो अवश्य ही बड़े प्रयत्न के साथ आगमानुकूल स्वाध्याय करना चाहिये तथा श्रुत का जो अर्थ समझ में न आवे उसको जिनागम के श्रद्धानी पंडित बहुज्ञानी के पास जाकर समझ लेना चाहिये।

इस पंचमकाल के मनुष्य शास्त्र बोध विहीन तथा श्रद्धा हीन होने के कारण श्रुत के अभ्यास से ही दूर रहते हैं और आठ मूलगुण को भी नहीं धारण करते कि जिससे श्रावक कहलाने योग्य भी नहीं होते। काल दोष से आज २५ मल दोष रहित सम्यग्दर्शन धारक श्रावक कहीं दृष्टिगत ही नहीं होते। यहाँ पच्चीस दोषों में सबसे पहिला दोष शंका है। जब चित्त में शंका बसती है तो निःशंकित गुण की प्राप्ति नहीं होती और इस प्रथम गुण की प्राप्ति

के विना अन्य सम्यक्त्व के बाकी ६ गुणों की भी प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन की मूलजड़ चित्त में शंका न रखना व जिन वचन को सत्य मानना ही है। श्री समंतभद्राचार्यजी ने कहा है कि:—

श्रद्धानं परमार्थानां आप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

अर्थ—अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु, व अरहंत का वचन (जिनागम) इन तीनों का तीनमूढता रहित, आठअंग सहित श्रद्धान करना अर्थात् इन तीनों को ही सच्चा देव, सच्चा गुरू, सच्चा शास्त्र मानना सम्यग्दर्शन है।

परन्तु इस काल में इसके विपरीत बातें हो रही हैं। आधुनिक लोग देव गुरु शास्त्र में श्रद्धा करने को अन्ध-विश्वास कहते हैं। वे कहते हैं कि भगवान अरहंत देव कहीं आंखों से नजर नहीं आते और जब आज वे दृष्टिगत नहीं हैं तो जैन शास्त्रों को उनकी वाणी मानकर सत्य मानना अन्ध-विश्वास नहीं है तो क्या है ? तथा नर्क, स्वर्ग की कथा डरावनी, लुभावनी नहीं है तो क्या है ? इत्यादि स्वकल्पित शंका के विचार रखने करने वाले देव में, शास्त्र में तथा गुरुमें श्रद्धान नहीं करते और इसलिये धर्म के मर्मको न समझने के कारण मनमाने अपने माने हुए धर्मको ही सत्य धर्म कल्पना करके उसीके अनुसार व्यवहार करने लगे हैं। जैनियों में जिन धर्म में आजकल निशंकित भाव न होने के कारण आठों

सम्यक्त्व के गुणोंका अभाव सा होगया है और इसी कारण धर्म, पंथ, जाति, गोत्र इत्यादि अनेक विवाद समाज में खड़े हो गये हैं। श्रद्धा रहित होने के कारण भगवान का वाणी में अनेक शंका कुशंका करके शास्त्र के नाम पर अनेक तर्क वितर्क करते हुए अनेकों वखेड़े करते हैं। इस कलिकाल में धर्मात्मा कहलाने वाले वहुत मिलते हैं परन्तु ये भी प्रशंसा, कीर्त्ति व लोभ के अधीन मिलते हैं। कहा भी है:—

अनृतपटुता चौरे चित्तं सतामपमानता,
मतिरविनये धर्मे शाठ्यं गुरुष्वपि वंचना।
ललितमधुरावाक् प्रत्यक्षे, परोक्षविभाषिणी,
कलियुगमहाराजस्यैताः स्फुरन्ति विभूतयः।

असत्य में सत्य की बुद्धि, चौरी में मन, सत्पुरुषों का अपमान में सदा लीन, अविनय में बुद्धि, धर्म में दुष्टता, गुरुओं से कपट करने वाला, सामने मधुर भाषी, पीठ पीछे निन्दा करने वाला ये सभी बातें कलियुग महाराज की परम विभूति हैं। अन्य ने भी कहा है:—

धर्मःप्रव्रजितः तपः प्रचलितं सत्यं च दूरे गतं।
पृथ्वी मन्दफला नृपाः कपटिनो हस्तायुधाः ब्राह्मणाः॥
लोकाः स्त्रीषु वशाः स्त्रियोऽपि चपलास्तौल्यं गताः साधवः।
साधुः सीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायेण काले कलौ॥

(सम्यक्त्वकौमुदी)

अर्थ—कलिकाल में धर्म का लोप होगया, तपश्चर्या उठ गई, सत्यता दूर चली गई, पृथ्वी मन्द फल देने वाली होगई, राजा कपटी अन्यायी व हिंसक बन गये, ब्राह्मण अपने सदाचार को छोड़कर हथियार धारण करने लगे, पुरुष स्त्रियों के वशीभूत हो गये, स्त्रियां चपल हो गई, तपस्वी लघुता को प्राप्त होगये, सज्जन दुःखी तथा दुर्जन सुखी व बलशाली होगये। यह प्रायः कलियुग का प्रभाव है। क्योंकि—

शशिनि खलु कलङ्कः कंटकाः पद्मनाले।
उदधिजलमपेयं पंडिते निर्धनत्वं॥
दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं सुरूपे।
धनपतिकृपणत्वं रत्नदूषी विधाता॥

अर्थ—चंद्रमा में कलंक, कमल नाल में कांटे, समुद्र का पानी अपेय (खारा), विद्वानों में दरिद्रता, प्रेमीजन का वियोग, रूपवती स्त्रियों में दुर्भगपना, श्रीमन्तों में कृपणता, रत्नों को दोष युक्त बनाना आदि विपरीत बातें कलियुग के प्रभाव से ही होती हैं।

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः।

महापुरुषों के पुण्य कार्यों में विघ्नों की बहुलता होना तथा दुष्कार्य में लगे हुए मनुष्यों की सफलता होना कलियुग का ही प्रभाव है।

नास्ति सत्यं सदा चौरे न शौचे वृषलीपतौ ।
मद्यपे सौहृदं नास्ति द्यूते च त्रितयं न हि ॥

चौर में सत्यता नहीं, खोटी स्त्रियों में पवित्रता नहीं, मद्य पीने वालों में मित्रता नहीं और जुवारी में सत्यता, पवित्रता तथा मित्रता तीनों ही नहीं होती । इसी प्रकार कलियुग में सच्चे धर्म में रुचि नहीं होती । धर्म में अरुचि होने से धर्म की क्रियायें सफल नहीं होतीं । जिस प्रकार भोजन में रोगी की रुचि नहीं होती उसी प्रकार शंकित जीवों की धर्म में रुचि नहीं होती । 'संशयात्मा विनश्यति' शंका रखने वाला प्राणी विनाश को प्राप्त होता है । इसलिये शंका छोड़कर देव, गुरु, शास्त्र में श्रद्धा धारण करना, व भगवत्प्रणीत शास्त्रों में बताये हुए तत्त्वों को आगम के अनुसार यथावत रूप से मानना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये परमावश्यक है । क्योंकि इस कलिकाल में अवधिज्ञानी व केवली भगवान के अभाव से, मनुष्यों की श्रद्धा व रुचि में न्यूनता होने से अनुकूल फल न मिलकर नाना प्रकार के दुःख उन्हें उठाने पड़ते हैं । अतः सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा पुरुषों को सर्वदा इसी प्रकार की धारणा रखनी चाहिये कि:—

संप्रत्यस्ति न केवली कलियुगे त्रैलोक्यरक्षामणिः ।
तद्वाचः परमाश्च सन्ति भरतक्षेत्रे जगद्द्योतकाः ॥
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्बनम् ।
तत्पूजा जिनवाक्यपूजनतया साक्षात् जिनः पूजितः ॥

अर्थ—इस कलियुग में लोक के रक्षक श्रेष्ठ केवली भगवान साक्षात् नहीं हैं, पर तीनों लोकों में प्रकाश करने वाली उनकी निर्मल वाणी विद्यमान है। श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र के धारी मुनिगण मौजूद हैं तथा वे भव्य जीवों को सर्वदा भगवान की निर्मल वाणी को सुनाया करते हैं। इसलिये रत्नत्रय के धारी मुनियों की पूजा-आराधना, भगवान की पूजा आराधना साक्षात् तीर्थंकर केवली भगवान की पूजा के समान है। पद्मनंदि पंच-विंशतिका में भी कहा है:—

निश्चेतव्योजिनेन्द्रस्तदतुलवचसां गोचरेर्थे परोक्षे।
कार्यः सोपि प्रमाणं वदत किमपरेणात्र कोलाहलेन॥
सत्यां छद्मस्थतायामिह समयपथस्वानुभूतिप्रबुध्या।
भो भो भव्या यतध्वं दृगवगमनिधावात्मनि प्रीतिभाजः॥

वर्त्तमान काल में जिनेन्द्र हैं ऐसा विश्वास अवश्य करना चाहिये तथा जो पदार्थ सूक्ष्म तथा दूर होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं हैं किंतु जिनेन्द्र ने उनका वर्णन अपनी दिव्य ध्वनि से किया है तो वे भी अवश्य हैं, ऐसा मानना चाहिये। परंतु जिनेन्द्र के वचन में व्यर्थ शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि इस काल में ज्ञान के धारी बहुत कम जीव हैं। इसलिये आचार्य कहते हैं कि "अरहंत भगवान के कहे हुए सिद्धान्त मार्ग से स्वानुभव को प्राप्त कर सदा प्रबुद्ध, और अपनी आत्मा में प्रीतिको भजने वाले हे

भव्यजीवो ! तुम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी निधि को इकट्ठा करने में अवश्य यत्न करो।

परन्तु इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि मलीनता को उत्पन्न करने वाले पच्चीस दोषों को हटा दो। इन्हें जब तक नहीं हटायेंगे तब तक शुद्ध निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

पच्चीस मलदोषः—

देवमूढता, लोकमूढता तथा समयमूढता ये तीन प्रकार की मूढताएँ हैं।

देवमूढताः—क्षुधा तृषा आदि अठारह दोष रहित, अनन्त ज्ञान, अनन्त गुणादिसहित वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को छोड़कर जो व्यक्ति अपनी ख्याति, सन्मान, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, कलत्र तथा राज्यादिक भोगैश्वर्य की प्राप्ति के लिये राग-द्वेष आर्त्त रौद्र ध्यान रूप परिणामों में पड़कर मिथ्यादृष्टी देवों की आराधना करता है उसे देव मूढता कहते हैं। ऐसे देव कभी फल नहीं देते।

यदि कोई शंका करे कि ऐसे देव फल क्यों नहीं देते ? इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि—रावण ने रामचन्द्र व लक्ष्मण आदि के विनाश करने के लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की तथा कौरवों ने पांडवों के सर्वनाश करने के लिये कात्यायनी

विद्या सिद्ध की, किन्तु ये विद्यायें रामचन्द्र, कृष्ण तथा पांडवों का कुछ भी अनिष्ट न कर सकीं। रामचन्द्रादिकों ने मिथ्यादृष्टी देवों को प्रसन्न नहीं किया, पर निर्मल सम्यग्दर्शन से पूर्वोपार्जित पुण्य के द्वारा उनके सभी दुःख दूर हो गये।

लोकमूढताः—

श्री पूज्य नयसेन आचार्य अपने धर्मामृत नामक कानड़ी शास्त्र में लिखते हैं कि—

अनलननर्कनं शशि यनिंद्रन नंतकनं मरंगळं-
वनधियनुर्वियं मडकेयं तोरेयं केरेय गृहंगळं ॥
जननीपनव्यनं पशुवेत्तुगळं कुलदेव मेंदु मे-
ल्लने पोडमट्टु पूजिसुव गांपने देवमूढ नुर्वियोळ् ॥
धुरदोळ् कम्मरि योळ् मदोविंरुहदोळ् सप्तार्चिनीर्गळोळ्-
भरदिं देहमनिक्कि युज्जुगदे मिथ्यातीर्थमं मिंदुमा-
दरदिं दुष्टर पेळ्केयोळ् नेगळ्दु मत्यानंददिं देय्दुवें-
सुरलोकंगळ नेंव गाविल नवतां लोकमूढं नृपा ॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, यम, वृक्ष, समुद्र, नदी, तालाब, कुआ, मकान आदि की पूजा करने के बाद मां बाप को देव मान कर, मिट्टी की मूर्त्ति में देव या देवी की स्थापना करके इनकी पूजा, करना, गाय, बैल तथा अन्य पशुओं को अपना कुल पूज्य मानकर इन

सवों की पूजा करना, गंगा, यमुना आदिक नदियों में पुण्योपार्जन तथा स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति की कल्पना करके स्नान करना लोक-मूढ़ता कहलाती है। भोले जीव ही उपर्युक्त तीर्थक्षेत्रों में स्नान करके पापों का क्षालन तथा स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं; क्योंकि यदि बाह्य स्नान मात्र से ही पापों का नाश होकर स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति हो जाती, तो उनमें रहने वाले असंख्यात जलचर जीव विशुद्ध होकर स्वर्ग, मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त कर लेते ? कहा भी है कि:—

मृदां भारसहस्रेण, जलकुम्भशतैरपि।
न शुध्यन्ति दुराचाराः, स्नात्वा तीर्थशतैरपि ॥ १ ॥

अर्थ—हजारों मिट्टी के भार, (विभूति स्नान) सैंकड़ों जल के घड़े तथा तीर्थों में स्नान करने से दुराचारी शुद्ध नहीं होते ॥ १ ॥

जायन्ते च म्रियन्ते च, जलेष्वेव जलौकसः।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गं, न विशुद्धमनो मलाः ॥ २ ॥

जल के अन्दर रात-दिन रहनेवाले अनेक जलचर जीव उत्पन्न होकर मर जाते हैं; पर वे न तो स्वर्ग ही जाते और न उनके मन का मल ही विशुद्ध होता है ॥ २ ॥

ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं, दानं तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि यत्तीर्थं, विशुद्धिर्मनसः परा ॥ ३ ॥

ज्ञानतीर्थ, धृतितीर्थ तथा दानतीर्थ विद्वानों ने कहा है; परंतु तीर्थों में सबसे बड़ा तीर्थ मन की शुद्धि है ॥ ३ ॥

आत्मानदीसंयमतोयपूर्णा, सत्यंवहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र ! न वारिणा शुध्यति चांतरात्मा ।४।

(महाभारत)

संसार रूपी जल से परिपूर्ण, सत्य रूपी प्रवाह, शील रूपी तट तथा दया रूपी तरंगें जिसमें विद्यमान हैं ऐसी आत्मारूपी नदी में हे पांडु पुत्र ! स्नान करो; क्योंकि केवल जल से आत्मा शुद्ध नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मज्जलेभ्यो स्मृतं बाह्यं, मनःशुद्धिस्तथांतरम् ॥५॥

जल आदिक से स्नान करना बाह्य तथा मन की शुद्धि होना आभ्यंतर स्नान कहलाता है ॥ ५ ॥

समयमूढता, शास्त्रमूढता व धर्ममूढता को कहते हैं ? जो जीव अन्यत्र शास्त्रों में प्रणीत मंत्र शास्त्रों का चमत्कार दिखाने वाले अन्य भेषी-साधु पंडित आदि नाम कहानेवालों के उपदेश को मानकर जिनागम को छोड़ अन्य शास्त्रों को व अन्य धर्म को भजते हैं वे समय मूढता को भजते हैं और भी श्री नयसेनाचार्य स्वामी धर्मामृत में कहते हैं कि वरुण राजा

रेवती रानी से कहने लगे कि जब सब श्रावक अन्य देवा-
दिक पूजने जाते हैं तो क्या वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, एक तुम ही
सम्यग्दृष्टि हो क्या ? तब रेवती रानी ने कहा है कि हे नाथ !
इमली के झाड़ में जितने फूल होते हैं उनमें सबमें फल नहीं होते
हैं व भूमि में सभी पाषाण कहाते हैं परन्तु सभी निधि को धारण
करने वाले नहीं होते, तथा मनुष्य सभी होते हैं परन्तु सभी पृथ्वी-
नाथ नहीं होते, वृक्ष तो सभी कहलाते हैं परन्तु सभी वृक्ष
चन्दनवृक्ष नहीं होते और सभी स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने वाली नहीं
होती, तथा समुद्र बहुत हैं परन्तु सभी समुद्र क्षीर समुद्र
नहीं होते और सींग बहुत तिर्यंच धारण करते हैं परन्तु सभी शृङ्ग
धारी गाय नहीं कहलाते और बोलने वाले सभी मंत्री नहीं होते,
और सभी शूरवीर नायक नहीं होते और युद्ध में लड़ने वाले सभी
रणवीर नहीं होते और गाने वाले सभी गन्धर्व नहीं होते और
स्त्रियाँ सभी पतिव्रता नहीं होती । इसी प्रकार श्रावक होनेवाले सभी
मूढता रहित सम्यक्त्व पालने वाले नहीं होते । इसलिये मूढता
रहित सम्यक्त्व धारण करने के लिए इन तीनों मूढताओं को त्याग
कर देना चाहिये और मन वचन काय की गुप्तिरूप अवस्थावाले
वीतराग सम्यक्त्व के आश्रय में अपना निरंजन तथा निर्दोष पर-
मात्मा ही देव है ऐसी निश्चय बुद्धि ही देव मूढता रहित बुद्धि
जानना चाहिए और वही सच्चा सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना
चाहिये । इसको ही अमूढ अर्थात् मूढता रहित कहते हैं । इसी-
प्रकार सम्पूर्ण शुभ अशुभ विकल्प स्वरूप पर भावके त्यागरूप

निर्विकार वास्तविक परमानंदमय परम समता भाव से निज विशुद्ध आत्मा में ही जो सम्यक् प्रकार से गमन करना अथवा परिणमन है उसको समय मूढ़ता का त्याग कर देना चाहिये।

अब नीचे आठ मद के स्वरूप को दिखलाते हुए उनके त्याग के लिए लिखा जाता है। आठ मद के भेद इस प्रकार हैं:—ऐश्वर्य मद, धनमद, ज्ञानमद, तपोमद, कुलमद, जातिमद, बलमद और रूपमद। सम्यक्त्व को ये आठों मद मलिन करते हैं—इसलिए इनका त्याग करना जरूरी है। मान कषाय से उत्पन्न जो ईर्ष्या आदि समस्त विकल्पों के त्यागपूर्वक जो ममकार अहंकार से रहित शुद्धात्मा में भावना है वही वीतराग सम्यग्दृष्टियों के आठ मदों का त्याग है। ममकार तथा अहंकार का लक्षण कहते हैं कि कर्मों से उत्पन्न हुए जो देह, पुत्र, स्त्री, आदि में यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, ऐसा बुद्धि ममकार है और उस शरीरादि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो मैं गौर वर्ण का हूँ, राजा हूँ, सब से बड़ा हूँ, ऐसा मानना अहंकार का लक्षण है। इस ममकार व अहंकार बुद्धि को त्याग देना उचित है।

इसी प्रकार षट्अनायतन भी नहीं सेवन करने चाहिये। षट्अनायतन ये हैं:—मिथ्यादेव और मिथ्यादेवों के पूजक सेवक, मिथ्यातप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या-शास्त्र और मिथ्याशास्त्र के धारक इन छह अनायतनों को सम्यग्दृष्टि को छोड़ देना चाहिये। जो वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनके सम्पूर्ण दोषों के स्थानभूत

मिथ्यात्व, विषय तथा कषायरूप आयतन के त्याग करने से केवल ज्ञानादिरूप निज आत्मा में जो निवास करता है वही अनायतनों की सेवा का त्याग है। अनायतन शब्द का अर्थ यह है कि सम्यक्त्वादि गुणों का आयतन अर्थात् आवास, घर, आश्रय अथवा आधार करने का जो निमित्त है उसको आयतन कहते हैं और जो सम्यक्त्वादि गुणों से विपरीत मिथ्यात्व आदि दोषों के धारण करने का निमित्त है वह अनायतन है।

शंकादि आठ दोष भी त्यागने योग्य हैं। आठ दोष ये हैं:—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अप्रभावना और अवात्सल्य। इनसे उलटे सम्यग्दर्शन के गुण या अंग कहे जाते हैं उनका भिन्न २ स्वरूप निम्न प्रकार से है।

निःशंकितगुणः—

शङ्का दोष का ऐसा स्वरूप है कि जिनेन्द्रदेव के वचन में शङ्का करना जैसे नेमिनाथ भगवान ने कहा था कि द्वारिका १२ वर्ष बाद द्वीपायन मुनि द्वारा भस्म होगी, इस वचन पर श्रद्धान नहीं करने वाले जीव द्वारिका छोड़ कर नहीं गये और श्रीकृष्ण नारायण के होते हुए द्वारिका नहीं जल सकती इस प्रकार मानकर जिन वचन में श्रद्धा नहीं की और अन्त में पछतावा करते हुए मरण को प्राप्त हुए। उसी प्रकार जिन वचन में श्रद्धा नहीं करने वाले अन्त में मरण कर कुगति को चले जाते हैं। इसके विपरीत

जो प्राणी जिन वचन में श्रद्धान करते हैं वे प्रद्युम्न आदि श्रीकृष्ण नारायण के आठों पुत्र तथा रुक्मिणी आदि रानियों के समान जिन वचन में श्रद्धान कर सर्व परिग्रह का त्याग कर मोक्ष तथा स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, ऐसा शंका रहित जिन वचन मानना सम्यक्त्व का निशंकित नामा प्रथम गुण है। निशंकित अंग को धारण करने वाला सात प्रकार के भयका भी त्याग कर देता है। सात भय इस प्रकार हैं:—इहलोक भय, परलोक भय, वेदना भय, अत्राण भय, अगुप्ति भय, मृत्यु भय, आकस्मिक भय। इनका अर्थ स्पष्ट है इसलिये इनके बारे में विशेष अर्थ न लिखकर यह ही लिखना काफी है कि इनको त्याग देना चाहिये।

निःकांक्षित गुणः—

दूसरा दोष कांक्षा है। तथा उसके विपरीत निःकांक्षित गुण है। व्रतादि क्रियाओं को करते हुए उनसे परभव के भोगों की वांछा करना कांक्षा है। संसार के भोग आत्मा को जगत में अब तक रुलाते रहे हैं, अनन्त दुःख देते रहे हैं यह सब ज्ञानीजन कहते हैं तथा प्रायः सभी समझदार मनुष्य इस बात को मानते हैं। जब भोग दुःखदायी हैं तो फिर इन ही दुःखदायी भोगों की वांछा करना सर्वथा मूर्खता है। प्राणी दुःखों के नाश के लिये व्रत धारण करते हैं तथा पूजा पाठादि शुभ कर्मों में अपना अमूल्य समय लगाते हैं परन्तु फिर भोगों की वांछा करते हैं अर्थात् दुःखों को बुलाते हैं यह

मोहकर्मका वैचित्र्य है। देखो श्री सीता महारानी ने अखण्ड शीलव्रत पालन किया और घोर उपसर्ग आने पर भी अपने व्रतको नहीं बिगाड़ा परन्तु पाप कर्मोदय से रामचन्द्र ने लोकापवाद से डर कर जब घर से निकाला और जब अग्निकुंड में प्रवेश करने की आज्ञा दी तो अपने को निष्कलंक बनाने के निमित्त अग्निकुंड में प्रवेश करना स्वीकार करके जब अग्निकुंड में प्रवेश किया तो अग्निकुंड शीलव्रत के माहात्म्य से जल सरोवर होगया और बीच में सिंहासन देवों ने रच दिया। तब सारे संसार ने एक मुख से कहा कि सीताजी निष्कलंक हैं, उस वक्त रामचन्द्रजी ने घर चलकर पटरानी बन कर रहने को कहा, तो सीताजी ने कहा कि—जिन संसार के भोगों ने इतने दुःख दिये उन भोगों को मैं अब नहीं अपना सकती। धिक्कार है इन भोगों को—यह कहकर सीताजी ने तत्काल संसार देह भोगों से ममत्व व इच्छा को छोड़ आर्यिका के व्रत धारण कर लिये। इससे हमको भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भोगोंको हेय जानकर इनकी कभी वांछा नहीं करनी चाहिये—

निर्विचिकित्सा गुणः—

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रपात घृणास्पदे।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः॥
नैतत्तन्मनस्य ज्ञानमस्म्यहं संपदां पदम्।
नासावस्मत्समां दीनो वराको विपदां पदं॥

जो पुरुष दुर्दैव के कारण दुःखित हो रहा है और तीव्र असाता के कारण जो घृणास्पद है उसके विषय में असूयारूप चित्त का नहीं होना ही निर्विचिकित्सात्मक गुण है। मनमें ऐसा अज्ञान नहीं होना चाहिये कि मैं संपत्तियों का घर हूँ और यह दीन गरीब विपत्तियों का घर है, यह हमारे समान नहीं हो सकता। इस प्रकार मनमें कभी भी ऐसी भावना नहीं लाना चाहिये। जैसे जल में काई होती है ठीक वैसे ही जीव में जब तक अशुचि कर्म मौजूद है, तब तक मैं और वे संसारी जीव सामान्यरूप से कर्मोंसे मलिन हो रहे हैं। यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शन का गुण है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है, उसके विना नहीं होता है।

इसका सार यह है कि भेद अभेदरूप रत्नत्रय के आराधक भव्य जीवों की दुर्गंधि तथा बुरी आकृति आदि देखकर धर्म बुद्धि से अथवा करुणाभाव से यथायोग्य विचिकित्सा यानी ग्लानि को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है। और "जैन धर्म में सब अच्छी २ बाते हैं, परन्तु वस्त्र के आवरण से रहितता अर्थात् नग्नपना और जल स्नान आदिका नहीं करना यही दूपण है" इत्यादि बुरे भावों को विशेप ज्ञानके बल से दूर करना भाव निर्विचिकित्सा कहलाती है। इस व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण को पालने के विपय में उदायन तथा रुक्मिणी—कृष्णाकी पट्टराणी की कथा शास्त्र में प्रसिद्ध है सो जानना चाहिये। निश्चय से तो इसी व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण

के बल से समस्त रागद्वेष आदि विकल्प रूप तरंगों का त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निजशुद्ध आत्मा में स्थिति करना निर्विचिकित्सा गुण है।

अमूढदृष्टि गुणः—

इस गुण में रेवतीराणी प्रसिद्ध है सो शास्त्र से जानना। सार यह है कि वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कथित शास्त्र से विपरीत भिन्न भिन्न कुदृष्टियों के द्वारा कथित अज्ञानियों के चित्तमें विस्मय को उत्पन्न करने वाले रसायन तथा भ्रम पैदा करने वाली विकथा तथा हिंसात्मक शास्त्र आदि कुभावना को उत्पन्न करनेवाले शास्त्र को देख तथा सुनकर के जो कोई मूढ भाव से धर्मकी बुद्धि करके उनमें प्रीति या भक्ति नहीं करना है उसको व्यवहार से अमूढता गुण कहते हैं। निश्चय से इसी व्यवहार अमूढ दृष्टि गुणके प्रसाद से जब आत्मा और शरीरादिका निश्चय हो जाता है तब संपूर्ण मिथ्यात्व, रागादि तथा शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों से इष्ट आत्म बुद्धि, उपादेय बुद्धि, हित बुद्धि, और ममत्वभाव को छोड़कर मन, वचन, कायकी गुप्ति रूप से विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव निज आत्मा में जो निवास करना है वही अमूढदृष्टि गुण है।

उपगूहन गुणः—

यद्यपि भेद अभेद रत्नत्रय की भावना रूप मोक्ष मार्ग

स्वभाव से ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्य के निमित्त से अथवा धर्मपालन में असमर्थ पुरुषों के निमित्त से जो धर्मकी चुगली, निंदा, दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्र के अनुकूल शक्ति के अनुसार धन से अथवा धर्म के उपदेश से धर्म के लिये उसके दोषों के ढकने को उपगूहन कहते हैं।

इस व्यवहार उपगूहन गुणके पालने के विषय में जब एक कपटी ब्रह्मचारी ने पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा में लगे हुए रत्न को चुराया उस समय जिनदत्त सेठने जो उपगूहन किया था वह कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। तथा रुद्र की जो जेष्ठा नामक माता थी उसकी जब लोकनिंदा हुई तब उसके दोषको ढकने में चेलना महाराणी की कथा शास्त्र-प्रसिद्ध है। इस प्रकार निश्चय से व्यवहार उपगूहन गुणकी सहायता से अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को ढकने वाले राग आदि दोषों को, उसी परमात्मा में सम्यक्त्व श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप ध्यान के द्वारा ढकना, नाश करना, छिपाना वही उपगूहन है।

स्थितिकरणगुणः —

भेद अभेद रूप रत्नत्रय को धारण करने वाले जो मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकार का संघ है, उसमें से जो कोई दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शनज्ञान को या चारित्र मोहनीय के उदय से चारित्र को छोडने की इच्छा करे

उसको शास्त्र की आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश देकर धन से या सामर्थ्य से अथवा किसी उपाय से जो धर्म में स्थिर कर देना है वह व्यवहार से स्थितिकरण है। इस गुणमें पुष्पडाल मुनिको धर्म में स्थिर करने के प्रसंग में वारिषेण की कथा शास्त्र-प्रसिद्ध है। निश्चय, नय से उसी व्यवहार स्थितिकरण गुण से जब धर्म में दृढता हो जावे तब दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न समस्त मिथ्यात्व राग आदि विकल्पों के त्याग द्वारा निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न परमानंद सुखामृतके आस्वाद स्वरूप परमात्मा में लीन अथवा परमात्मस्वरूप में समरसी भाव से जो चित्तका स्थिर करना है वही स्थितिकरण है।

वात्सल्यगुणः—

वाह्य और अभ्यन्तर रत्नत्रय को धारण करनेवाले मुनि आर्यिका श्रावक तथा श्राविका चारों प्रकार के संघ में जैसे गायका बछड़े में प्रेम रहता है उसी तरह अथवा पांचों इन्द्रियोंके विषयों के निमित्त स्त्री, पुत्र, सुवर्ण आदि में स्नेह रहता है, उसके समान स्वाभाविक स्नेह करना वह व्यवहार नयकी अपेक्षा से वात्सल्य कहा जाता है। इस विषय में हस्तिनापुर के राजा पद्मराज के बलि नामक दुष्ट मंत्री ने जब निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के धारक श्री अकंपनाचार्य आदि सातसौ मुनियों को उपसर्ग किया तब निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधक विष्णुकुमार महामुनि ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामनरूप को धारण करके बलि

नामक दुष्ट मंत्री ने तीन कदम प्रमाण पृथ्वी की याचना की और जब बलि ने देना स्वीकार किया तब एक पग तो मेरु के शिखर पर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर दिया और तीसरे पाँवको रखने के लिए स्थान नहीं रहा तब वचन भंग का दोष लगाकर मुनियों के वात्सल्य निमित्त बलि मंत्री को बांध लिया। यह तो कथा आगम में प्रसिद्ध है। दूसरी कथा वज्रकर्ण नामक दशपुर नगर के राजा की प्रसिद्ध है। पद्मपुराण में देख लेना चाहिए। इस व्यवहार वात्सल्य गुण की सहायता से जब धर्म में दृढ़ता आती है तब मिथ्यात्व, राग आदि समस्त शुभ अशुभ बाह्य पदार्थों में प्रीति छोड़कर राग आदि विकल्पों की उपाधि रहित परम स्वास्थ्य के अनुभव से उत्पन्न सदा आनंद रूप सुखमय अमृत के आस्वाद के प्रति प्रेम करना ही निश्चय वात्सल्य है।

प्रभावना गुणः—

श्रावक को तो दान पूजा आदि द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करना चाहिए और मुनि को तप, शास्त्र तथा उपदेश आदि से जैन धर्म की प्रभावना करना चाहिये। इस गुण के पालने में उत्तर मथुरा में जिनमत की प्रभावना करने की अनुरागिणी उर्मिला महादेवी की प्रभावना के निमित्त जब उपसर्ग हुआ तब वज्रकुमार नामक विद्याधर मुनिने आकाश में जैन रथको फिरवाकर प्रभावना की। यह तो कथा शास्त्र में प्रसिद्ध है। दूसरी कथा यह है कि उसी भव से मोक्ष जानेवाले हरिषेण नामक दशवें चक्रवर्ती ने

जैनमत की प्रभावना अपनी माता वप्रा महादेवी के निमित्त और अपने धर्मानुराग से जैनमत की प्रभावना के लिये ऊंचे तोरणों के धारक जिनमंदिर आदि से समस्त पृथ्वीतल को विभूषित कर दिया था। यह कथा रामायण में प्रसिद्ध है। और निश्चय से इसी व्यवहार प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि संपूर्ण विभाव परिणाम रूप परमतों के प्रभाव को नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षण स्वसंवेदन ज्ञान से निर्मल ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव के धारक निज शुद्ध आत्मा का जो प्रकाशन अनुभव करना है, यह निश्चय-प्रभावना है। इस प्रकार तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि रूप आठ दोषों से रहित शुद्ध जीव आदि तत्वार्थों के श्रद्धान रूप सराग सम्यक्त्व नाम का व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये।

अब यहां सात तत्त्वों के श्रद्धान को जो आगम में सम्यक्त्व बताया है, वहां तत्त्व क्या है, वे संख्या में कितने हैं और उनका क्या स्वरूप है इसको भी थोडा सा यहां बता दिया जाता है। पंचाध्यायीकारने तत्त्व का लक्षण यह बताया है कि:—

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥

(१ अ० श्लो० ४)

तत्त्व यानी वस्तु सत् लक्षणवाली है अथवा सत्-स्वरूप है और वह स्वतः सिद्ध है, इसलिये अनादि निधन है, अपनी सहायता से ही बनती और बिगड़ती है और वह निर्विकल्पक (वचनातीत) भी है। भावार्थ–वस्तु सत् लक्षण वाली है यह प्रमाण लक्षण है। प्रमाण में एक गुण के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण होता है। वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्त गुण हैं। अस्तित्व गुण का ही नाम सत् है। सत् कहने से अस्तित्व गुण का ही ग्रहण होना चाहिये परन्तु यहां पर सत् कहने से सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण होता है। इसका कारण यही है कि अस्तित्व आदि सभी गुण अभिन्न हैं। अभिन्नता के कारण ही सत् के कहने से सम्पूर्ण गुण समुदायरूप वस्तु का ग्रहण होजाता है। इसलिये वस्तु को सत् स्वरूप ही कह दिया है। सत् और गुण समुदाय रूप वस्तु दोनों अभिन्न हैं इसलिये सत् रूप ही वस्तु है।

यहां पर लक्ष्य लक्षण का भेद विवक्षा रखकर ही सत् लक्षण बतलाया है। अभेद विवक्षा में तो वस्तु को सत् स्वरूप ही बतलाया गया है।

नैयायिक आदि अन्य लोग वस्तु को पर से सिद्ध मानते हैं। ईश्वरादि को उसका रचयिता बतलाते हैं, परन्तु यह मानना सर्वथा अयुक्त है। वस्तु अपने आप ही सिद्ध है इसका कोई बनाने वाला नहीं है। इसीलिये न इसकी आदि है और न इसका अन्त है।

प्रत्येक वस्तु का परिणमन अवश्य होता है उस परिणमन में वस्तु अपने आप ही कारण है और अनन्त गुणों का पिण्ड रूप वस्तु वचन वर्गणा के सर्वथा अगोचर है।

ये तत्त्व आगम में संख्या में सात बताये हैं जिनके नाम ये हैं:—जीव, अजीव आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें सब में जीव तत्त्व प्रधान है। इस जीव का क्या लक्षण है, कितने भेद रूप है इसको नीचे बताया जाता है। प्रथम जीव का लक्षण बताते हैं—

अस्ति जीवः स्वतः सिद्धोऽनाद्यनन्तोप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादिरूढत्वाद् द्रव्यमव्ययम्॥

जीव द्रव्य स्वतः सिद्ध है इसकी आदि नहीं है इसी प्रकार अन्त भी नहीं है। यह जीव अमूर्त है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादिक अनन्त धर्मात्मक है इसीलिये यह नाशरहित द्रव्य है अर्थात् इसका नाश कभी नहीं होता है।

चार्वाक या अन्य कोई नास्तिक कहते हैं कि जीव द्रव्य स्वतंत्र कोई नहीं है पंचभूत से मिलकर बन जाता है! इसका निवारण करने के लिये ही आचार्य महाराज ने श्लोक में स्वतः सिद्ध पद दिया है। यह द्रव्य किसी से किया हुवा नहीं है किन्तु अपने आप सिद्ध है। इसीलिये न इसकी आदि है और न अन्त है। पुद्गल द्रव्य की

तरह इसकी रूपादिक मूर्त्ति भी नहीं है। यह द्रव्य ज्ञानादिक अनन्त गुण स्वरूप है। गुण नित्य होते हैं इसीलिये जीव द्रव्य भी नित्य है, इसका कभी नाश नहीं होता, केवल अवस्था भेद होता रहता है।

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं अथवा यों कहना चाहिये कि यह द्रव्य अनन्त गुण स्वरूप ही है। उन गुणों में कुछ साधारण गुण होते हैं और कुछ विशेष गुण होते हैं। जो समान रीति से सब द्रव्यों में पाए जावें उन्हें साधारण गुण कहते हैं। इन्हीं का दूसरा नाम सामान्य गुण भी है। और जो खास खास वस्तु में ही पाए जावें उन्हें विशेष गुण कहते हैं। जीव द्रव्य में सामान्य गुण भी हैं और विशेष गुण भी। अस्तित्व प्रमेयत्वादि सामान्य गुण हैं, ये सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि जीवके विशेष गुण हैं, ये जीव में ही पाये जाते हैं। इसलिये जीव में साधारण तथा विशेष दोनों गुण हैं। लोक असंख्यात प्रदेशी है और जीव भी लोक के बराबर असंख्यात प्रदेशी है। इसलिये यह जीव विश्वरूप है अर्थात लोक स्वरूप है तथापि लोक भर में ठहरा हुवा नहीं है किन्तु लोक के असंख्यातवें भाग स्थान में है। अथवा ज्ञान की अपेक्षा विश्व रूप है परन्तु विश्व से जुदा है। यह जीव सर्व पदार्थों से उपेक्षित है अर्थात् किसी पदार्थ से इसका सम्बन्ध नहीं है तथापि यह जीव सब पदार्थों को जानने वाला है। यह जीव असंख्यात प्रदेशवाला है तथापि अखण्ड द्रव्य है, अर्थात् इसके प्रदेश सब अभिन्न हैं तथा सर्व द्रव्यों से यह भिन्न है तथापि उनके मध्य स्थित है।

शुद्धनय की अपेक्षा से यह जीव द्रव्य शुद्ध स्वरूप है, एक रूप है, उसमें भेद कल्पना नहीं है तथापि पर्याय दृष्टि से यह जीव दो प्रकार का है एक मुक्त जीव दूसरा अमुक्त जीव। भावार्थ—निश्चय-नय उसको कहते हैं जो वस्तुके स्वाभाविक भाव को ग्रहण करे और व्यवहारनय वस्तु की अशुद्ध अवस्था को ग्रहण करता है। जो भाव पर निमित्त से होते हैं उन्हें ग्रहण करने वाला ही व्यवहार-नय है। निश्चयनय से जीवमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। इस-लिये उक्त नय से जीव सदा शुद्ध स्वरूप है तथा एक रूप है; परन्तु कर्मजनित अवस्था के भेद से उसी जीव के दो भेद हैं। एक संसारी दूसरा मुक्त। जो कर्मोपाधि सहित आत्मा है वह संसारी आत्मा है और जो उस कर्मोपाधि से रहित है वही मुक्त अथवा सिद्धात्मा कहलाता है। ये दो भेद कर्मोपाधि से हुए हैं। कर्मोपाधि निश्चयनय से जीवका स्वरूप नहीं है। इसलिये जीवमें द्रव्य दृष्टि से भेद नहीं किन्तु पर्याय दृष्टि से है। जो आत्मा कर्मों से बंधा हुवा है वही संसारी है। संसारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप से रहित है अर्थात् यथार्थ स्वरूप को लब्ध नहीं है और अनादिकाल से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से सदा मूर्छित है। भावार्थः—आत्मा का स्वरूप शुद्धज्ञान, शुद्धदर्शन, शुद्धवीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों ने उन गुणों को ढक दिया है इन्हीं आठ कर्मों में जो मोहनीय कर्म है उसने उन्हें विपरीत स्वादु बना दिया है, इसीलिये संसारी आत्मा असली स्वभाव का अनु-

भव नहीं करता है और जब वे आवरण दोष मल नष्ट हो जाते हैं तब वही आत्मा निज शुद्धरूप का अनुभव करने लगता है। सारांश इसका यह है कि जो आठ कर्मों से मुक्त हो गये वे जीव मुक्त जीव कहलाते हैं और उन्हीं को सिद्ध, परमात्मा देव कहते हैं। इन कर्ममुक्त जीवों के अलावा और कोई ईश्वर, परमात्मा नहीं है। यह आत्मा ही जब कर्मों से छूट जाता है तब परमात्मा त्रैलोक्य पूज्य, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य और अनंतबलका धारी हो जाता है और इसी को ईश्वर कहते हैं। जो चार घातिया कर्मों को नाश कर केवलज्ञान शक्ति व अनंत बलयुक्त हो जाते हैं वे अरहन्तदेव कहलाते हैं और ये अर्हंतदेव जब बाकी के चार अघातिया कर्मोंका नाश कर सिद्ध शिला पर जा विराजते हैं तब सिद्ध भगवान कहलाते हैं। इस प्रकार से जो अभी कर्मों से बंधे हुए हैं, वे सभी जीव संसारी हैं। जीव का और कर्म का अनादि सम्बन्ध है। अनादि से जीव कर्मों से बंधा हुवा है और संसार समुद्र में गोता लगा रहा है। आत्मा के साथ दो सूक्ष्म शरीर (तैजस शरीर व कार्माण शरीर) सदा रहते हैं। नई तैजस वर्गणा आकर बंधती रहती हैं और पुरानी खिरती जाती हैं। उसी प्रकार यह जीव एक समय में सिद्ध जीव राशि के अनन्तवें भाग और अभव्य जीव राशि जो जघन्य युक्तानंत प्रमाण है उससे अनन्त गुणे समय प्रबद्ध को अर्थात् एक समय में बंधने वाले परमाणु समूह को बांधता है परन्तु मन वचन काय योगों की विसदृशता से

(कमती बढ़ती से) कभी थोड़े कभी अधिक का भी बंध करता है जैसा कि गोम्मटसार में कहा है:—

सिद्धाणंतिय भागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि जोग वसादो दु विसरित्थं ॥४॥

इन संसारी जीवों के भेद निम्न प्रकार से समझने चाहिये:—

(१) एकेन्द्रिय जीव के बियालीस (४२) भेद होते हैं। पृथिवीकाय, जलकाय, तेजकाय, पवनकाय, नित्यनिगोद, इतर-निगोद, इन छहों के बादर एवं सूक्ष्म की अपेक्षा से १२ भेद हुए। इनमें सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक को और मिलाने से १४ हुए। इन चौदह के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक व लब्ध्यपर्याप्तक इन तीनोंकी अपेक्षा से ४२ भेद होते हैं। ये सब सम्मूर्छन होते हैं।

(२) विकलत्रय के ६ भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय। इन तीनों के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक, लब्ध्यपर्याप्तक तीन २ भेद होने से तीनों के ६ भेद होते हैं। ये सब सम्मूर्छन होते हैं।

(३) पंचेंद्रिय सम्मूर्छन के १८ भेद हैं—जलचर, थलचर, नभचर इन तीनों के संज्ञी असंज्ञी के भेद से ६ भेद हुए। इन छहों के पर्याप्तक, लब्ध्यपर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक भेद से १८ भेद होते हैं।

(४) गर्भज पंचेन्द्रिय के १६ भेद हैं—कर्मभूमि के १२ और भोगभूमि के ४। वे इस प्रकार से हैं कि जलचर, थलचर, नभचर इन तीनों के सैनी असैनी के भेद से ६ भेद हुए और इनके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा से १२ भेद हुए। ये कर्मभूमि के गर्भज पंचेन्द्रिय जीवों के हैं और भोग-भूमि के ४ भेद इस प्रकार से जानने कि थलचर, नभचर इनके पर्याप्तक व निर्वृत्य-पर्याप्तक की अपेक्षा से ४ भेद होते हैं। भोग-भूमि में असैनी तिर्यंच नहीं होते।

(५) मनुष्यों के ६ भेद हैं—आर्यखंड, म्लेच्छखंड, भोग-भूमि, कुभोग-भूमि इन चारों गर्भजों के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा से ८ हुए। इनमें सम्मूर्छन मनुष्य का लब्ध्यपर्याप्तक भेद मिलाने से ६ भेद होते हैं।

(६) नारकियों के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक २ भेद हैं उसी तरह देवों के भी पर्याप्तक निर्वृत्यपर्याप्तक २ भेद होते हैं।

ये सब भेद मिलकर ६८ भेद होते हैं। जीवोंके भेदों को और प्रकार से भी आगम में वर्णन किया गया है, मगर यहां ज्ञानी जीव के बोध के लिये जीव समास के ६८ भेदों को बताया गया है। इनको समझकर संसार के परिभ्रमण से भयभीत होना चाहिये कि यह संसारी आत्मा इन पर्यायों में भ्रमता फिरता है। जीवोंके पैदा होने के स्थान को योनि कहते हैं और वे ८४ लाख हैं। इन ८४

लाख योनियों में अनंतानंत कालसे जीव जन्म लेता रहा है और अब भी ऐसे ही कर्म कर रहा है जिनके कारण आगे भी इन्हीं योनियों में भ्रमता रहे। यह मोह कर्म की विचित्रता है। संसारी प्राणी विनाशीक संपदा के लिये चौवीसों घण्टे प्रयत्नशील रहता है। अधर्म अन्याय का विचार भी छोड़ देता है मगर संपदा को प्राप्त नहीं कर पाता और हाय २ करता हुआ ही मर जाता है। परंतु अज्ञान मोहवश अविनाशी आत्मीय अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मी के लिये प्रयत्न रंचमात्र भी नहीं करता, यह बड़े खेद की बात है। जीव तत्त्व का स्वरूप बहुत लम्बा है। अब विशेपरूपसे इसका स्व-रूप आगम से जानना चाहिये। यहां अब वाकी ६ तत्त्वोंके स्वरूप को नीचे और दिखाते हैं।

जिसमें चेतना (ज्ञानगुण) नहीं हैं वे अचेतनत्व गुण के धारी आगम में अजीव नाम से ५ द्रव्य वर्णन किये गये हैं यथा— पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य व आकाशद्रव्य। ये पांचों ही द्रव्य जड़ हैं। इनमें जीव द्रव्य मिलाने पर ६ द्रव्य हो जाते हैं। जहां तक ६ द्रव्य हैं अर्थात् जिस आकाश में ५ द्रव्य वसे हुए हैं, उस आकाश को लोकाकाश कहते हैं और जहाँ केवल आकाश ही आकाश है उसको अलोकाकाश कहते हैं। इस पट् द्रव्यरूप लोकाकाश को ही लोक कहते हैं। यह लोक ही ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक के नाम से तीनलोक कहलाता है। आकाश का स्वरूप इस प्रकार से वताया है कि:—

नित्यं व्यापकमाकाशमवगाहैकलक्षणम् ।
चराचराणि भूतनि यत्रासंबाधमासते ॥

आकाश एक नित्य द्रव्य है सर्व व्यापक है, सम्पूर्ण द्रव्यों को अपने में अवगाहन (निवास) देना यह ही एक लक्षण इस द्रव्य का है। इसमें चर अचर सब द्रव्य असंबाध (बाधा रहित बसे हुए हैं, ठहरे हुए हैं। यह आकाश लोकाकाश, अलोकाकाश के भेद से २ प्रकार का है, जैसा कि ऊपर बता दिया गया है।

दूसरा द्रव्य धर्म द्रव्य है उसका लक्षण यह है:—

जलवन्मत्स्ययानस्य तत्र यो गतिकारणम् ।
जीवादीनां पदार्थानां स धर्मः परिवर्णितः ॥

जिस प्रकार जलजीवों के चलने में व जलपोत वगैरह के चलाने में जल सहकारी कारण है उसी प्रकार लोकाकाश में स्थित जीव-द्रव्य पुद्गलद्रव्य दोनों द्रव्यों के गमन में यह धर्म द्रव्य सहकारी कारण है। जहां पर धर्म द्रव्य नहीं है वहां जीव, पुद्गल गमन नहीं कर सकते हैं। यह द्रव्य लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेशों पर व्यापक रूप से बसा हुवा है।

तीसरा अधर्म द्रव्य है उसका स्वरूप ऐसा है—

द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ।
लोकेऽभिव्यापकत्वादिधर्मोऽधर्मेऽपि धर्मवत् ॥

जिस तरह धर्म द्रव्य जीव—पुद्गल दोनों द्रव्यों के गमन में कारण है उसी तरह यह अधर्म द्रव्य उन द्रव्यों को स्थिति में कारण है। यह अधर्म द्रव्य भी धर्म द्रव्य को भांति सम्पूर्ण लोकाकाश के प्रदेशों पर व्याप्त हो रहा है।

चौथा द्रव्य काल है उसका लक्षण 'वर्त्तना लक्षणः कालः स स्वयं परिणामिनाम्। परिणामोपकारेण पदार्थानाम् प्रवर्तते' आगम में बताया है। इसका अर्थ यह है कि संसार के सब पदार्थ स्वयं परिणमनशील हैं तथापि उनके परिणमनमें कारण काल द्रव्य है। यह भी लोकाकाश के सर्व प्रदेशों पर व्याप्त है, यह काल द्रव्य बहु-प्रदेशी नहीं है। इसलिये इसकी अस्तिकायों में गणना नहीं है। अर्थात् ६ द्रव्यों में ५ द्रव्य बहुप्रदेशी हैं अतः वे पांचों अस्तिकाय हैं और यह बहुप्रदेशी नहीं अतः यह द्रव्य अस्तिकाय भी नहीं है।

पांचवाँ अजीव द्रव्य पुद्गल द्रव्य है यह द्रव्य–रूप, रस, गंध, स्पर्श चार गुण रूप है अतः यह द्रव्य मूर्तिक कहलाता है और बाकी के ५ द्रव्य अमूर्त्तिक हैं। वे इन्द्रिय ज्ञान से ग्राह्य नहीं हैं। पुद्गल द्रव्य के स्थूल सूक्ष्म इत्यादि कितने ही भेद हैं। आगम में पुद्गल वर्गणा २३ प्रकार की बताई गई हैं। उनमें जीव सिर्फ ५ वर्गणाओं को ग्रहण करता है अर्थात् औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण इन पांच प्रकार की वर्गणाओं को यह जीव ग्रहण करता है। जीवों के सब-शरीर पुद्गलद्रव्य से बने हुए हैं। यह पुद्गल का संबंध ही जीव को संसार में रोके हुए हैं। इस तरह अजीव तत्त्व

का स्वरूप जानना। आगे पांच तत्वों को संक्षेप से और बताये जाते हैं।

कर्मों के आने को आश्रव कहते हैं। इनके आने के कारण तथा द्वार मनयोग, वचन योग, काय योग हैं। शुभ परिणामों से कर्म शुभ आते हैं और अशुभ भावों से अशुभ कर्म आते हैं।

इन आये हुए कर्मों का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही बंध हो जाना ही बंधतत्त्व है। बंध ३ प्रकार का है—द्रव्यबंध, भाव-बंध, उभयबंध। जीव का रागादि भाव रूप परिणमन भावबंध है और जो द्रव्य आश्रव हुवा है वह कार्माण पुद्गल द्रव्य, द्रव्य बंध कहलाता है और इस कार्माण वर्गणा का व आत्मा का दोनों का सम्बन्ध है वही उभयबंध है। जीव कर्मों से बंधा हुवा है और कर्म जीव से बंधे हुए हैं।

इन कर्मों के आने को रोकना संवर कहलाता है। पूर्व में बंधे हुए कर्मों का आत्मा के साथ से छुट जाना निर्जरा कहलाती है। आश्रव बंध संसार के कारण हैं और संवर निर्जरा मोक्षका कारण। जब यह जीव अपने साथ बंधे हुए सब कर्मों से छूट जाता है तब इसको मोक्ष कहते हैं। फिर यह जीव कर्म रहित हो जाने के कारण निज स्वाभाविक गुणों को प्राप्त कर लेने से संसार से छूट जाता है और मोक्ष स्थान में (सिद्ध शिला पर) जा विराजता है तथा जन्म मरण से छूट जाता है। वहां अनंत सुख को यह जीव

भोगता है। वहां से अनन्तानन्तकाल में भी फिर संसार में वापिस आकर जन्म मरण नहीं करता है। इस प्रकार सात तत्त्वोंके स्वरूप को समझ कर इनका श्रद्धान करना इसीको सम्यक्त्व कहते हैं। जो वस्तु अपनी बुद्धि से समझ में नहीं आवे उसको शास्त्र की आज्ञा प्रमाण मान कर श्रद्धान करना चाहिये। यही सम्यक्त्वका सच्चा स्वरूप है। अब आगे सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को भी थोड़ा बताया जाता है। इन तीनों की एकता का नाम ही मोक्षमार्ग है—

तत्त्वों का निःसंदेह शास्त्रों के द्वारा न अधिक न कम यथार्थ रूप से अवबोध होने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

सम्पूर्ण सावद्य योगों की निवृत्ति सम्यक्चारित्र है।

इन तीनों को संयुक्तरूप से—एक रूप से ग्रहण करना मोक्षका मार्ग है। इस मोक्षमार्ग में भव्य जीव अपनी आत्मा को लगाकर तप को अंगीकार करता है जिससे सम्पूर्ण दोष व मल को नाश करके रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है अर्थात् परम अव्याबाध सुख को यह जीव प्राप्त कर लेता है। यह ही मनुष्य भवका सारभूत कार्य है। तप की वृद्धि के लिये भेद विज्ञान की प्राप्ति का साधन अब आगे कहेंगे।

मूजगवेंब्र गेहदोळे तुमिद वस्तुगळारु काय वै—
दोजेय तत्त्ववेळु नव भेदपदार्थमिवं तपस्वि सं—

योजिस कूडे कूडे परिभाविसि तन्ननेकाएनुदर्के चे-
तोजयनागवेकु मोदलेंदेयला अपराजितेश्वरा ! ॥३॥

अपराजितेश्वर ! तीन लोक रूपी घर में भरी हुई छह वस्तुएँ हैं। वे यह हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें काल द्रव्यको छोड़कर बाकी पांच, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश पांच अस्तिकाय है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें पुण्य और पाप मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। इन सभी के मिलाने से तत्त्व सत्ताईस भी हो जाते हैं। इन सत्ताईस तत्त्वों के स्वरूप को आत्मा के भीतर प्रवेश कराकर अपने आत्मा को पहचानने के पहले अपने मनको वश करना परम आवश्यक है। इस प्रकार आपका कहना है॥ ३॥

"O, Aprajiteshwar ! Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma, Akasha and Kala which fill the whole universe are six substances ("Dravyas"). Leaving Kala Dravya the others, Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma & Akasha are Five Astikayas.

Jiva (Conscious being), Ajiva (inanimate), Ashrava (influe), Bandha (Bondage), Samvara (Stoppage), Nirjara (shedding) and Moksha (sal-

vation) are seven elements (Tattavas). These, including Punya (Virtues) and Papa (Vices) become Nine Padarth."

विवेचनः—

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि—अपने चञ्चल मन को वशमें करके स्वात्म स्वरूपमें स्थिर होने के पहिले उपरोक्त सत्ताईस (२७) तत्त्वों के द्वारा अपने आत्मा में बारंबार विचार पूर्वक मनन करने तथा घुमाने से मन की चंचलता दूर हो जाती है और आत्मस्वरूप की पहिचान होनेसे बाह्य इन्द्रियादि पर पदार्थों से मन, हट जाता है।

द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् होता है—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक। उत्पाद और व्यय का अर्थ उत्पन्न और नाश नहीं है किन्तु भूत भवन है क्योंकि द्रव्य अपने स्वरूप से नित्य है। पर्याय का ही उत्पाद और नाश है।

आप्त मीमांसा में स्वामी समन्तभद्र आचार्य ने बहुत अच्छी तरह से समझा दिया है कि—

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥

हे भगवन्! आपके मत में वस्तु किसी अपेक्षा से सत्रूप भी है अर्थात् अपने स्वरूपादि से सत्रूप ही है और किसी अपेक्षा से

असत् या अभावरूप ही है, अर्थात् पर वस्तुके स्वरूपादिका उस वस्तु में अभाव है। यदि दोनों को क्रम से कहें तो वस्तु ये सत् असत् या भाव अभावरूप है! यदि एक समयमें कहने लगें तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है। इसी तरह अवक्तव्य के तीन भंग हो जाते हैं। वस्तु सर्वथा एक स्वभाव नहीं है। किंतु वक्ताके अभिप्राय या नय के वश से वस्तु अनेक रूप है।

इस तरह जो वस्तुको भिन्न २ अपेक्षा से अनेक स्वभावरूप जानकर हठ छोड़ देता है और मध्यस्थ हो जाता है वही सच्चे वस्तुके स्वरूप को पाता है, वही निज आत्मा को पर आत्मा से भिन्न जानकर तथा निज आत्मा को अनन्त स्वभावों का अखण्ड पिंड मानकर उसी में लीन हो जाता है, वही परम समाधि का लाभ उठाता है। समयसार कलशा में श्री अमृतचंद्र आचार्य कहते हैं कि:—

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन्स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥ १७ ॥

नैकान्तसंगतदशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो।
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः ॥ १६ ॥

इस तरह तत्त्व की व्यवस्था अनेक नयों से करके आत्मा को स्वयं स्थापित करके यह अनेकांतरूप अलंध्य जैन शासन प्रसिद्ध है। जो लोग अनेकांतमयी दृष्टि से स्वयं ही वस्तु तत्त्व की व्यवस्था को देखने वाले हैं वे संत पुरुष जिनेन्द्र की नीति को उल्लंघन न करते हुए अधिक स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त होकर ज्ञानी हो जाते हैं। इस तरह स्याद्वाद नयों के द्वारा आत्म सिद्धि बहुत आसानी से होती है और एकांतवादियों के मत से आत्म-सिद्धि में बाधा आती है। इस एकांत मत का निषेध करनेके लिये कुंदकुंदाचार्य ने पंचास्तिकाय में गाथा नं० १५ में कहा है कि:—

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वन्ति॥

सत्रूप पदार्थ का नाश नहीं होता है, वैसे ही अभाव का या अवस्तु का या असत् का उत्पाद या जन्म नहीं होता है। पदार्थ अपने गुणों की पर्यायों में उत्पाद व व्यय करते रहते हैं।

विशेषरूप से इसका खुलासा करते हैं:—जैसे गोरस एक द्रव्य है उसका अपने गोरस नामके द्रव्यरूपसे न उत्पाद है, न नाश है तथापि गोरस के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, गुणोंमें अन्य वर्ण रस गंध, स्पर्शरूप परिणमन होते हुए उस गोरस की जब नवनीत नामकी पर्याय नाश होती है तब घृत नामकी पर्याय उत्पन्न हो जाती है। वैसे ही रसरूप सदा रहने वाले जो जीव आदि छह द्रव्य हैं उनका

द्रव्यार्थिक नयसे कभी नाश नहीं होता है और जो असत् या विद्यमान जीवादि पदार्थ हैं उनका द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यरूप से कभी उत्पाद नहीं होता है। तथापि गुणों को पर्यायों के अधिकरण में जीव आदि छहों द्रव्य पर्यायार्थिक नयसे यथा संभव उत्पादव्यय करते रहते हैं। जैसे जीवों में नर-नारकादि पर्यायें, पुद्गलों में द्व्यगुणस्कंध आदि पर्यायें होती हैं व धर्म में गति-सहकारीपना अधर्म में स्थितिसहकारीपना, आकाश में अवगाहन सहकारीपना, तथा काल में वर्त्तना सहकारीपना होने से पर्यायें होती हैं। यहां छह द्रव्यों के मध्य में शुद्ध पारिणामिक परमभाव को ग्रहण करने वाली शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अथवा निश्चयनय से क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा देखे सुने व अनुभव किये भोगोंकी इच्छारूप निदान बंध आदि पर भावों-से शून्य होने पर भी अथवा उत्पाद व व्यय रहित होने पर भी अनादि अनंत चिदानंदमयी एक स्वभाव से भरे हुए शुद्ध जीवास्तिकाय नामके शुद्ध आत्म द्रव्य-को ध्याना चाहिये।

इस गाथा में जो आचार्य ने यह बतलाया है कि—इस लोका-लोक में जो द्रव्य पाये जाते हैं, उनका कभी नाश सर्वथा द्रव्यरूप से नहीं होता है और न कोई नया द्रव्य 'जिसकी सत्ता नहीं है' कभी उत्पन्न होने की अपनी सत्ता कर सकता है। अनादि से अनंत काल तक जितने जीवादि छह द्रव्य सदा से हैं वे सदा बने रहेंगे। इससे स्पष्ट कर दिया है कि—यह द्रव्य समुदाय जगत् कभी

नया बना नहीं न कभी इनका प्रलय होकर विलय हो जायगा या एक रूप हो जायगा। जीव सदा ही जीव रहेंगे। पुद्गल सदा ही पुद्गल रहेंगे। इसी तरह अन्य चार द्रव्य बराबर बने रहेंगे। जब द्रव्य बने रहते हैं तब उत्पन्न होना या विनाश होना किसमें होता है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यदेव देते हैं कि—

द्रव्य में जो गुण होते हैं उनमें सदा परिणमन हुआ करते हैं, उन गुणों की नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं, व प्राचीन पर्यायें नष्ट होती हैं। अर्थात् द्रव्यार्थिक नयसे सर्व द्रव्य नित्य हैं, पर्यायार्थिक नयसे उनमें पर्याय पलटा करती हैं। इसलिये वे अनित्य हैं। जीव निगोद से लेकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रि-यादि त्रस, तिर्यंच, मनुष्य, नारकी, देव आदि पर्यायों में भ्रमण करता हुआ जीव ही बना रहता है। अवस्थाएँ उत्पन्न और विनष्ट होतीं रहती हैं। पुद्गल अणुसे स्कंध व स्कंध से अणु बनते रहते हैं तथापि वह पुद्गल ही रहता है, मात्र अवस्थाओं में बदलाव हुआ करता है। यह कहकर ग्रन्थकार ने क्षणिकवादियों को संबोधित किया है कि—पदार्थों को सर्वथा क्षणिक मानने से कोई भी कार्य नहीं हो सकता है—इसलिये मात्र परिणाम की अपेक्षा ही क्षणिक-पना है, परंतु मूल द्रव्य जिसमें परिणमन होता है सदा नित्य है, सदा बने रहते हैं।

ऊपर हमने जीव द्रव्यका वर्णन व्यवहार नयकी अपेक्षा से किया है कि जीव व्यवहारनय की अपेक्षा से नित्यानित्य और

निश्चयनय की अपेक्षा से नित्य है। जो छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ इत्यादि २७ तत्त्व हैं, इन २७ तत्त्वों को जानना या रुचि रखना यह सभी-व्यवहार करने के कारण हैं परंतु इससे भिन्न जो उनमें जोव तत्त्व है वही ग्राह्य है अर्थात् मुझको ग्रहण करने योग्य है।

निश्चयज्ञानके लिए पहले व्यवहार ज्ञान की और उस पर अमल करने की परम आवश्यकता है। इसीलिए जीवतत्त्वरूप निश्च-याध्यवसायके लिए इन समस्त २७ तत्त्वोंके पूर्ण परिज्ञान की परम आवश्यकता है। २७ तत्त्वोंके परिज्ञानादिके बाद आत्मा के अति-रिक्त सभी का आत्मा से सम्बन्ध छूट जाना निश्चयतत्त्व का स्व-रूप है।

ग्रंथकार ने ऊपर के श्लोक में आत्मा में स्थिरता लाने के लिए सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, पंच अस्तिकाय इत्यादि २७ तत्त्वोंमें अपने मनको घुमाने से मनकी स्थिरता होकर अपने निजात्मतत्त्व में रुचि होती है, और बाह्य पदार्थों में अरुचि होने से बाह्य; इन्द्रियादि तथा शरीरादिसे ममत्व भाव कम होता जाता है और तपश्चर्या में दृढ़ता आती है और आत्मा के साथ लगा हुआ कर्म मल धीरे २ द्रवित होकर आत्मा और शरीर इन दोनोंके स्वरूप का भिन्न-भिन्न अनुभव करता है, वही मनुष्य अंतमें भगवान्के प्रसाद को प्राप्त कर लेता है।

अब आगे आत्मा की स्थिरता के संबंध में कहा जाता है:—

वलिकणुपेक्के पन्नेरडरल्लि चतुष्कद दम्म ज्ञानदोळ्-
सुळिसुळिदाडि कूडे गुरुपंचकदोळ्पोळेदाडि चित्तद-
ग्गळमनडंगिसुत्तोडने तन्नय देहदोळात्मनल्लि निं-
दळलळिदिर्दवं तव कृपात्मनला अपराजितेश्वरा ! ॥ ४ ॥

अर्थ—अपराजितेश्वर—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जर, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मानुप्रेक्षा तथा पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ रूपातीत एवं आज्ञा विचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय, इन चार प्रकार के ध्यानों से अपने चंचल मनको घुमाते २ पंच परमेष्ठियों में लेजाकर स्थिरता करनी चाहिये। जब मनका चंचल वेग बंद होता है, तब तुरंत ही अपने शरीरस्थ आत्म स्वरूप में लीन होने से जो दुःख देने वाले कर्म रूपी शत्रु है उन दुःखों से रहित होता है तब वह भद्र परिणामी भव्य जीवात्मा—आपकी दया का पात्र होता है ॥४॥

4. Aparajiteshwar ! Anitya (transitoriness), Asharana (unprotectiveness, helplessness), Samsara (Mundaneness), Ekatva (loneliness), Anyatva (Separateness), Ashuchitva (impurity), Ashrana (influx), Samvara (stoppage), Nirjara (Shedding) . Loka (Universe), Bcdhi-Durlabh (Rarity of right

path), Dharmanupreksha (Nature of right path) the twelve Anuprekshas (Meditations), Padastha (Contemplation over some auspicious word such as ॐ or णमो अरिहंताणं), Pindasta (Centemplation of oneself as a Conscious being as pure a Arhant Himself), Rupastha (Contemplation over some Arhant), Rupatita (Contemplation over liberated souls, Siddhas, believing oneself too as pure) four types of Contemplations, & Agnyavichaya (meditating on the faultlessness of true dictates of Arhant), Apayavichaya (meditating on the ways of removing wrong knowledge from the people), Vipakavichaya (meditating on the fruition of eight karmas) & Samsthan vichaya (meditating on the Constitution of the world), another four types of meditations are the ways through which one should bring the wandering mind under control & make it steady in the five parmestins (great benefectors). When the movement of the unsteady mind gets blocked, it becomes absorbed in the soul inhabiting the body & becomes devoid of karmas which give pain to the

soul like an enemy Such a soul, pure in feelings, becomes the object of your mercy.

विवेचनः—

मन की एकाग्रता करने के लिये ज्ञानी को बारह भावना का चिंतवन ही मुख्य साधन है।

अनित्यभावनाः—

द्रव्यार्थिक नयसे टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव से अविनाशी स्वभाव निज परमात्म द्रव्य से भिन्न जो अशुद्ध निश्चयनय से रागादि विभावरूप भावकर्म अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहार नयसे द्रव्यकर्म तथा नो कर्मरूप तथा उसके स्वस्वामिभाव संबंध से ग्रहण किये हुए स्त्री आदि चेतन द्रव्य, सुवर्ण आदि अचेतन द्रव्य और चेतन तथा अचेतन से मिश्र पदार्थ वे सभी मेरे आत्मा से भिन्न हैं और इन सभी को अज्ञान के कारण अभी तक मैंने अपना मानकर इसीमें रमण किया। अब ज्ञान चेतना जगी, इससे मुझको यह सभी 'पर' मालुम हुआ। इसलिये इस परवस्तु से अखंड अविनाशी चिदानंद आनंदकंद मैं अकेला एक परमात्मा हूँ। इस प्रकार भावना करने वाले ज्ञानी जीव को स्त्री पुत्र का वियोग होने पर भी झूठे भोजनों के समान ममत्व नहीं है। और उनमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद अभेदरूप रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है और वैसे ही अक्षय अनन्त सुख स्वभाव मुक्त आत्म अवस्था को प्राप्त होता है।

अशरणभावना:—

निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो स्व शुद्धात्मा है वही मेरा शुद्ध आत्म-द्रव्य है। और उसका वहिरंग सहकारी कारणभूत पंच परमेष्ठियों की आराधना वही मेरा शरण है, वही मेरा रक्षक है, इससे मुझे अन्य कोई शरण नहीं है। उससे भिन्न जो देव, इन्द्र चक्रवर्ती सुभट कोटि भट और पुत्र आदि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भोंहरा, मणि, मंत्र, प्रासाद और औषधि आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन और अचेतन मिश्रित ये पदार्थ मरण आदि के समय जैसे महावनमें व्याघ्र से पकड़े हुए हरिण के बच्चे को अथवा समुद्रमें जहाजसे छूटे हुए पक्षी को कोई शरण नहीं है- उसी प्रकार मुझको ये वाह्य पदार्थ शरण नहीं हैं। और न इनकी अब वांछा है, न आगे भी वांछा है और न पहले भोगे हुए भोगों की वांछा है। मुझे वांछा मेरे शुद्धात्मा की ही है, अन्य किसी की भी नहीं।

संसारभावना: —

एक शरीर को छोड़कर दूसरा धारण करना—चारों गतियों में परिभ्रमण करना-संसार है। इसके पाँच भेद हैं—द्रव्यपरिवर्त्तन, क्षेत्रपरिवर्त्तन, कालपरिवर्त्तन, भवपरिवर्त्तन, और भावपरिवर्त्तन।

द्रव्यपरिवर्त्तन:—

किसी जीव ने किसी एक समय में जो कर्म रूप पुद्गल ग्रहण

किये उसमें जितने रूप, रस, गंध, स्पर्श को लिये उतने ही वैसे ही पुद्गल परमाणु जब कभी वही जीव ग्रहण करता है, तथा जो मध्य में गृहीत अगृहीत, मिश्र पुद्गल परमाणु अनन्तवार ग्रहण किये थे वे गिनती में नहीं आते; इसी प्रकार समस्त कर्म वर्गणा दुबारा ग्रहण करली जाय तब एक कर्म द्रव्य परिवर्त्तन होता है। इसमें अनन्तकाल लग जाता है। इसी प्रकार नो कर्म वर्गणाओं का भी ग्रहण होता है। इसको नौ कर्म द्रव्य परिवर्त्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्त्तन:—

कोई सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव सर्व जघन्य अवगाहना को लेकर लोक के मध्य आठ प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य के आठ प्रदेशों में लेकर उत्पन्न हो। मर कर संसार में परिभ्रमण कर फिर उसी रूप से जन्म ले। इस प्रकार वह असंख्यात बार जन्म ले। फिर एक प्रदेश अधिक बढ़ाकर जन्म ले, इस प्रकार समस्त लोकाकाश में जन्म लेकर लोकाकाश के क्षेत्र को पूर्ण करे। मध्य में अनन्त बार दूसरे स्थान में जन्म लेकर जो काल व्यतीत करता है वह इसमें नहीं गिना जाता है। इसमें अनन्तानन्त काल व्यतीत होता है।

कालपरिवर्त्तन —

कोई जीव उत्सर्पिणी काल के पहले समय में उत्पन्न हुआ फिर परिभ्रमण कर दूसरे तीसरे उत्सर्पिणी काल के दूसरे समय में

उत्पन्न हुआ। फिर अनन्तकाल तक परिभ्रमण कर किसी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अनुक्रम से उत्सर्पिणी काल के समस्त समय तथा अवसर्पिणी काल के समस्त समय जन्म लेकर पूर्ण करे। इसी प्रकार मरण कर समस्त समय पूर्ण करे। तब एक काल परिवर्त्तन होता है।

भवपरिवर्त्तन—

कोई जीव पहले नर्क में दश हज़ार वर्ष की आयु पाकर जन्म ले। फिर संसार में परिभ्रमण कर दुबारा उतनी ही आयु पाकर वहीं जन्म ले। इस प्रकार दश हज़ार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी ही बार वहीं उतनी ही आयु पाकर जन्म ले। फिर एक समय अधिक दश हज़ार वर्ष की आयु पाकर जन्म ले। इसी क्रम से एक समय अधिक की आयु पाकर जन्म लेता हुआ नरक के तेतीस सागर पूर्ण करे। फिर तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति की समस्त आयु इसी प्रकार एक २ समय बढ़ाता हुआ पूर्ण करे। देवगति में ३१ सागर समझना चाहिये। इस प्रकार चारों गतियों का परिभ्रमण पूर्ण करने पर एक भव परिवर्त्तन होता है।

भावपरिवर्त्तन—

भाव शब्द का अर्थ परिणाम है—जिनसे कर्म बंध होता है। कर्मों की स्थिति के लिये कषायाध्यवसाय स्थान कारण है। कषाया-ध्यवसाय स्थान के लिये अनुभागाध्यवसाय स्थान कारण है और अनुभागाध्यवसाय स्थान के लिये योगस्थान कारण है। जघन्य

स्थिति के लिये जघन्य कपायाध्यवसाय स्थान ही कारण है। जघन्य कपायाध्यवसाय स्थान के लिये जघन्य ही अनुभागाध्यवसाय स्थान कारण है और जघन्य अनुभागाध्यवसाय स्थानके लिये जघन्य ही योगस्थान कारण है। किसी जीवके जघन्य योग स्थान हुये, फिर अनेक योग स्थान होकर पुनः जघन्य योग स्थान हुये। इस प्रकार असंख्यात योग स्थान हों तब एक अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। ऊपर के अनुसार ही फिर असंख्यात जघन्य योग स्थान हों तब दूसरा योग अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। इस प्रकार असंख्यात अनुभागाध्यवसाय स्थान हों तब एक कपायाध्यवसाय स्थान होता है। फिर असंख्यात जघन्य योग स्थान से एक जघन्य अनुभागाध्यवसाय स्थान हो, फिर असंख्यात जघन्य योगस्थान से दूसरा अनुभागाध्यवसाय स्थान हो। इस प्रकार असंख्यात अनु-भागाध्यवसाय स्थान हों तब एक कपाय स्थान होता है। इसी प्रकार अनुक्रम से असंख्यात जघन्य कपाय स्थान हो तब एक जघन्य स्थिति स्थान होता है। फिर एक समय अधिक स्थिति के लिये वही क्रम चलता है। फिर दो समय के लिये वही क्रम चलता है। इस प्रकार उस कर्म की एक २ समय करके स्थिति पूरी हो। फिर जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक अनुक्रम से समस्त कर्मों की स्थिति पूर्ण हो तब एक भाव परिवर्त्तन होता है। द्रव्य परिवर्त्तन से क्षेत्र परिवर्त्तन का काल अनंतगुना है। उससे काल परिवर्त्तन का काल अनेक गुना है। उससे भव परिवर्त्तन का

काल अनंतगुणा है। इसमें भाव परिवर्त्तन का काल अनंतगुना है। ये पांचों परिवर्त्तन पूर्ण होने पर ही एक परिवर्त्तन गिना जाता है। संसारी जीवोंने ऐसे अनंत परिवर्त्तन किये हैं। इस प्रकार संसारसे भयभीत ज्ञानी आत्मा जो इन पांचों परिवर्त्तनों के स्वरूप का बार २ विचार करते हैं वह संसार भावना है। संसार भावना से संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है और मोक्षमार्ग में अनुराग होता है। इसलिये ज्ञानी जीव, इसका चिन्तवन करने से इससे छूट जाते हैं और मोक्ष में जाकर विराजमान हो जाते हैं! अतः हे आत्मन्! तू इन परिवर्तनों से छूटनेके लिये अपने आपका ध्यान कर ताकि ये परिवर्तनरूप व्याधि जो तेरे पीछे अनादिकाल से लगी हुई चली आ रही है वह शीघ्र छूट जावे।

एकत्व अनुप्रेक्षाः—

संसार में यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। जन्म मरण आदि के समस्त दुःख अकेला ही भोगता है। इसमें कोई सहायक नहीं होता। केवल एक आत्मधर्म ही सहायक होता है। धर्म ही आत्मा के साथ रहता है। मुझको मेरा आत्मा ही सहायक है। मैं एक अखंड अविनाशी अकेला हूँ। मैं ही अपने आपका आप सहायक हूँ। इस प्रकार चितवन करना एकत्व भावना है। इस प्रकार चिन्तवन करने से किसी में भी राग-द्वेष नहीं होता क्यों कि मैं अरागी हूँ।

अन्यत्वभावनाः —

संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब मेरी आत्मा से भिन्न हैं। शरीर तथा आत्मा ये दोनों भी परस्पर में भिन्न हैं। शरीर जड़ तथा पुद्गलस्वरूप है। आत्मा चेतनस्वरूप है। शरीर ज्ञान रहित है आत्मा ज्ञान सहित है। शरीर इन्द्रिय गोचर है आत्मा अतीन्द्रिय है। शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है। इस एक ही आत्मा ने अब तक अनंत शरीर धारण किये हैं। इस प्रकार आत्मा से शरीर को भिन्न चिंतवन करना अन्यत्व भावना है। इस भावना के चिंतवन करनेसे शरीर से ममत्व छूट जाता है। अब मैं इस शरीर से भिन्न एक अखण्ड अविनाशी चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही चिन्तवन करूँ।

अशुचित्वभावनाः—

इस संसार में लोकोत्तर शुद्धता कर्ममल कलंक से रहित अपनी आत्मा में है। इसका साधन रत्नत्रय है। इसके आधार-भूत मुनिराज हैं। इनका अधिष्ठान निर्वाण भूमि है। लौकिक शुद्धि काल, अग्नि, भस्म, मृत्तिका, जल, ज्ञान और विचिकित्सा है। परन्तु यह शरीर इतना अपवित्र है कि इन शुद्धियों से भी शुद्ध नहीं होता। कारण—यह शुक्र शोणित से बना हुआ है। इसकी शुद्धि का एक मात्र कारण रत्नत्रय धर्म है। इस प्रकार चिंतवन करना अशुचित्व भावना है। इसका अब मैं चिंतवन करके

इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता हूँ कि इस शरीर में रहता हुआ भी मेरा आत्मा पवित्र है उसका मैं ध्यान करूँ।

आस्रवभावना—

कर्म के आस्रव के दोषों का चिंतवन करना आस्रव भावना है। जिस प्रकार समुद्रमें अनेक नदियों का पानी आता है उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा कर्मोंका आना होता है। स्पर्श इन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी वध बंधन ताड़न आदि अनेक दुःख भोगता है। रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर मछली अपना कंठ छिदाती है। घ्राण इंद्रिय के वशीभूत होकर भ्रमर अपने जीवन को नष्टकर देता है। चक्षु इंद्रिय के वशीभूत होकर पतंग तथा कर्ण इन्द्रिय के वशीभूत हुआ हरिण अपने आपको नष्ट कर देता है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के अधीन वन कर मैंने अनेक दुःख अनादि कालसे प्राप्त किये हैं। अब मैं इन इन्द्रियजन्य सुखों का परित्याग कर शरीरस्थ अतीन्द्रिय आत्मसुख का चिन्तवन करूँ।

संवरभावनाः—

आस्रव का न होने देना संवर है। संवर के गुणोंका चिंतवन करना संवर भावना है। संवरके होनेसे कल्याणमार्ग में या मोक्ष-मार्ग में कभी रुकावट नहीं होती। कारण—मेरा आत्मा राग-रहित है। आने वाले राग को रोकने के लिये मैं राग-द्वेषादि से रहित वीतराग अखंड आत्मस्वरूप का चिन्तवन करके मैं परमात्मा वन जाऊँ।

निर्जराभावनाः—

एक देश कर्मों के क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकार की है। एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। प्रत्येक संसारी जीव को कर्म अपना फल देकर जो प्रत्येक समयमें खिरते रहते हैं वह सविपाक निर्जरा है और तपश्चरण के द्वारा जो कर्म खिरते हैं वह अविपाक निर्जरा है। सविपाक निर्जरा से आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता प्रत्युत नवीन कर्मों का बंध होता रहता है। अविपाक निर्जरा आत्म-कल्याण का कारण है। अब मैं अविपाक निर्जरा के कारण शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करूँ, अब आगे मुझको आत्म प्राप्ति के अलावा अन्य किसी वस्तु-प्राप्ति की जरूरत नहीं है।

लोकभावनाः—

लोक का चिंतवन करना लोक भावना है। अथवा इस लोकमें भरे हुए जीवों का उनके दुःखों का व अन्य पदार्थों का चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है। इस चिंतवन के करने पर परिभ्रमण से भयभीत प्राणी संसाररूपी बंधन से छूट जाता है।

जैसे आदि, मध्य तथा अंत रहित, शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्मदेवमें पूर्ण निर्मल केवलज्ञान नामका नेत्र है उसके द्वा जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बों का भान होता है, उसी प्रकार आत्मा में भी शुद्ध आत्मा आदि पदार्थ देखे जाते हैं, जो

हैं, परिच्छिन्न किये जाते हैं। इस कारण मेरा निज शुद्ध आत्मा ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चयलोकवाले निज शुद्ध परमात्मा में जो अवलोकन है वह निश्चय लोक है। जो व्यवहार लोक में जितने पदार्थ देखने में आते हैं वे सब मेरे निश्चय आत्म लोकको विभाव परिणति को करने वाले हैं। इसलिये इससे भिन्न स्वभाव परिणति वाला मेरी आत्मा का ही ध्यान करना मुझको इष्ट है।

बोधिदुर्लभ भावनाः—

इस संसार में अनंतानंत निगोद राशि भरी हुई है। एक निगोदिया जीवके शरीर में अनंतानन्त जीव भरे हुए हैं। ऐसे निगोदसे यह लोक घी के घड़े के समान भरा हुआ है। उनमें से निकलना समुद्र में गिरी हुई मणि के समान दुर्लभ है। यदि कोई जीव निकल भी आवे तो असंख्यात दो इन्द्रिय, असंख्यात तीन इन्द्रिय, असंख्यात चार इन्द्रिय, असंख्यात असैनी पंचेंद्रिय और असंख्यात सैनी में परिभ्रमण करता हुआ उत्तम कुल उत्तम जाति में उत्पन्न होना अत्यन्त दुर्लभ है। फिर अच्छे आयु को पाना, निरोग शरीर होना और फिर धर्म की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि उत्तम मनुष्य होने पर पर भी धर्म की प्राप्ति न हो तो सब व्यर्थ है। धर्म की प्राप्ति होने पर भी समाधि मरण प्राप्त होने पर ही सबकी सफलता होती है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य संसारी प्राणियो! अगर इस महान् भयानक संसार रूपी समुद्र से जल्दी पार होना

चाहते हो तो इस धर्म ध्यान के भेदों का भलि भांति अभ्यास तथा मनन करो। जब तक इस धर्म ध्यान का भलि भांति अभ्यास नहीं होगा तब तक मुमुक्षु जीवों को सच्चे सुख की प्राप्ति होना कठिन है। इसके अभ्यास होने से वैराग्य में पूर्ण स्थिरता आती है। वैराग्य में स्थिरता आने से कर्म की निर्जरा होने लगती है। तब जल्दी ही यह जीवात्मा संसार रूपी बन्धनों से छुटकारा पाकर इष्ट स्थान में पहुंच जाता है।

अलक्षं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्वमञ्जसा ॥

दृष्ट पदार्थ के संबंध से अदृष्ट का ध्यान करना कहा गया है। यहां प्रकरण में परमात्मा का ध्यान है। और परमात्मा जो अर्हंत सिद्ध परमेष्ठी हैं वह छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी के दृष्टिगत नहीं हैं। तथा उनके समान अपना स्वरूप मानना निश्चय नय से कहा है। वह भी शक्ति रूप है जो छद्मस्थ के अपने क्षयोपशम ज्ञान का उपयोग दृष्ट है। सो इसी के सम्बन्ध से सर्वज्ञ के आगम से परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। इसी से परमात्मा की प्राप्ति होती है।

अब ध्यान के भेदों को कहेंगे:—

आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा।
विचयो यः पृथक् सिद्धि धर्मध्यनचतुर्विधम् ॥

आज्ञा अपाय, विपाक तथा संस्थान इनका भिन्न भिन्न विचार अनुक्रम से करना ही धर्म ध्यान के चार भेद हैं। यहां विचय नाम विचार करने तथा चिंतवन करने का है। तथा इन चारों प्रकारों के नाम का उल्लेख नीचे लिखे अनुसार है।

आज्ञाविचय धर्म ध्यान का स्वरूपः—

जिस धर्म ध्यान में अपने जैन सिद्धान्त में प्रसिद्ध वस्तु स्वरूप को सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा की प्रधानता से चिन्तवन करना यह आज्ञा विचय धर्मध्यान का पहला भेद है। आज्ञा विचय धर्म ध्यान में तत्त्व अनन्त गुण पर्याय त्रयात्मक त्रिकाल गोचर साक्षात् जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा से सिद्ध हुआ ऐसे चिंतवन करना।

अपाय विचयः—

अपायः विचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणा यत्र सोऽपायः स्मर्यते बुधैः॥

अर्थात् जिस ध्यान में कर्मों का अपाय हो, तथा अनादिकाल से आत्मा के साथ संतान के रूप में लगे हुये मेरे आत्मा से कब इनका सम्बन्ध छुटेगा या छुटने की उपायों का चिंतवन करना, बुद्धिमान् पुरुषों ने अपाय विचय कहा है।

भावार्थः—इस ध्यान से ऐसा चिन्तवन होता है कि ये प्राणी श्रीमत्सर्वज्ञ भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुये सम्यग्ज्ञान,

सम्यक् चारित्र रूप मार्ग को न पाकर संसार रूप महान भयानक वनमें बहुत काल तक नष्ट होते हुये अर्थात् जन्म मरण रूप चक्र में परिभ्रमण करते हुए अनेक दुःख पाये, परन्तु इनको नाश करने का उपाय जो रत्नत्रय धर्म है जो प्राणी मात्र का हित करने वाला या इच्छित फल की प्राप्ति करा देने वाला है, ऐसे श्रेष्ठ धर्म को अभी तक मैंने नहीं पाया। फलतः निरन्तर संसार रूप महान् समुद्र में निमग्न होकर निरन्तर जन्म मरण के अधीन होते हैं अर्थात् दुःख पाते हैं। इस प्रकार चिंतवन करना यह अपाय विचय ध्यान है।

विपाक विचय धर्म ध्यानः—

ध्यायेत्कर्म विपाकं च सं सं योगानुभावजम्।
प्रकृत्यादिचतुर्भेदम् शुभाशुभविभागतः ॥

प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, अनुभागबंध और स्थितिबंध यह चारों प्रकार के शुभ और अशुभ बंध पूर्वजन्म के किये हुये पाप पुण्य के अनुसार जीव के साथ रहकर शुभाशुभ फल को देते हैं।

कर्म जातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम्।
असाध्यं नियतं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥

जीवों के कर्मों का समूह निश्चित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप, चतुष्टय को पाकर इस लोक में अनेक प्रकार से अपने नामानुसार फल को देता है।

स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनिता वादित्रमित्राङ्गजान् ।
कर्पूरागरुचंद्रचंदनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान् ॥
मातङ्गाश्व विहङ्चामरपुरीभक्ष्यान्नपानानि वा ।
छत्रादीनुपलभ्य वस्तुनिचयान्सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिनः ॥

ये प्राणी पुष्पमाला, सुन्दर शय्या, यान, आसन, वस्त्र, स्त्री बाजे इष्ट मित्र, पुत्रादिक तथा कपूर, अगुरु, चन्द्रमा, वनक्रीड़ा, पर्वत, ध्वजादिकों तथा हाथी घोड़े, पक्षी चमर नगर खाने योग्य अन्न पानादिक को और छात्रादि समुद्र को पाकर सुख का आश्रय करते हैं। अर्थात् भोगते हैं।

संसाररूपी मार्ग में रहते हुये जीव तलवार छुरा, यंत्र, बंदूक, भाला आदि शस्त्र और सर्व विप हाथी अग्नि तीव्र, खोटे ग्रहादिक को तथा दुर्गंधित सड़े हुये अंग, लट, कीड़े-कांटे, रज, क्षार, अस्तिकीच पापाणादि तथा वन्दी खाना, सांकल, किला, कांड़, वेड़ी, क्रूर, वैरी, वैर इत्यादि द्रव्यों को प्राप्त करके अनेक दुःख को भोगते हैं। इत्यादि भावनाओं का विचार करना विपाक विचय है।

संस्थान विचय धर्म-ध्यान का वर्णन:—

अनंतानंतमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम् ।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ॥

प्रथम तो सर्व तरफ अनंतानंत प्रदेशरूप आकाश है सो वह स्वप्रतिष्ठित है और वह आप ही अपने आधार है, क्योंकि उससे बड़ा अन्य कोई पदार्थ नहीं है जो उसका आधार हो। इस आकाश के मध्य में यह लोक स्थित है, सो श्रीमद् सर्वज्ञ देवने वर्णन किया है। इस कारण प्रमाणभूत है। क्योंकि असत्य कल्पना करके अन्य किसी ने नहीं कहा—सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष देखकर जैसा है वैसा ही वर्णन किया है। इस लोकमें जीव अनादि काल से जन्म-मरण को धारण करते हुये अनन्त दुःख भोगते हैं। और इस लोक के बीच त्रसनावली अर्थात् इस लोकके बीच में ऐसा पोल है उसमें जीव संपूर्ण तिल जैसे बांस के पोल में कूट-कूट कर खचा-खच भराया जाता है उसी तरह जीव भी अनादिकाल से भरे हुए हैं और पाप पुण्य के अनुसार हमेशा सुख दुःख पाते हैं। इस प्रकार विचार करना यही संस्थान विचय धर्म-ध्यान का चौथा भेद है। इसका विशेष वर्णन आगे चलकर जो अन्यत्र १० प्रकार के धर्म-ध्यान का विवेचन किया है उसी में इनका विवेचन करेंगे। उनका विवेचन निम्न लिखित है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह धर्म-ध्यान आत्म सिद्धि का मूल कारण है इसलिए भव्य संसारी प्राणियों के लिये इसका साधन तथा अभ्यास करना ही आत्म साधन का कारण है, परन्तु इसके पहले आत्मसिद्धि को प्राप्त करने वाले धर्म-ध्यान को रोकने वाले महान् तीक्ष्ण कुठार समान आत्मघात के कारणीभूत तथा

नरकादि गतियों में लेजाकर अनेक दुखों को देने वाले आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान को सबसे पहले त्याग कर अपने आत्मा में एकाग्र होना जरूरी है।

चित्त में चञ्चलता होना चिंता है। चिंता का एकाग्रता से निरोध करना ध्यान है। और वह वज्रवृषभनाराच संहनन के धारक जीवों के अंतर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है। इसलिये जिनका मन स्थिर नहीं है, जिनको सामायिक करने में वेदना होती है, रोना आता है तथा तकलीफ मालूम पड़ती है ऐसे मनुष्यों को चिंताकुल होने के कारण ध्यान नहीं हो सकता। आर्त्ति का अर्थ पीड़ा है और जिस ध्यान में पीड़ा सहनी पड़े उसे आर्त्तध्यान कहते हैं। एवं इसकी उत्पत्ति कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से होती है। आर्त्तध्यान के लक्षण दो हैं, पहला बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। रोना व विलाप आदि करना बाह्य लक्षण है और दूसरे का धन देखकर आश्चर्य करना तथा विषयों में आसक्ति रखना अन्तरंग लक्षण है। अपने आत्मा को तो आर्त्तध्यान का स्व संवेदन ज्ञान है और दूसरों को वह अनुमान ज्ञान से जान पड़ता है तथा इसके अप्रिय पदार्थों की उत्पत्ति न होने की चिंता, उत्पन्न हो जाने पर उससे छूट जाने का विचार, प्रिय वस्तु के वियोग न होने का ध्यान और वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति का विचार, ये चार प्रकार के भेद हैं।

अमनोज्ञ शत्रु विष शस्त्रादि बाह्य वस्तु और वातादिक प्रकोप उत्पन्न कुक्षिरोग, दन्तरोग, शूलरोगादि शारीरिक शोक अरति, भय उद्वेग विषाद, जुगुप्सा, दौर्मनस्य आदि मानसिक वेदनाकारक अप्रिय पदार्थों की उत्पत्ति न होने का ध्यान करना आर्त्त ध्यान कहलाता है। शत्रु व विष आदि का समागम हो जाने पर इसका कैसे नाश होगा, ऐसा विचार करना द्वितीय आर्त्त ध्यान है। पुत्र कलत्रादि चेतन तथा वन धन धान्यादि अचेतन है पित्तादिक के उपशम होने से आरोग्यता होना आदि शारीरिक सुख हैं, चित्त प्रसन्न रहना, प्रीति होना, शोक व भय का अभाव होना आदि मानसिक, प्रिय पदार्थों का इस लोक व परलोक में मेरा कदापि न वियोग हो, ऐसा विचार करना तृतीय आर्त्तध्यान है। पूर्व में उत्पन्न हुये प्रिय पदार्थों के विनिष्ट हो जाने पर उनकी चिंता करना चौथा आर्त्तध्यान है। इस आर्त्तध्यान का आधार अज्ञान और प्रमाद है। इसका फल तिर्यंच गति है। यह क्षयोपशम भाव है और पहले मिथ्यात्व गुण स्थान से लेकर छठे प्रमत्त गुण स्थान तक रहता है।

क्रूर जीव को रुद्र कहते हैं। उसके ध्यान का नाम रौद्र ध्यान है। और यह हिंसानन्द, परिग्रहानन्द, चौर्यानन्द और मृषानन्द के भेद से चार प्रकार का है। हिंसामें आनन्द मानना हिंसानन्द, परिग्रह में आनन्द मानना परिग्रहानन्द, चोरी में आनन्द मानना चौर्यानन्द और झूंठ बोलने में आनन्द मानना मृषानन्द है। रौद्र

ध्यान की कठोरता आदि अन्तरङ्ग लक्षण और क्रूर वचनादि बाह्य लक्षण है, जो कि स्वसंवेदन तथा अनुमान से जाने जाते हैं। समरम्भ (हिंसादि पापों में प्रवृत्ति का यत्न करना), समारम्भ (हिंसा के उपकरण शस्त्रादि का अभ्यास करना) और आरम्भ (हिंसादि पापों में प्रवृत होना) से हिंसा करने में तीव्र राग करना हिंसानन्द है। अपनी कल्पित युक्तियों के द्वारा उत्तम मार्ग से मनुष्यों को विचलित कर देना अर्थात् उन्हें ठगने का विचार करना मृषानन्द है। अज्ञान पूर्वक हठ से पर धन को चुराने में आनन्द मानना चौर्यानन्द है तथा स्त्री पुत्रादि चेतन एवं वस्त्राभरणादि अचेतन परिग्रहों के हम स्वामी हैं ऐसा चिंतन करना परिग्रहानन्द है। यह चारों प्रकार के रौद्र ध्यान कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से उत्पन्न होता है। और यह पहले से लेकर पांचवें गुण स्थान तक के जीवों को होता है, तथा यह अन्तर्मुहूर्त्त काल तक रहता है। तत्पश्चात् अन्य रूप धारण करता है और यह क्षयोशमिक भाव है। भाव लेश्या और कषायों से औदयिक रौद्र ध्यान भी होता है, इसका फल नरक गति है। शुद्ध आहार और विहारों से सुशोभित मोक्षाभिलाशी मनुष्यों को चाहिये कि वे पाप स्वरूप आर्त्त व रौद्र इन ध्यानों को त्याग कर धर्म ध्यान की ओर अपना उपयोग लगावें।

समस्त परिषहों के सहन करने वाले योगी के जब निर्जन, प्रासुक और क्षुद्र जीवों के उपद्रवों से रहित क्षेत्र, स्निग्ध शरीर रूपी द्रव्य,

अति उष्णता आदि से रहित काल और निर्मल भाव रूपी सामग्री प्राप्त हो जाय तो उस समय उसे प्रशस्त ध्यानों की आराधना करनी चाहिये। जो योगी गंभीर हो, स्तम्भ के समान निश्चल मूर्त्ति का धारक हो, पद्मासन से विराजमान हो, न अधिक खुले न अधिक बंद किये गये नेत्रों से युक्त हो, नीचे के दांतों पर ऊपर के दांतों को रखे हो, समस्त इन्द्रियों को वश में किये हो, शास्त्र का पारगामी हो, मन्द २ चलते हुये श्वास प्रश्वासों से सहित हो और मन के व्यापार को नाभि के ऊपर मस्तक में, हृदय में व ललाट में स्थापित किये हो, ऐसे योगी को चाहिये कि वह धर्म और शुक्ल ध्यान की आराधना करे। वाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को धर्म कहते हैं, और उससे च्युत न होकर जो ध्यान करता है वह धर्म-ध्यान कहलाता है। इसके भी दो लक्षण हैं। पहला वाह्य दूसरा आभ्यंतर। तत्वार्थशास्त्र का अवलोकन, शीलादि व्रतों का धारण और गुणों में अनुराग करना आभ्यंतर लक्षण है। जम्हाई, छींक, डकार और श्वास प्रश्वासों की मन्दता एवं शरीर की निश्चलता यह वाह्य लक्षण हैं। यह धर्म ध्यान इस प्रकार है कि :—

अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, वैराग्यविचय, भयविचय, संस्थानविचय, आज्ञा-विचय और हेतुविचय इन भेदों से दश प्रकार के हैं। इनमें अपाय का अर्थ विरह और विचय का अर्थ मीमांसा तथा विचार

है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति प्रायः संसार का कारण है। और मुझे हमेशा चारों गतियों में दुःख देने वाली है। मेरी इससे कब निवृत्ति होगी तथा मैं शाश्वत अखंड सुख की प्राप्ति कब करूँगा तथा हमारा सांसारिक दुःख कब छूटेगा, इस प्रकार विचार करना अपाय विचय धर्म-ध्यान है। पीत, पद्म, शुक्लरूप शुभ लेश्याओं से इसकी उत्पत्ति होती है। मेरे ज्ञान वैराग्यादि पवित्र भावों की उत्पत्ति कैसे होगी, सच्चे ज्ञान तथा कर्म-निर्जरा की साधन सामग्री की प्राप्ति कब होगी? इस प्रकार का विचार करना उपाय विचय है। यह जीव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनादि अनन्त है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सादि सान्त है। असंख्यात प्रदेश वाला है, सम्यक्-ज्ञानादि लक्षणों का धारक है। इनके सुख दुःख भोगने में सहकारी कारण अचेतन है और ये अपने किए हुए कर्मों का फल स्वयं भोगते हैं। ऐसा विचार करना जीव विचय है। धर्माधर्म आकाशादि अजीव द्रव्यों के स्वभाव का चिंतन करना अजीव विचय नामक धर्म-ध्यान है।

प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका तथा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों के विपाक (उदय) का विचार करना विपाक विचय है। यह शरीर अपवित्र है। मल-मूत्र का भंडार है और यह भोग किंपाक फल के समान विरस हैं। इस प्रकारका विचार करना "वैराग्य विचय धर्म-ध्यान" कहा जाता है।

नरक तिर्यंचादि चारों गतियों में मरकर परलोक जाना महा दुःख-दायी है, इस प्रकार भावना करना भवविचय धर्म-ध्यान है। यह लोकाकाश अलोकाकाश में है तथा चारों ओर घनवात, तनवात, व अम्बुवात इन तीन प्रकार के वातवलयों से वेष्ठित है। इत्यादि प्रकार से लोकों के संस्थान व आकार का विचार करना "संस्थान विचय धर्म-ध्यान है। बन्ध मोक्षादि अतीन्द्रिय पदार्थों के विषयों में जो सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने कहा है, वह सर्वथा सत्य है," इस प्रकार का निश्चय करना आज्ञा विचय है। जो मनुष्य तार्किक हैं, युक्तिपूर्वक पदार्थों को स्वीकार करने वाले हैं वे स्याद्वाद नय से सन्मार्ग का आश्रय करते हैं, इत्यादि विचार करना "हेतुविचय" है। यह धर्म-ध्यान अप्रमत्त गुणस्थान में होता है। प्रमाद का नाशक है, पीत-पद्म लेश्या से उत्पन्न होता है। इसका काल अन्त-र्मुहूर्त्त है। यह क्षयोपशमिक भाव है और स्वर्ग मोक्षरूप फल प्रदान करने वाला है। इसलिये मुमुक्षु भव्य जीवों को चाहिये कि वे अवश्य इस ध्यान की आराधना करें।

अब जो ऊपर के प्रकरण में सबसे पहले चार प्रकार के धर्म-ध्यान का विवेचन किया था उनमें से संस्थान विचय के अंत-र्गत पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत, इस प्रकार चार प्रकार के ध्यान का वर्णन करेंगे।

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जिते।
चतुर्धा ध्यानमाख्यातं भव्यराजीवभास्करैः॥
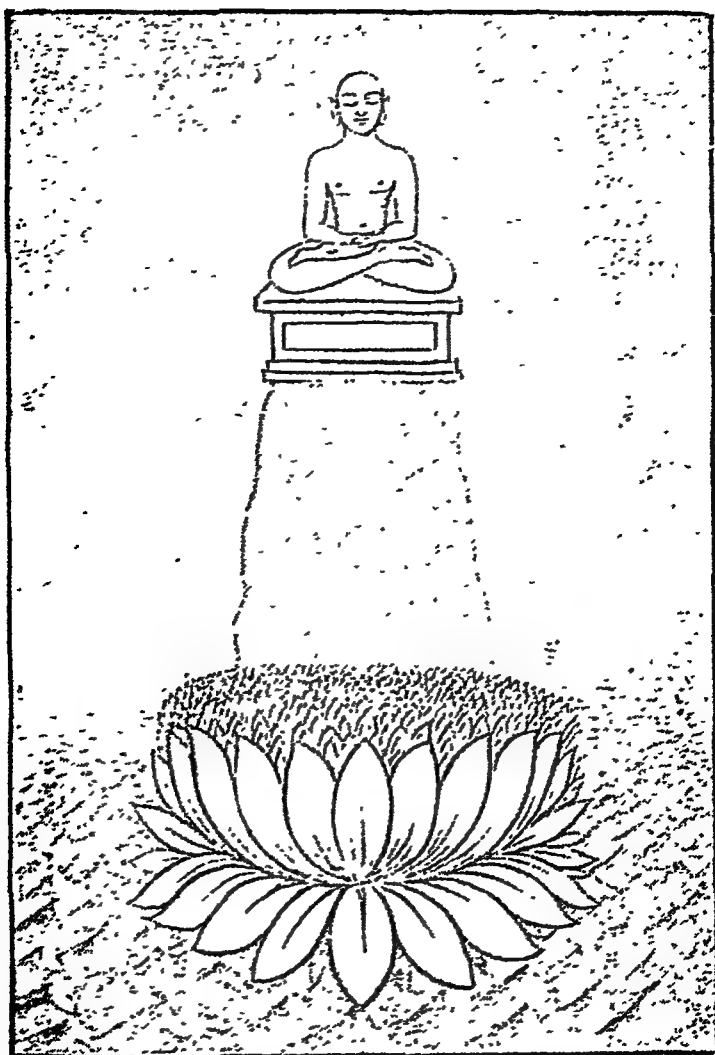
पिंडस्थ ध्यान की पार्थिवी (पृथ्वी) धारणा का स्वरूप

जो भव्यरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान् योगीश्वर हैं उन्होंने पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे ध्यान चार प्रकार के कहे हैं।

पिंडस्थ ध्यान का स्वरूप।

पिंड शरीर को कहते हैं। इसमें स्थित जो आत्मा है उसको पिंडस्थ कहते हैं। उस आत्मा का ध्यान करना सो पिंडस्थ ध्यान है। इसके लिये पाँच धारणायें बताई गई हैं:—

(१) पार्थिवी (२) आग्नेयी (३) श्वसना या वायु (४) वारुणी या जल (५) तत्त्व रूपवती। इनको क्रम २ से अभ्यास में लावें।

(१) पार्थिवी धारणा:—

(१) इस मध्य लोक को क्षीर समुद्र समान निर्मल जल से भरा हुआ चिन्तवन करे, उसके बीच में जम्बू द्वीप के समान एक लाख योजन चौड़ा एक हजार पत्तों को रखने वाला तपाये हुये सुवर्ण के समान चमकता हुआ एक कमल विचारे। कमल के बीच में कर्णिका के समान सुवर्ण के पीले रंग का सुमेरु पर्वत चिन्तवन करे, उसके ऊपर पाण्डुक वन में पाण्डुक शिला पर स्फटिक का सफेद सिंहासन विचारे। फिर यह सोचे कि उस सिंहासन पर मैं आसन लगाकर इसलिये बैठा हूँ कि मैं अपने कर्मों को जला डालूँ और आत्मा को पवित्र कर डालूँ। इतना चिन्तवन बार २ करना पार्थिवी धारणा है।

(२) आग्नेयी धारणाः—

फिर वहीं सुमेरु पर्वत के ऊपर बैठा हुआ वह ध्यानी अपने नाभि के भीतर के स्थान में ऊपर हृदय की तरफ से उठा हुआ व फैला हुआ सोलह पत्तों का कमल सफेद वर्णका विचार करे और उसके हर एक पत्ते पर पीतरंग के सोलह स्वर लिखे हुए, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः विचारे। इस कमल के मध्य में जो कर्णिका सफेद रंग की है उस पर पीले रंग का र्हं अक्षर लिखा हुआ सोचे। दूसरा कमल ठीक इस कमल के ऊपर औंधा नीचे की तरफ मुँख किये हुये आठ पत्तों का फैला हुआ विचार कर उसे कुछ मटीले रंग का सोचे। इसके हर एक पत्ते पर काले रंग के लिखे हुए आठ कर्म (ज्ञानावरणीयकर्म, दर्शनावरणीयकर्म, वेदनीयकर्म, मोहनीयकर्म, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म, और अंतराय कर्म) सोचे।

फिर नाभि के कमल के बीच में जो 'र्हं' लिखा है उसके रेफ से धुआँ निकलता विचारे, फिर अग्नि की शिखा होती हुई सोचे। यह अग्नि की लौ बढ़ती हुई ऊपर को आवे और आठ कर्मों को जलते हुये सोचे। फिर यह अग्नि की लौ कमल के मध्य में छेद कर ऊपर मस्तक पर आ जावे और उसकी एक लकीर बाईं तरफ तथा एक दाहिनी तरफ आ जावे। फिर नीचे की तरफ आकर दोनों कोनों को मिलाकर एक अग्निमय लकीर बन जावे अर्थात् अपने

आग्नेयधारणा

SHREE VEER PRESS, JAIPUR.

शरीर के बाहर तीन कोण का अग्नि मण्डल होगया, ऐसा सोचे ! आग की लकीरों का त्रिकोण बन गया ऐसा विचारे।

इसकी तीनों लकीरों में ररर अग्निमय लिखा हुआ विचारे अर्थात् तीनों तरफ रर अक्षरों से ही यह अग्नि मण्डल बना है ऐसा सोचे। फिर इस त्रिकोण के बाहर तीनों कोनों पर स्वस्तिक (साथिया) अग्निमय लिखा हुआ व भीतर तीन कोने में हर एक पर ऊँर्ं ऐसा अग्निमय लिखा हुआ विचारे। फिर सोचे कि भीतर तो आठ कर्मों को और बाहर इस शरीर को यह अग्नि मण्डल जला रहा है। जलाते २ राख हो कर सर्व शरीर व कर्म राख हो गये तब अग्नि धीरे २ शांत हो गई, इतना विचारना आग्नेयी धारणा है।

(३) श्वसना या वायु धारणाः—

फिर वही ध्यानी ऐसा चिन्तवन करे कि चारों तरफ बड़े जोर से निर्मल पवन बह रही है व मेरे चारों तरफ वायु ने एक मंडल गोल बना लिया है। उस मंडल में आठ जगह घेरे में 'स्वाय स्वाय' सफेद रंग का लिखा हुआ है। फिर ऐसा सोचे कि यह वायु उस कर्म व शरीर की राख को उड़ा रही है व आत्मा को साफ कर रही है ऐसा ध्यान करे।

(४) वारुणी या जल धारणाः—

फिर वही ध्यानी विचार करे कि आकाश में मेघों के समूह आगये। बिजली चमकने लगी, बादल गरजने लगे, खूब जोर से

पानी बरसने लगा ! अपने को बीच में बैठा विचारे, अपने ऊपर अर्द्ध चन्द्राकार पानी का मण्डल विचारे जो 'पप' रूप है।

ध्यान के समय ध्याता को प्रसन्न मुख रहकर पूर्व या उत्तर को मुख करना चाहिए, यही प्रशंसनीय है, दर्शन ज्ञान और चारित्र के धारी, जितेन्द्रिय मानादि रहित ऐसे असंख्य साधु पूर्व काल में मोक्ष गये हैं, वे भी पूर्वोत्तर मुख होकर ही ध्यानस्थ हुये थे ! पहले हाथ लटकाये हुयें नौ दफे णमोकार मंत्र अपने मनमें पढ़े, फिर मस्तक भूमि में लगाकर नमस्कार करें ! तब मन में यह प्रतिज्ञा कर ले कि जब तक इस आसन से नहीं हटूँगा तब तक या इतने समय तक सर्व अन्य परिग्रह का त्याग है, जो कुछ मेरे पास है उसके सिवाय तथा चारों तरफ एक २ गज भूमि को रखकर सबभूमि को भी त्यागता हूँ। फिर कायोत्सर्ग खड़ा होकर तीन दफे या नौ दफे णमोकार मंत्र पढकर तीन आवर्त्त और एक एक शिरोनति करे ! दोनों हाथ जोड़कर अपने बाये हाथ से दाहिनी तरफ तीन दफे घुमावें ! फिर उन जोड़े हुये हाथों पर अपना मस्तक चारों ओर झुकावे ! इसका प्रयोजन यह है कि इस इस तरफ जितने वंदनीय तीर्थ, धर्मस्थान अरहंत व साधु आदि हैं उनको मन, वचन, काय तीनों से नमस्कार करता हूँ।

फिर अपने दाहिनी ओर खड़ा २ हाथ लटकाये हुये मुड़ जावे। इधर भी नौ या तीन दफे णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करे; फिर पीछे, फिर चौथी तरफ, इसी तरह करे।
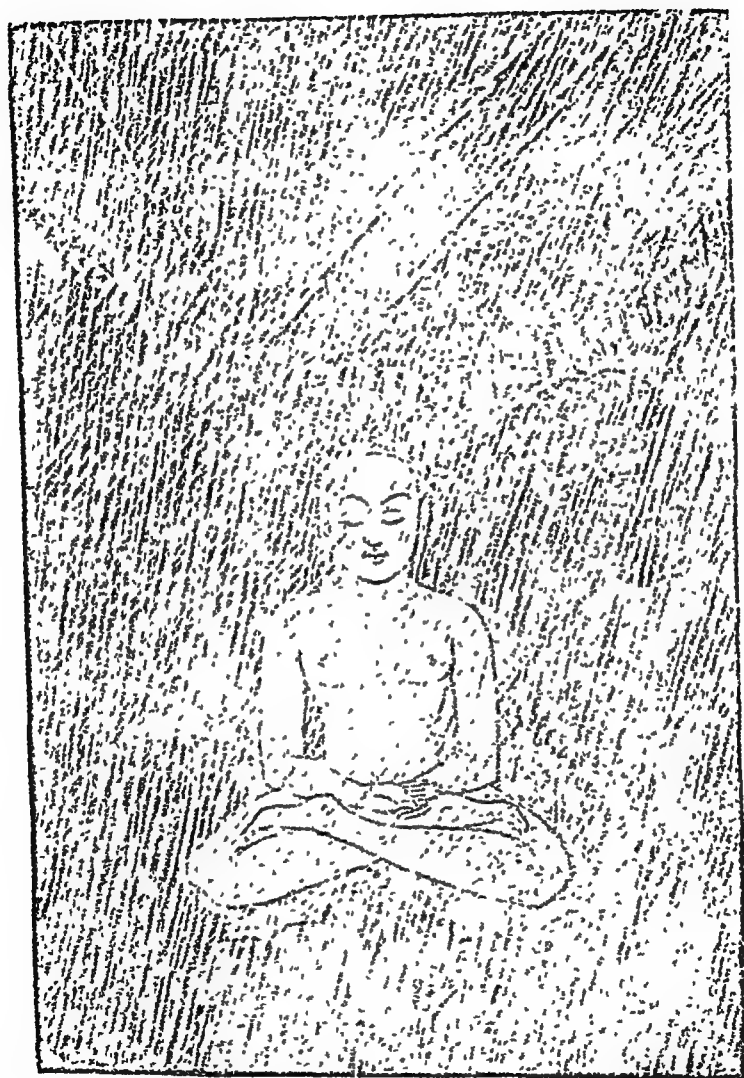
पिंडस्थ ध्यान की वारुणी (जल) धारणा का स्वरूप

पश्चात् जिधर पहले मुख करके खड़ा हुआ था उधर ही आकर बैठ जावे। पद्मासन, पल्यंकासन जमा ले या कायोत्सर्ग ही रहे। सबसे पहिले सामायिक पाठ मन में अर्थ विचार करता हुआ मंद स्वर से पढ़ा जावे।

पाठ पढ़ने से मन सब तरफ से खिंच आवेगा व तत्त्व की भावना बढ़ जावेगी। यदि मनमें स्थिरता न हो तो छोटा सामायिक पाठ पढ़ लेवे। फिर णमोकार मंत्र का या अन्य किसी मंत्रका १०८ बार जाप करना हो तो जपने की माला अपने दाहिने हाथ में लेकर ३५ अक्षरों का णमोकार मंत्र पढ़ कर धीरे २ अपने अंगुठा से एक २ दाना सरकाते जावे और नासाग्र दृष्टि से मनको अन्तःकरण में स्थिर करके मन, वचन, काय की एकाग्रता से जपना चाहिये। इसके अलावा मंत्र का जाप हाथ की अंगुली पर कर सकते हैं। अपने हाथ की पांचों अंगुलियों में से कनिष्ठ अंगुली को छोड़कर तीन अंगुलियों में नो खाने हैं उनमें से सबसे बीच की अंगुली के बीच के खाने से प्रारंभ करके ऊपर के खाने से जपते हुए नीचे के स्थान में आना चाहिये। ऐसे घुमाते हुए अनामिका के अंगुठी के नौवें खाने पूरा होने से नौ जाप पूरा होता है। इस तरह बार २ जपने से १०८ मंत्र होता है इसको एक बार पूर्ण हुआ ऐसा कहा जाता है। तीसरी विधि यह भी है कि:—

एक कमल आठ पत्ते का हृदय में स्थान बनाले, हर एक पत्ते पर बारह बिंदु रखले, और कमल के बीच में बारह बिंदु रखले तब १०८ बिंदुओं का कमल होगया।

अब हर एक पत्ते को लेते हुए बाईं तरफ से दाहिनी तरफ जपता हुआ आवे या पहले पूर्व दिशा के पत्ते के १२ बिंदु पर १२ दफे मंत्र जपे, फिर पश्चिम के पत्ते पर, फिर दक्षिण के, फिर उत्तर के पत्ते पर जपकर पूर्व दक्षिण के कोनों के पत्ते को जपे। फिर दक्षिण पश्चिम के, फिर पश्चिम उत्तर के, उत्तर पूर्व के पत्ते पर, बीच के बारह बिन्दुओं पर जाप करे। यह मन को जाप चित्त को एकाग्र रखने वाली है।

जाप के पीछे ध्यान का अभ्यास करे। सुगम विधि यह है कि अपने शरीर को एक घड़ा माने और अपने आत्मा को निर्मल गंगा जल माने और उसमें मनको बार २ डुबाने का अभ्यास करे। जब मन हटे तब ॐ या सोहं, अर्हं, सिद्धं ऐसा मंत्र जपना या आत्मा के शुद्ध गुणों का चिंतवन करले, ऐसा बार २ मनको डुबाने का अभ्यास करे।

रूपातीतः —

सिद्ध भगवान के पुरुषाकार ज्ञानानंद मय स्वरूप का ध्यान करे। जब मन एकाग्र होता है वीतरागता प्रगट होती है तब बहुत कर्म झड़ते हैं, आत्मा आत्म-ध्यान के उपाय से ही परम पवित्र परमात्मा हो जाता है। इस प्रकार ध्यान करना यह रूपातीत ध्यान है।

ग्रंथकार ने अगले श्लोक में बताया है कि इस तरह ध्यान करने से क्षण क्षण में कर्मकी निर्जरा होती है। ऐसा कहते हैं—
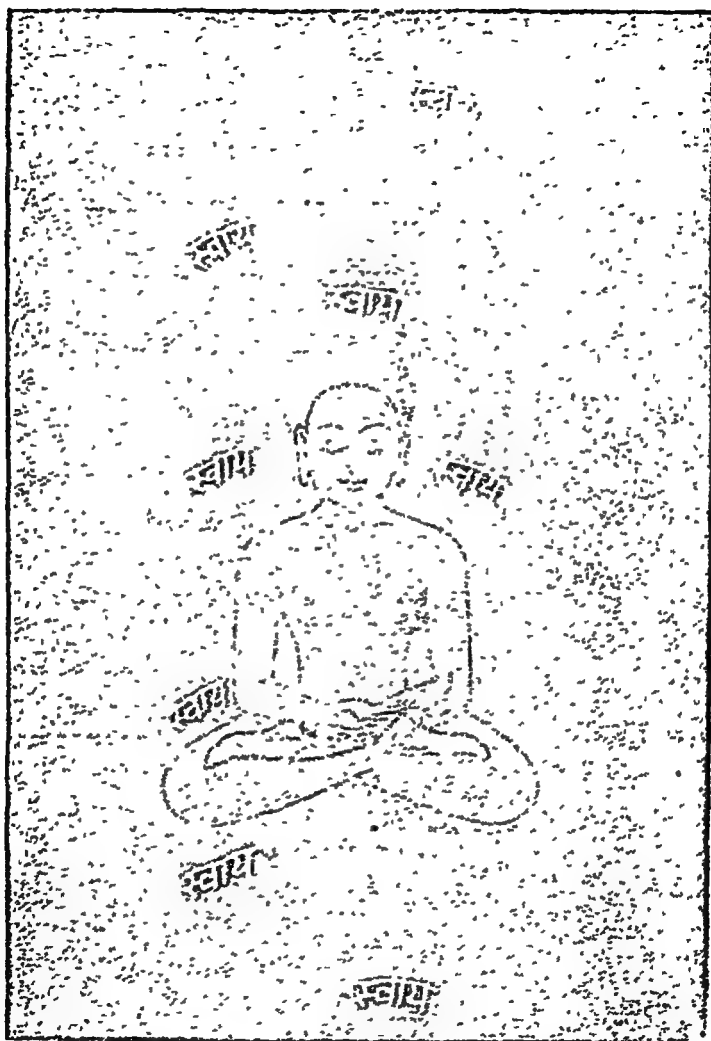
पिंडस्थ ध्यान की वायु धारणा का स्वरूप

आ पददोळ् क्षण क्षणके कर्मसमूहके हानि सद्गुणो-
द्दीपिकेयप्पुदोदिन परिश्रममु तपदुव्वेयु सुधा ॥
रूपमनेय्दुतिकुंमदरिदं दनेसकल प्रपत्नदिं ।
स्थापिसि मुक्तियं पडेवुदें देयला अपराजितेश्वरा ! ॥५॥

हे अपराजितेश्वर ! उस स्थान में क्षण क्षण में ही कर्मसमूहों का नाश और अच्छे गुणों की वृद्धि होती रहती है। कठिन तप के द्वारा शास्त्राध्ययन में किया हुआ परिश्रम अमृत के समान शीघ्र फल देता है। इसलिये इन प्रयत्नों से अपने आत्मा में मन को स्थिर करके मोक्ष को प्राप्त करता है ॥५॥

O, Aparajiteshwar ! At that stage, the karmic muster gets destroyed & good virtues develop every moment. The exertion devoted to the study of holy scriptures & to hard austerities attains to immortality. Therefore, to obtain liberation, concentrating the mind through these means, is the way, you have shown.

विवेचनः—

ऊपर के श्लोक में ग्रन्थकार ने मनको स्थिर करने का विवेचन करते हुये कहा कि—बारह भावना पूर्वक पदस्थ पिंडस्थ रूपस्थ तथा रूपातीत का ध्यान करते हुये पंच परमेष्ठियों को अपने हृदय में स्थापित करके मन को उसी में लगाने से मन की चञ्चलता दूर होकर स्थिर हो जाता है।

तत्पश्चात् शास्त्र स्वाध्याय व्रत तथा नियमादिक में किये हुये परिश्रम का फल अमृतकी भाँति प्रतिक्षण उपलब्ध होता रहता है। और इससे आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुये कर्म मल क्षण २ में नष्ट होते जाते हैं।

कोई शंका करता है कि:—कर्म बंध का क्या कारण है?

समाधान:—जीव और कर्म ये दोनों अनादि काल से हैं। इनका संबंध परस्पर में बीज और वृक्ष के समान चला आ रहा है। यह जीव पाप और पुण्य अर्थात् शुभाशुभ कर्मानुसार कभी सुख व कभी दुःख प्राप्त करके क्षणिक भोगों को भोग रहा है। साथ ही साथ कभी पशु, कभी पक्षी, कभी नारकीय तथा कभी तिर्यंचादिक दुर्गतियों में भ्रमण करता हुआ आ रहा है। यह लोक अनन्त आकाश के मध्य में तीन वातवलय पर आधारित अत्यन्त दीर्घ रूप से व्याप्त है। जिस प्रकार रबड़ की थैली में हवा भरी रहती है उसी प्रकार तीनों वातवलयों के मध्य में यह सर्व लोक व्याप्त है। इसके ऊपर स्वर्ग लोक, अग्रभाग में सिद्ध शिला है तथा उसके ऊपर अनन्त सिद्ध भगवान अचल रूप से विराजमान हैं। हम लोग जहाँ रहते हैं वह मध्यलोक तथा इसके नीचे अधोलोक है। इन तीनों लोकों में सर्वदा असंख्यात जीव भरे रहते हैं तथा अपने २ कर्मानुसार सुख दुःख का अनुभव करते हैं। ऊर्ध्वलोकवासी जीवों से लेकर अधोलोक पर्यन्त अर्थात् तीनों लोकों के जीव जन्म मरण के दुःखों का अनुभव
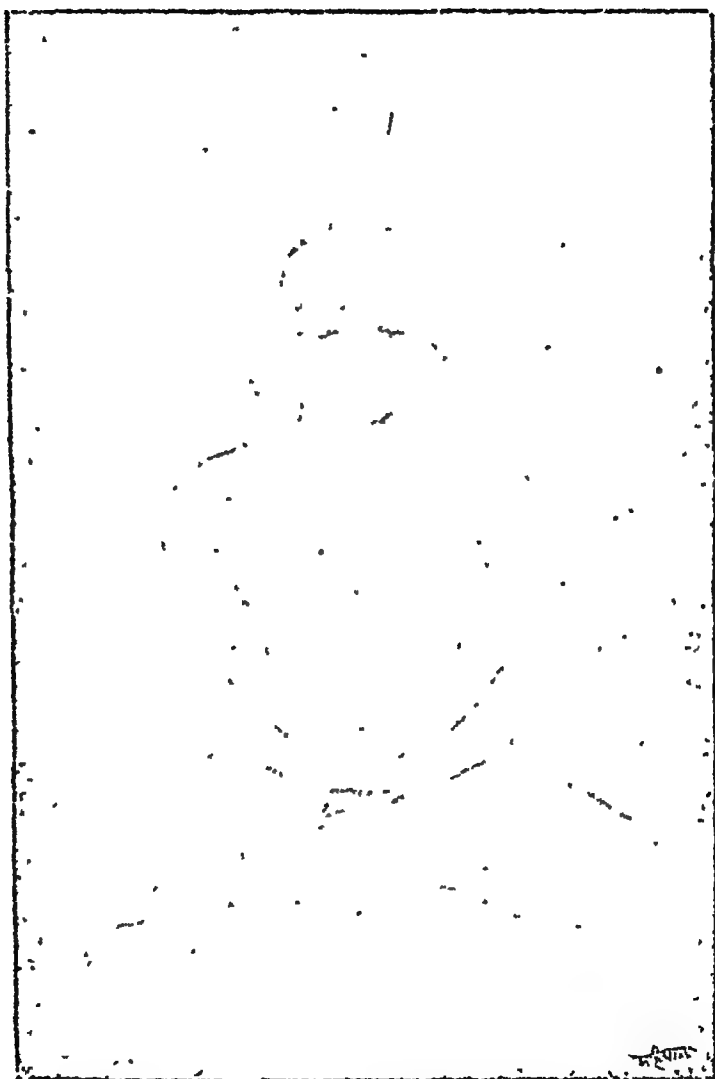
पिंडस्थ ध्यान की तत्त्व रूपवती धारणा का स्वरूप

करते हैं। परन्तु सिद्धशिला में विराजमान सिद्ध भगवान को जन्म मरण आदि का कुछ भी दुःख नहीं है। किन्तु यह संसारी जीवात्मा कभी मनुष्य कभी देव, कभी नारकीय, कभी हाथी, कभी पशु तथा कभी एकेन्द्रिय वृक्ष आदि योनियों में भ्रमण करता रहता है। इस प्रकार उपर्युक्त योनियों में शुभाशुभ कर्मानुसार जीव जन्म लेते रहते हैं।

यह जीव कभी दरिद्री कभी धनिक तथा कभी स्त्री पर्याय प्राप्त करके अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करता रहता है।

इस प्रसंग में राजा भरतजी से एक वार उनकी "विद्यामणि" रानी ने प्रश्न किया कि महाराज! आप कहते हैं कि संसार दुःख मय है। और सिद्ध शिला सुख की खानि है तो प्राणनाथ! अविनाशी सुख प्राप्त करने का क्या उपाय है? कृपा करके हम लोगों को उसका मार्ग वतलाइये। भरतजी ने उत्तर दिया कि हे देवि! कर्म के जाल को नष्ट कर देने से सभी सिद्धों के समान सुखी हो सकते हैं।

रानी ने फिर पूछा कि—स्वामिन्! कृपा करके कर्म नष्ट होने का उपाय वतलाइये?

भरतजी ने उत्तर दिया कि हे प्रिये! भगवान् जिनेन्द्र देव की भक्ति तथा अन्य और सत् क्रियाओं द्वारा अशुभ कर्मों का नाश किया जा सकता है। वह जिनेन्द्र भक्ति तथा सिद्ध भक्ति भेद और अभेद रूप से दो प्रकार की है।

भेद-भक्तिः—

अपने सामने जिनेन्द्र भगवान् और सिद्धों की प्रतिकृति को रखकर उपासना करना, अपने आत्मा में उनको विराजमान करके उनकी उपासना करना भेद-भक्ति कहलाती है। सर्व प्रथम भेद-भक्ति का अभ्यास करना चाहिये तथा इसके अभ्यास होनेके पश्चात् धीरे २ अभेद भक्ति की आराधना करने से कर्ममल समूल स्वयं नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि कर्ममल का नाश करने के लिये अभेद-भक्तिपूर्वक आराधना की ही परमावश्यकता है। इस वचन को सुनकर विद्यामणि रानी पुनः प्रार्थना करने लगी कि स्वामिन्! आपकी दया से हमें भेद-भक्ति के स्वरूप का ज्ञान व अभ्यास है; परन्तु अभेद भक्ति में चित्त नहीं लगता। अतः उस दिव्य भक्तिके विषय में हमें समझा कर उनमें हमारी श्रद्धा लगा दीजिये।

भरतजी—हे देवि! जिस प्रकार तुम जिन मंदिर में अपने सामने भगवान को रखकर उनकी उपासना करती हो उसी प्रकार तनुवात में आत्मा को स्थिर करके उपासना करना अभेद भक्ति कहलाती है। वह आत्मा शरीर प्रमाण है; पर उसमें रहते हुए भी उससे अलग है। वह पुरुषाकाररूप चिन्मय है। इस प्रकार जानने से उस आत्मा का दिव्य दर्शन होता है।

जिस प्रकार स्फटिक मणि की मूर्ति धूल में रखने से धूलरूप मैली दीखती है उसी प्रकार शुभ्र परम विशुद्धात्मा का स्वरूप इस

शरीररूपी मैल के संयोग से मैला प्रतीत होता है। क्योंकि इसके भीतर उसका तेजःपुञ्ज छिपा हुआ है यदि अपने अन्तःकरण में उसके देखने का प्रयत्न करोगे तो वह स्वच्छ दृष्टिगोचर होगा।

स्फटिक मणि की प्रतिमा को चर्म-चक्षु से देख तथा हाथसे स्पर्श कर सकते हैं; परन्तु उपर्युक्त आत्मा विलक्षण वस्तु है। क्योंकि इसे चर्म-चक्षु से देख व हाथ से स्पर्श नहीं कर सकते। इसे तो आकाश के रूप में बनाई हुई स्फटिक मणि की मूर्ति समझो। इसका दर्शन ज्ञान चक्षुसे ही हो सकता है, अन्य से नहीं।

इस संसार में मोह और आशा बहुत खराब है। इनकी उत्पत्ति पर पदार्थों के निमित्त से होती है। इस मोह ने ही आत्मा को अभेद भक्ति से च्युत किया है। इसलिये सर्व प्रथम मोह और आशा को छोड़कर एकान्त में आँखें बन्द करके आत्मस्वरूप का चिंतन व अभ्यास करना चाहिये, जिससे कि आत्मा का साक्षात् दर्शन हो जाय।

परन्तु यदि आत्मा का अवलोकन एक, दो अथवा तीन दिनमें सहसा करना चाहो तो नहीं हो सकता। उसको देखने के लिये प्रमाद को छोड़कर रुचिपूर्वक ध्यान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये क्योंकि जैसे जैसे क्रम से उसका अभ्यास किया जायगा वैसे वैसे दिव्यात्मा का प्रकाश अन्तःकरणमें प्रकाशित होने लगेगा।

हे हिताकांक्षिन्! इस प्रकार की अभेद भक्ति करने से कर्मों का नाश हो सकता है। सभी धर्मों में यही धर्म उत्कृष्ट है सभी

ज्ञानियों ने इसी को इष्ट माना है। जिनका होनहार खराब है, ऐसे अभव्य उपर्युक्त धर्म को नहीं मान सकते।

विद्या मणि देवी पुनः उठकर खड़ी हो गई और हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक पूछने लगी कि हे स्वामिन्! इस अभेद भक्ति का अभ्यास केवल पुरुषों को ही होता है या स्त्रियों को भी होता है? कृपा करके इसका रहस्य हमें समझाइये।

भरतजी—हे देवि! इस भक्ति का वर्णन "धर्म और शुक्ल" इन दो नामों से किया गया है, परन्तु ये दोनों केवल कथनमात्र से ही दो प्रकार की हैं। इनका वास्तविक स्वरूप तो एक ही है; क्योंकि इन दोनों का अवलंबनरूप आत्मा एक है।

इस भक्ति का अभ्यास या ध्यान करते समय यदि आत्मा का प्रकाशरूप अल्प प्रमाण में दिखाई दे तो उसे धर्म-ध्यान और यदि विशिष्ट प्रकाश दिखलाई दे तो उसे शुक्लध्यान समझना चाहिये। ग्रीष्मकाल अर्थात् ज्येष्ठ महीने की गर्मी और वर्षा काल की गर्मी में जितना अन्तर रहता है उतना ही अन्तर उपर्युक्त दोनों भक्तियों में समझना चाहिये।

इसी भव से "मोक्ष पद" प्राप्त करने वाले आसन्न भव्य को शुक्लध्यान और क्रम से दो, तीन या चार भव में "मोक्षपद" प्राप्त करने वाले को धर्म-ध्यान होता है।

स्त्रियों को इस भव अर्थात् स्त्री-पर्याय से "मोक्षपद" नहीं प्राप्त होता। इसलिये उन्हें शुक्ल ध्यान नहीं होता। परन्तु हे देवि ! निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्मध्यान स्त्रियों को भी होता है और इस ध्यान से स्त्री पर्याय का नाश होकर निश्चय से देवगति की प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर उस भव से मोक्ष की प्राप्ति स्त्रियाँ भी कर सकती हैं, "यह जिनेन्द्र भगवान् की वाणी है अतः इस वाणी पर निश्चय से विश्वास करो।

तदनन्तर श्री भरतेशजी से इसी समय खड़ी होकर "विनयावती रानी" ने प्रश्न किया कि हे स्वामिन् ! देवगति में जाने के लिये कौनसी भावना की जरूरत है तथा किस भावना से मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है ?

भरतजी—हे देवि ! पुण्य की भावना से स्वर्ग, पाप की भावना से नरक व तिर्यंचादिक तथा पुण्य और पाप की समानता होने से मनुष्य गति की प्राप्ति होती है।

इस वचन को सुनकर "विनयावती रानी" ने हाथ जोड़कर पुनः प्रश्न किया कि हे नाथ ! पुण्य और पाप की भावना किस तरह से होती है ? उसके लिये क्या साधन करना चाहिये ?

भरतजी—हे देवि ! दान, पूजा, व्रत, आचरण, शास्त्रस्वाध्याय तथा ध्यान आदि करने से, कुल जाति की मर्यादा रखने से

तथा जीवदया व तीर्थयात्रा की वंदना आदि शुभ कार्य करने से पुण्य कर्म का बंध होता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, भोगों में आसक्ति, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह तथा आकांक्षा आदि अशुभ कार्य करने से पापकर्म का बंध होता है। हे प्रिये ! इस बात का ध्यान रक्खो कि जो पाप और पुण्य के आधीन होकर कर्म करता है वह सर्वदा संसार में परिभ्रमण किया करता है और जो पाप और पुण्य दोनों को समान दृष्टि से बंध रूप देखकर अपने आत्मा में स्थित रहता है वह अधिक समय तक संसार में परिभ्रमण न करके शीघ्रातिशीघ्र मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

"विनयावनो रानी" ने हाथ जोड़कर पुनः प्रार्थना की कि हे स्वामिन् ! स्वर्ग सुखका अनुभव कराने वाले पुण्य और दुर्गति को लेजाने वाले पाप को समान दृष्टि से कैसे देखा जाय ?

भरतजी—हे देवि ! स्वर्ग का सुख व नरक की वेदना ये दोनों नित्य नहीं हैं। ये दोनों स्वप्न के समान हैं अतः इनमें भ्रम करने की कोई बात ही नहीं है।

जिस प्रकार एक मनुष्य वृक्ष के ऊपर से नीचे गिरकर दुःखी होता है तथा धीमर द्वारा पानी में से निकाल कर बाहर सूखी हुई जमीन में फेंक देने पर जितनी वेदना मछलियों को होती है, उससे अधिक वेदना स्वर्ग से च्युत होनेवाले देवों को होती है। हां इतना

अन्तर अवश्य है कि पुण्य के द्वारा कुछ दिन तक स्वर्ग में भोग सामग्री के सुख का अनुभव होनेके पश्चात् नीचे गिरकर दुःख भोगना पड़ता है और पाप के द्वारा नरक में जाने से सर्वदा दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है; क्योंकि वहां सुख लेशमात्र भी नहीं है। जिस प्रकार गड्ढे में गिरा हुआ बच्चा रोते पीटते हुये ऊपर आकर चढ़ता है उसी प्रकार नारकीय जीव वहाँ के दुःखों को भोगने के बाद आते हैं।

नारकीय और स्वर्गीय देवोंके शरीर धारण करने पर केवल इतना ही अन्तर रहता है जितना कि बोझा ढोने वाले के सिर पर चंदन की लकड़ी और बबूल की लकड़ी का बोझा रहता है। भार-वाहक के लिए तो चंदन और बबूल दोनों भार ही हैं; केवल सुगंधि और दुर्गंधि की विशेषता रहती है। इसी प्रकार पाप और पुण्य दोनों बंधन हैं। जैसे दर्पण में लगे हुए कीचड़ को पानी से स्वच्छ करने पर प्रत्येक वस्तु परम निर्मल दिखाई देती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ अनादिकाल से लगे हुए पाप और पुण्यरूपी कर्म-मलको आत्मध्यान रूपी जल से धोने पर आत्मा अत्यंत निर्मल होकर अपने स्वरूप में लीन हो जाता है।

हे प्रिये ! पुण्य और पाप का त्याग सहसा नहीं कर देना चाहिये। पहले मनुष्य को पाप क्रिया छोड़कर अपनी प्रवृत्ति पुण्य में लगानी चाहिये। पुनः आत्म-योग का साधन करने के लिए

अभ्यास करना चाहिये। जब उसकी पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाय, तब पुण्य कर्म का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

जिस प्रकार धोबी पहले कपड़े को मसाले के अन्दर भिगोकर खूब छाँटता है तत्पश्चात् काफी पानी में डालकर उसे खूब पीटता है, तब वह जाकर स्वच्छ होता है। केवल मसाले वाले पानी में डुबोने मात्र से ही कपड़ा कभी नहीं स्वच्छ हो सकता। इसी प्रकार पहले पुण्य के द्वारा पापवासना का लोप करना चाहिये। यदि उस पुण्यवासना को आत्म योग-रूपी जल से न धोवे तो आत्मा जगत्पूज्य कभी नहीं हो सकता।

यहाँ पर वस्त्र के मल की जगह पर पाप, मसाले की जगह पर पुण्य और स्वच्छ पानी की जगह पर आत्मयोग है। पहले कुछ पुण्य संपादन करना चाहिये, परन्तु कुछ काल के पश्चात् आत्म योग में बिल्कुल रत हो जाने पर पुण्य-पाप की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिये पुण्य और पाप दोनों को समान दृष्टि से देखना चाहिये।

उपर्युक्त वचन को सुनकर "चन्द्रिकावती रानी" ने हाथ जोड़ कर विनय किया कि हे स्वामिन्! आपने हमें उपदेश दिया है कि पुण्य और पाप इन दोनों को समान तथा पाप के बंध का कारण मानकर छोड़ देना चाहिये; किन्तु यह बात हमारी समझ में नहीं बैठती है क्योंकि यदि पाप और पुण्य ये दोनों पाप ही के कारण

हैं, तो फिर आप, जिनेन्द्र भगवान की पूजा, मुनियों को आहार-दान, शास्त्र स्वाध्याय, सज्जनों की संगति व रक्षा, दुर्जनों को दण्ड तथा व्रतोपवासादिक धार्मिक कार्य करके पुण्योपार्जन क्यों कर रहे हैं? क्या आप की शिक्षा "परोपदेशे पाण्डित्यम्" अर्थात् केवल दूसरे के उपदेश के लिये ही है, अपने के लिये नहीं?

भरतजी—हे देवि! तुम्हारा प्रश्न ठीक है, परन्तु इसका उत्तर यह है कि हम घर में रहते हैं। इसलिये हमें पुण्य कर्म करना पड़ता है। घर में रहकर गृहस्थाश्रम की मर्यादा का उल्लंघन हम नहीं कर सकते; क्योंकि हमारे लिए षट्खंड पृथ्वी का पालन करना अनिवार्य है। परन्तु दिगम्बर अर्थात् निर्ग्रंथ साधु होने एवं दीक्षा लेने के पश्चात् पुण्य कर्म संचय करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस समय गृहस्थाश्रम में रहते हुये यदि हम पुण्य कर्म को छोड़ देंगे, तो राज्य शासन नहीं चल सकता क्योंकि राज्य करते समय पुण्य कर्म छोड़ना राजा के लिये उचित नहीं है। यदि हम पुण्य कर्म छोड़ देंगे तो सारी प्रजा धर्म करना बन्द कर देगी और इससे धर्म का ह्रास हो जायेगा। इसलिये हम अपने अन्तःकरण में साक्षात् आत्मा का अनुभव करते हुये भी केवल गृहस्थ होने के नाते पुण्य कर्म किया करते हैं।

इस वचन को सुन कर "चन्द्रिका देवी" प्रश्न करती है कि—महाराज! पहले तो आपने पुण्य और पाप बन्ध होने के कारण दोनों को हेय बतलाया और आप कहते हैं कि—"हम दूसरों के

अहित की रक्षा करने के लिये पुण्य करते हैं" तो क्या दूसरों की रक्षा के लिये यदि हेय कार्य किया जाय तो इससे बंध होगा या निर्जरा होगी ? हमारे विचार से तो उससे निर्जरा नहीं हो सकती, कर्म बन्ध ही होगा, फिर ऐसे पुण्य से क्या लाभ है ?

भरतजी—हे देवि ! ज्ञानी अपने आत्मा में चित्त को स्थिर करके वाह्य क्रियाओं को उदासीन भाव से करते हैं। अतः वाह्य क्रिया करने पर भी उन्हें कर्मबंध नहीं होता यह आत्मध्यान का प्रभाव है।

जिस प्रकार पहली स्त्री की इच्छा होने पर ही सौतेली स्त्री रह सकती है और उसकी इच्छा न होने पर इसका रहना असंभव हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानी के अन्तःकरण में आत्मरूपी लक्ष्मी निश्चितरूप से विराजमान होने के कारण उसके साथ बाह्य क्रिया भी रह सकती है और इस क्रिया में विरक्त रहने के कारण ज्ञानी को कर्म बंध नहीं होता परन्तु अज्ञानी, कर्म न करने पर भी भोग की प्रबल आकांक्षा निरन्तर रखने के कारण कर्म का बंध स्वयं कर लेता है।

भावार्थ—जैसे तेल के घड़े पर चिपका हुआ गरदा पानी से धोने पर जल्दी नहीं छूटता और सादे घड़े के ऊपर चिपका हुआ गरदा पानी डालते ही छूट जाता है इसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की दशा समझनी चाहिये।

चन्द्रिकादेवी ने कहा कि हे स्वामिन् ! आप संपूर्ण विषयों को भली-भांति जानते हैं, इसलिये शीघ्रता से आत्म-साधन कर लेंगे; परन्तु हम स्त्री पर्याय प्राप्त होने से आत्मध्यान की भावना नहीं जानतीं, तो हमारी कौनसी गति होगी ? कृपा करके हमारे आत्म-कल्याण करने का पथ-प्रदर्शन कीजिये ।

भरतजी—हे देवि ! "परमात्मा की प्राप्ति तथा आत्म-कल्याण नहीं होगा इस प्रकार की निराशा कभी मत करो ।" किसी २ के हृदय में वह भावना प्रगट हो जाती है । इसलिये धैर्यतापूर्वक जिनको अभ्यास है वे आत्मध्यान की भावना करती रहें और जिनकी शक्ति न हो वे आत्मध्यान करनेवाले की भावना देख कर आनन्द मनाती रहें, तो भविष्यमें अवश्य ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त हो जायगा क्योंकि परमात्मध्यान, मुक्ति-मार्ग का साक्षात कारण है । राजा की इस बात को सुनकर चंद्रिकादेवी ने पुनः प्रश्न किया कि महाराज ! शास्त्रों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नत्रयों की एकता ही मुक्ति-का-मार्ग कहा गया है और आप, "आत्मयोग" की भावना मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं, तो यह आगम-विरुद्ध बात कैसे हुई ?

भरतेशजी—हे प्रिये ! तीनों रत्नत्रय और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है । आत्माके स्वरूपको ही रत्नत्रय कहते हैं । दर्शन और ज्ञान के स्वरूपमें स्थिर भाव से रहने को ही चारित्र कहते हैं । इस-लिये ये तीनों रत्नत्रय आत्मा से भिन्न नहीं हैं ।

रत्नत्रय दो प्रकार का होता है—पहला व्यवहार और दूसरा निश्चय।

देव, गुरु, शास्त्र पर श्रद्धा रखना और व्रत नियमादि सत्कर्मों में रत रहना व्यवहार रत्नत्रय कहलाता है। पहले धर्मादिक कार्य करके व्यवहार रत्नत्रय का पालन करना चाहिये, तत्पश्चात् निश्चय रत्नत्रय में स्थित होना चाहिये। हे देवि! ऐसा करने से शीघ्र ही आत्मा का संसार संबंधी दुःख नष्ट हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

यह वचन सुनकर ज्योतिर्माला खड़ी होकर कहने लगी कि:—हे स्वामिन्! आपने बतलाया है कि भगवान की श्रद्धा करना व्यवहार धर्म और आत्मा की श्रद्धा करना निश्चय धर्म है, तो क्या आत्मा भगवान से भी बड़ा है? यह बात हमारी समझ में नहीं आ रही है।

इस प्रश्न को सुनकर भरतेशजी ने मन में विचार किया कि यह अध्यात्म-विषय है, इस विषय को अभी कहना उचित नहीं है। इसलिये इन्हें युक्तिपूर्वक व्यवहार धर्म के द्वारा ही समझाना चाहिये, क्योंकि यदि इन्हें निश्चय धर्म अभी बतलायेंगे, तो ये व्यवहार धर्म को छोड़ देंगी और इस प्रकार एकान्त ग्रहण करने से व्यवहार और निश्चय दोनों से भ्रष्ट हो जायँगी। यह सोचकर भरतजी ने युक्तिपूर्वक उत्तर दिया कि हे देवि! यदि भगवान को

अपने हृदय से बाहर रखकर उपासना करोगी तो उससे पुण्य बंध होकर देव गति का सुख मिलेगा और यदि भगवान को अपने अन्तःकरण में स्थिर करके उपासना करोगी तो संपूर्ण कर्मों का नाश होकर अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति होगी। सोना, चाँदी, पीतल तथा पाषाण आदि की मूर्ति बनाकर उसकी प्रतिष्ठा कराकर उसमें भगवान् की कल्पनाकर उपासना करना व्यवहार भक्ति है तथा इसको भेद भक्ति भी कहते हैं। अपनी आत्मा में भगवान को रखकर यदि उपासना करे तो वह अभेद भक्ति या निश्चय भक्ति है। यह विषय तो हम पहले कह चुके हैं। हे देवि! आपको अब ज्ञात हुआ होगा कि व्यवहार मार्ग ही भेद मार्ग है। निश्चय मार्ग को अभेद मार्ग कहते हैं।

अभेद मार्ग अत्यन्त महत्व का है, और वह कर्म रूपी सर्प के लिये गरूड़ के समान है; इसीलिये तुम लोग दुर्भाव को छोड़ कर शुभभावना को धारण करो, इस शुभ भावना से उस अभेद मार्ग की प्राप्ति होगी।

ज्योतिर्माला फिर कहती है कि:—

"स्वामिन्! यह आपका कहना बिलकुल ठीक है। उस पवित्र मार्ग को ग्रहण करना आपके लिये सरल है, परन्तु यह हमारी स्त्री पर्याय है, हमारा वेष व आकार भी स्त्रीत्व से युक्त है।

आपने कहा था कि वह आत्मा पुरुषाकार रहता है, ऐसी

अवस्था में हम स्त्रियों को उस पुरुषाकार आत्मा का ध्यान कैसे होगा ?"

देवि ! सुनो, आत्मा की भावना करते समय उसे स्त्री के रूप में ध्यान करना आवश्यक नहीं। इस प्रकार तुम भावना का अभ्यास करो बाद में इस ध्यान को छोड़कर पदस्थादि चार प्रकार का ध्यान करो। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"—अर्थात जैसी भावना है वैसी ही सिद्धि होती है।

देवि ! पहिले पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत इस प्रकार ध्यान में अपने मनको लगाकर फिर स्वयं अपने आप में ठहरना चाहिये। अब उसका क्रम यह है कि:—

णमो अरहंताणं।
णमो सिद्धाणं॥
णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं॥
णमोलोए सव्वसाहूणं।

ये पाँचो णमोकार मंत्र अपने अन्तःकरण में ध्यान पूर्वक देखने से मोती के हार के समान मालूम पड़ते हैं। इनको पदस्थ ध्यान कहतें हैं। चन्द्रकान्त मणि से निर्मित शुभ्र प्रतिमा, स्फटिक मणि के घड़े में जिस प्रकार रहती है उसी प्रकार यह आत्मा देह
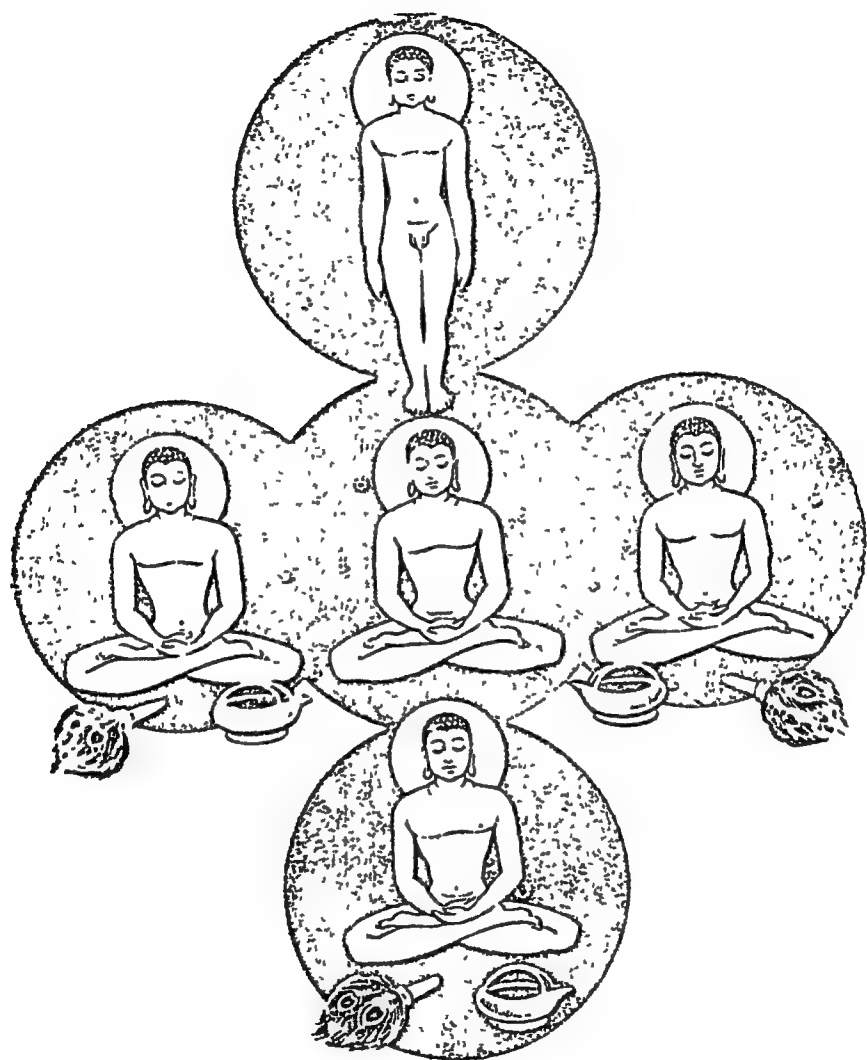
[पंचपरमेष्ठी]

में रहता है। इसको एकाग्र चित्त से विचार करना पिंडस्थ ध्यान कहलाता है।

करोड़ों सूर्य व चन्द्र के समान प्रकाश धारण करनेवाले श्री आदिनाथ भगवान समवशरण में विराजमान हैं, हम उनका साक्षात् दर्शन पूजा व अभिषेक कर रहीं हैं, देवगण आकाश से पुष्प वर्षा कर रहे हैं, भगवान की दिव्य ध्वनि खिर रही हैं तथा बारह सभा में देव, मुनि, आर्यिका मनुष्य आदि अपने अपने कोठे में बैठे हुये हैं। इसी प्रकार तेजः पुंज हमारा आत्मा भी, हमारे में साक्षात् आदिनाथ भगवान के समान ही विराजमान है। इस तरह का ध्यान "रूपस्थ ध्यान" कहलाता है।

सर्व कर्मों से रहित, निरुपम, निर्मल, निश्चल, चिद्रूप तथा अनन्त सुख के समूह सिद्ध भगवान् हमारे शरीर में विराजमान हैं, इस प्रकार की भावना करना रूपातीत ध्यान कहलाता है।

भरतजी—हे देवि ! उपर्युक्त चारों प्रकार के ध्यान का अभ्यास करने के बाद तीन प्रकार के ध्यान को छोड़ कर इस काल में केवल पिंडस्थ ध्यान ही करना चाहिये। ज्ञानीजन इसी ध्यान की सिद्धि के लिए निरन्तर यत्न किया करते हैं क्योंकि इसी ध्यान के अन्तर्गत सभी ध्यान पिंड स्वरूप में रहते हैं और इसी पिंडस्थ ध्यान से अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ कर्ममल नष्ट होकर आत्मा में अखंड सुख की प्राप्ति होती है। हे देवि ! जप

करना, दीक्षा लेना, व्रत, नियम तथा संयम आदि करना " ये सभी बातें पिंडस्थ ध्यान के लिये सहकारी हैं और यह ध्यान मुक्ति के साक्षात् बीज के समान है। इसके साथ २ अरहन्त भगवान की पूजा, मुनि आर्यिका आदि को सत्पात्र दान, जीव दया तथा अनुष्ठानादि क्रियाओं को करते हुये आत्मस्वरूप के ऊपर श्रद्धा रक्खो, तो आप लोगों को कुछ समय के पश्चात् निःसंदेह मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी।

हे प्रिये ! जिस समय सूतक-पातक या मासिक धर्म से दूषित रहो उस समय उपर्युक्त शुभ क्रियाओं को छोड़कर एकांतमें स्थिर हो मौन पूर्वक बारह भावनाओं का चिंतन अपने मनमें करते रहना चाहिये क्योंकि यदि इस प्रकार का आचरण करोगी तो स्त्री पर्याय का छेदन करके क्रमसे स्वर्ग का सुख भोगने के पश्चात् अंत में मोक्षपद प्राप्त कर सकोगी।

इसका सार यह है कि ग्रन्थकार ने उपर्युक्त, श्लोकमें अपने चित्त की एकाग्रता करने की जो बारह भावना तथा चार प्रकार के ध्यान का साधन चौथे श्लोक में विवेचन किया है उसीके अनुसार इस पाँचवें श्लोक के विवेचन में आये हुये विषयका आत्मस्वरूपमें दृढ़ता लाने के लिये हमने इस रत्नाकर नामक ग्रन्थमें विवेचन किया है। भरतेश वैभव नामक ग्रंथ में श्री भरतजीने अपनी रानियोंको जो आत्मसाधन का क्रम बतलाया था उसी का विवेचन हमने

नव देवता:—अर्हन्त, सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्वसाधु जिनधर्म, जिनचैत्य
जिन चैत्यालय, जिनागम ।

व्यवहार व निश्चय दोनों नयसे किया। जो लोग उपर्युक्त नियमों का पालन व मनन श्रद्धा पूर्वक करेंगे, तो क्षण २ में उनके कर्मोंकी निर्जरा होकर तप व संयम के द्वारा सच्चे आत्म सुख की प्राप्ति उन्हें अवश्य होगी। आगे ध्यान की प्राप्ति किसको होती है?" "इस विषय का विवेचन करेंगे।"

अदु लघुकर्मिगात्मतनुभेद विचारदोळ्तिपुळ्ळवं-
गुदयिपु दल्लदे सकल शास्त्रमनोदिदोडं तपंगळो ॥
ळ्कुदि दोड मागदंतदरि ना रुचि गुळ्ळवने भवत्प्रसा-
दद सुखि येंदु मेच्चि परिकीर्तिपे नानपराजितेश्वराः ! ॥६

हे अपराजितेश्वर ! वह ध्यान जिसको लघुकर्म, आत्मा तथा भेद विज्ञान में प्रेम है उसी को हो सकता है और इसके बिना समस्त शास्त्र का पठन-पाठन तथा घोराघोर परिश्रम के साथ तप करने पर भी नहीं हो सकता। इसलिये उस ध्यान में रुचि रखने वाला ही आपके प्रसाद का सुखी है—ऐसा समझ कर आपके प्रेम में रत होकर मैं आपकी स्तुति करता हूँ॥ ६॥

Aparajiteshwar! That high meditation is offered by one who is light with karmas and has true devotion in the adienity of the soul and the body (Bheda Vigyana) without which the obtainment of such a meditation car, be never had even on going through all the scriptures

and under going austere penances. Hense considering only the interested in such a meditation as happy of your happy blessings, I, absorbed in your devotion, pray you.

विवेचनः—

ऊपर के श्लोक में ग्रन्थकार ने मन की एकाग्रता तथा ध्यान की साधनाके विषय का विवेचन किया है। अब आगे इस श्लोक में ध्यान की उत्पत्ति किसको होती है, इस विषय को कहते हैं।

यह आत्मध्यान की सिद्धि लघुकर्मी तथा आत्मा और शरीर इन दोनों के भेद विचारों में जिनका प्रेम है उन्हीं को होती है उसके बिना संपूर्ण शास्त्र का पठन-पाठन करने पर या कठिन तपस्या करने पर भी ध्यान की सिद्धि होना कठिन है।

तपसुमाडिदरेनु श्रुतवनोदिदरेनु।
चपलचित्तव कट्टदनक ।
चपलचित्तव कट्टिट तन्नोळिडुवनीग ।
तपवि मत्तवने शास्त्राढ्या ॥

'आत्मध्यान-शून्य मनुष्य को घोर तपस्या करनेसे क्या फायदा'? अनेक शास्त्र के पठन-पाठन करने से क्या प्रयोजन? इस चंचल मन को जब तक स्थिर नहीं किया जाय तब तक शास्त्र पठन-

पाठन और कठिन से कठिन तपसे कोई प्रयोजन नहीं है। जो व्यक्ति उस चंचल मन को रोककर अपने आत्म-विचार में लगाता है वही वास्तव में तपस्वी है, शास्त्र का ज्ञाता है।

मनद् विकल्प विंद्रियद् कपायव ।
जनियिपुदोडने मासुवुदु ॥
तनुवलुगुवुदु बंधास्रववहुवागी ।
मन ताने मने कर्म गळिगे ॥

मनके विकल्प तथा इंद्रियों के विषय, कपायों को उत्पन्न करते हैं। योगों के निमित्त से आत्म प्रदेश का परिस्पंद होता है। अर्थात् आश्रव तथा बंध होता है, इसलिये मन ही कर्मों के लिये कारण है।

इस मन को आत्मा में न लगाकर परपदार्थों में लगावे तो उससे कर्म बंध होता है। वह जिस प्रकार एक पदार्थ का विचार करता जाता है उसी प्रकार नवीन नवीन कर्म का बंध होता है। उसे रोककर आत्मा में लगाने पर कर्म की निर्जरा होती है।

इस दुष्ट मन के स्वेच्छाचार से ही कर्म का बंध होता है और यह आत्मा आठ कर्मों के जाल में फंसता है। उससे संसार की वृद्धि होती है। इसलिये इस दुष्ट मन को ही सबसे पहले जीतना चाहिये।

यह आत्मा अनादिकाल से बाह्य विषयों में तल्लीन होकर इसी बाह्य वस्तु में फँसा हुआ है और अपने पास अखंड अत्यंत स्वादिष्ट परमानन्द रसायन से अरुचि रखता है। जिससे अत्यंत घृणित, तीनों लोक में निंद्य जन्म मरण को हमेशा प्राप्त होता है और इसके द्वारा अत्यंत दुःख भी भोगता है, परन्तु इसका संग छोड़ना पसंद नहीं करता है। जब तक इन दुष्ट बाह्य इंद्रियजन्य पदार्थों का संबंध नहीं छूटेगा तब तक- इस बहिरात्मा को जीवन मुख कहां ? बाह्य क्षणिक वस्तु के संसर्ग के कारण आत्मा में चंचलपना उत्पन्न हुआ है। इस चंचलता के कारण आत्मा के अंदर स्थिरता कहां से आवे ? इस परवस्तु के संसर्ग से आत्मा के हलन चलन की क्रिया उत्पन्न होती है, जब आत्मा का हलन चलन होता है तब तीनों मन, वचन, काय योग के द्वारा कर्म वर्गणा आकर आत्मा के परिस्पंद करती हैं। इस परिस्पंद के कारण चंचलता उत्पन्न होने से अपने स्वरूप को भूल जाता है और परवस्तु से प्रेम करता है। जैसे कुटिल स्त्री अपने को हमेशा सुख उत्पन्न करने वाले सुंदर अपने स्व पति को छोड़कर पर पुरुष के साथ रमण करना पसंद करती है और अपने स्व पति देव से अरुचि रखती है, परन्तु वह कुटिला हमेशा ही भयभीत रहती है। उसको सुख कहां ? उसके कुटिलपने की आदत. जब तक नहीं जायेगी तब तक कितना भी प्रेम करें तो भी उस पर रुचि न रहकर अन्य में ही रुचि रहेगी। इसी तरह अज्ञानी जीव

अज्ञान में जब तक है तब तक बाह्य वस्तु में गाढ़ प्रेम तथा इंद्रियादि सुख में लवलीन रहता है और उससे होने वाले अत्यंत दारुण दुःख को सहलेता है परन्तु अपने को सुखमय अमृत को उत्पन्न करने वाले आत्म-स्वरूप के ऊपर प्रेम नहीं होता। इसलिये अगर वे संयम धारण भी करले अथवा अत्यंत घोर तप करे, चार-चार या दो मास तक उपवास भी करे तो भी आत्म-सिद्धि उसको दूर है, नजदीक नहीं है।

योगसार में कहा भी है कि बाहरी क्रिया में धर्म नहीं है।

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय पएसि धम्मु ण मत्था लुंचियइँ॥

शास्त्रों के पढ़ने मात्र से धर्म नहीं हो सकता है। पुस्तक व पिच्छी रखने मात्र से धर्म नहीं होता है, किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता है, और केशलोंच करने से धर्म नहीं होता है; किन्तु रत्नत्रयात्मक आत्मस्वरूप की रुचि रखने से तथा उसीके अनुसार क्रिया को करने से आत्म-सिद्धि की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं।

जिस धर्म से जन्म, जरा, मरण के दुःख मिटें, कर्मों का क्षय हो तथा यह जीव अपनी स्वाभाविक दशा को पाकर अजर अमर हो जावे वह धर्म आत्मा का निज स्वभाव है। जो सर्व पदार्थों से वैराग्यवान होकर अप आत्मा के शुद्ध स्वभाव की

श्रद्धा व उसका ज्ञान रखकर उसीके ध्यान में एकाग्र होगा वही निश्चय रत्नत्रयमयी धर्म को या स्वानुभव को या शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त करेगा।

जो कोई इस तत्त्व को ठीक ठीक न समझ करके बाहरी क्रिया मात्र—व्यवहार को ही करे व माने कि मैं धर्म का साधन कर रहा हूँ, उसको समझाने के लिये यहाँ कहा है कि ग्रंथों के पढ़ने से ही धर्म नहीं होगा। ग्रंथों का पठन-पाठन इसलिये उपयोगी है कि जगत् के पदार्थों का, जीव व अजीव तत्त्व का ठीक ठीक ज्ञान हो जावे।

इस कार्य के लिये शब्दों का मनन आवश्यक है। यदि शुद्धात्मा का काम न करे, केवल शास्त्रों का पाठी महान् विद्वान् व वक्ता होकर धर्मात्मा होने का अभिमान करे तो यह सब मिथ्या है। इसी तरह कोई क्षुल्लक बन जावे, ब्रह्मचारी बन जावे तथा क्रिया भी महान् करे तो भी आत्म-रुचि विना व्यर्थ है।

व्यवहार क्रिया-कांड या चारित्र रागभाव शुभभाव होनेसे पुण्य बन्ध का हेतु है, परन्तु कर्म की निर्जरा व संवर का हेतु नहीं है। जहाँ तक भावों में शुद्ध परिणमन नहीं होता है वहाँ तक धर्म का लाभ नहीं होता है। मुमुक्षु जीव को यह बात दृढ़ता से श्रद्धान में रखनी चाहिये कि भाव शुद्धि ही मुनि या श्रावक धर्म है। बाहरी त्याग वा वर्तन अशुभ भावों से व हिंसादि पाँच पापों से बचने के लिये है व मनको चिंता से रहित निराकुल करने के लिये है।

अतएव कितना भी ऊँचा बाहरी चारित्र कोई पाले व कितना भी अधिक शास्त्र का ज्ञान किसी को हो तो भी वह निश्चय धर्मके बिना साररहित है, चांवल रहित तुषमात्र है। पुण्य बंध भी संसार भ्रमण को बढ़ाने वाला है। जितना अंश वीतराग विज्ञानमयी भावका लाभ हो उतना ही धर्म हुआ। बाहरी मन, वचन, काय की क्रिया से संतोष मान के धर्मात्मापने का अहंकार नहीं करना चाहिये।

बृहद् सामायिक पाठ में कहते हैं कि:—

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं।
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनां।
शश्वत् ध्याय तदात्मतत्त्वममलं निःश्रेयसी श्रीर्यतः॥

हे आत्मन्! तू इस पाप बंध कारक कल्पना को छोड़, यह अहंकार न कर कि मैं शूर हूँ, बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ, सबसे अधिक लक्ष्मीवान हूँ, माननीय हूँ, गुणवान हूँ, समर्थ हूँ; या सर्व मानवों में अग्र हूँ, मैं महान् साधु या क्षुल्लक या ऐलक, राजा हूँ, इस अहंकार को छोड़ दो और निरन्तर आत्म-तत्त्व की भावना का ही ध्यान कर। इसी से अनुपम मोक्ष लक्ष्मी का लाभ होगा।

आत्मानुशासन में कहा है कि:—

मुहुः प्रसांख्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्य-प्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलांकुराविव ।
तस्माज् ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥१८२

सम्यक् ज्ञान वार वार विचार कर पदार्थों को जैसे वे हैं वैसा ही उनको देखकर प्रीति व अप्रीति मिटाकर आत्मज्ञानी साधु आत्मा को ध्यावे । जैसे बीज से मूल व अकुंर होते हैं वैसे मोहके बीज से राग द्वेष होते हैं । इसलिये जो राग द्वेष को जलाना चाहे उसे ज्ञान की अग्नि से इस मोह को जलाना चाहिये ।

आत्मानुशासन में कहा है किः—

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृतिमृतिपर्यंतमखिलं ।
मुधाप्येतत्क्लेशाशुचिमयनिकाराघबहुलं ॥
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः ।
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥ १०५॥

हे जीव ! तू विचार कर कि तू एक अपने शुद्धात्मा के विपरीत होकर बाह्य शरीरादि इन्द्रियोंमें रत होकर इन्द्रियों के उत्तेजक बाह्य विषय सामग्री को ही अपना माना और उसी को जुटाने के हेतु रात दिन अनेक कल्पनातीत दुःखों को भोगते हुये भी वह दुःख अपने को मालुम नहीं पड़ा, और जिसके लिये तू प्रयत्न करता रहा उस वस्तु को भी प्राप्त कर नहीं पाया और आयु कर्म की

मर्यादा पूरी होने के कारण उस कार्य को अधूरा छोड़कर जाना पड़ा, जहाँ तूने भ्रमण किया तहाँ तहाँ तेरा कार्य अधूरा ही रहा और जन्म-मरण का दुख ही उठाना पड़ा है।

वीतरागपरम आनंद समरसी भावरूप अतींद्रिय सुखसे रहित जो यह संसारी जीव है, उसका मन अनादिकाल की वासना में लिप्त हो रहा है, इसीलिये पंचेंद्रियों के विषय सुखमें आसक्त है। जगतके जीवों का मन वारंवार विषय सुखों में जाता है, और निज स्वरूप में नहीं लगता है, इसलिये वासना से लिप्त हुए संसारी अज्ञानी वहिरात्मा को ध्यान की गति कठिन लगती है।

हे भोले जीव ! तूं विचार कर, ये इंद्रिय विषय क्षण भंगुर हैं, वारंवार दुर्गतिके दुःख के देनेवाले हैं, इसलिये विषयों का सेवना अपने कंधे पर कुल्हाड़ी का मारना है, अर्थात् नरक में अपने को डुवोना है, ऐसा इस व्याख्यान को जानकर विषय सुखों को छोड़, वीतराग परमात्म—सुखमें ठहर कर निरंतर शुद्धोपयोग की भावना करनी चाहिये।

और भी तू विचार कर देख कि शुद्धात्म भावना से रहित होने के कारण कितना इस शरीर से कष्ट उठाना पड़ा। गर्भसे लेकर आखिर तक यह शरीर क्लेशोंसे भरा हुआ है और अति अपवित्र है, सदा पापों की उत्पत्ति का कारण है, इसलिये विवेकी मनुष्य ममत्व छोड़ देना पसंद करते हैं। और फिर भी जिसके छोड़ने से यदि मुक्ति प्राप्त होनेवाली हो, या सब तरह के क्लेश दुःख दूर

होता हो तो, कौन ऐसा मूर्ख होगा जो छोड़ना न चाहता हो? ठीक इसी शरीर का संबंध एक दुष्टजन के संबंध के समान है। दुष्ट जनों के संबंध से क्लेश या दुःख ही होता है, अपवित्रता प्राप्त होती है, अनेक प्रकार के भय होते रहते हैं तथा अनेक तिरस्कार सहन करने पड़ते हैं। वैसे इस शरीर के संबंध से भी ये बातें पैदा होती हैं। दुष्टजन विना कारण दुःखदायक होते हैं, शरीर भी निष्कारण ही दुःख देता है, इसलिये जब कि दुष्टजनके समागमसे सभी सज्जन लोग दूर रहना चाहते हैं तो शरीर से भी दूर होने का प्रयत्न चाहिये। इसका जब तक संबंध है तब तक दुःखोंसे छुटकारा पाना या परम कल्याण प्राप्त होना भी असंभव है। इसलिये इसका छोड़ना ही विवेको लोगों को पसंद है।

परन्तु सीधा शरीर को छोड़ने से शरीर थोड़े ही छूटेगा? यह शरीर छूटेगा तो दूसरे नवीन शरीर को धारण करना होगा। राग द्वेप तथा मिथ्याज्ञान जब तक निर्मूल नहीं हुए हों तब तक शरीर का संबंध इसी प्रकार लगा रहेगा। पूर्वबद्ध कर्म के उदय समयमें नवीन राग द्वेप उत्पन्न होते हैं जिससे नवीन कर्म बंध हो जाता है। इस कर्मको भी प्राप्त करके—फिर नये कर्म को बांधता है। इस प्रकार कर्म तथा राग-द्वेप की लड़ी बराबर लगी रहती है और वही लड़ी शरीरों को उत्पन्न किया करती हैं। इसलिये इस शरीर के नाश करने के लिये पहले इस लड़ी का धीरे धीरे नाश करने की तथा इसको काटने के उपाय को सोचना चाहिये।

समाधिशतक में कहा है कि:—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ।८२

शरीरादि से ममत्व भाव को हटाकर अपने आत्मा को इस तरह ध्यावे कि स्वप्न में कभी शरीरादि में अपनापन नहीं जुड़े। सदा अपने आपको शुद्ध परद्रव्यके संगसे रहित ध्यान करने से भेद-विज्ञान की रुचि बढ़ जावेगी और आत्म-ज्योति प्रगट होगी तब फिर इस शरीर का साथ करना नहीं पड़ेगा, यही इसका उपाय है।

भेद-विज्ञान का उपाय ग्रन्थकार ने अगले श्लोक में इस प्रकार बताया है कि:—

भेद विचार मैंतो तनुमूर परल्लिये कर्म वेंटिवे।
वेंदनेगिंत्रु गळ्कडेगेचेतन रूपिगळात्म मि—॥
त्रोदयनागि वाळ्दपनवं सुखि चिन्मय नेंदु बुद्धियिं।
भेदिसि वेरु गेप्दोळगे नोळ्पदज्ञा अपराजितेश्वरा ! ॥६॥

हे अपराजितेश्वर ! भेद विज्ञान का स्वरूप किस प्रकार का है ? शरीर तीन प्रकार का है:—औदारिक, तैजस और कार्माण। इन तीनों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम गोत्र और अंतराय इस प्रकार आठ कर्म हैं। ये ही आठों वेदना के लिये मूल कारण रूप, और अन्त में जड़स्वरूप हैं। इन कर्मों के

वीच में यह आत्मा अनादिकाल से सूर्य के समान उदय अस्त अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होता है। इस प्रकार की स्थिति में अपने को ज्ञाता द्रष्टा, शरीरों से सर्वथा जुदा अनुभव करनेवाला, भेदविज्ञान की बुद्धि रखनेवाला सुखी नहीं है, क्या ? ऐसे भेद विज्ञान बुद्धि के द्वारा अलग करके भीतर देखो ॥ ७॥

Aparajiteshwar! What is the nature of "Bheda Vigyana" ? It is to know the difference between the soul and the body.

Bodies are of three kinds: Audarik, Tejas and Karman. Karman body is of eight kinds (according to its effects). Jnana verniya (that which obstructs true knowledge). Darshanavarniya (that which obstructs true perception), Vedaniya (that which creats pleasant and unpleasant feelings), Mohaniya (which causes delusion and Confusion), Ayus (that which determines the length of individual life), Name (which establishes individuality), Gotra (that which gives Jiva a particular environment) & Antaraya (which produces obstacles). These become the principal cause of afflication. Amongest these Karmas, the jiva from times eternal, is

undergoing births and deaths like the rising & setting sun.

O, Jiva! look inside and realise the distinction of body and soul through Bheda Vigyana and really, is not the person who knows, percieves & experiences his soul quite distinct from the body, happy?

विवेचनः—इस श्लोक में ग्रंथकार ने भेद विचार का साधन ही आत्म साधन है, ऐसा बतलाया है।

भेद विचार की भावना ज्ञानी जीव कैसे करते हैं?

उत्तर में ग्रन्थकार ने समझाया कि:—औदारिक, तैजस, और कार्माण इन तीनों में ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अंतराय ये आठों कर्म हैं। ये कर्म ही वेदना के लिये कारण हैं और अंत में जड़ स्वरूप हैं। इन कर्मों के बीच में आत्मा भिन्न के नाते इस शरीर के साथ अस्त उदय के समान जिया करता है और जैसे कैदखाने में बन्द हुआ मनुष्य कैदखाने में रहते हुये भी उसे अपने से भिन्न मानता है और उससे छुटकारा पाने का विचार करता है परन्तु उसमें दुःखी नहीं होता है।

इसी तरह ज्ञानी जीव यह विचारता है कि यह मेरी आत्मा इस शरीर में रहते हुये भी इससे भिन्न अनन्त सुखी और ज्ञान दर्शनमय है इस प्रकार भेद विचार के द्वारा अपनी बुद्धि से अलग करके देखना चाहिये यह भगवान का उपदेश है।

विशेषार्थः—बाहर से औदारिक शरीर है और अन्दर तैजस व कार्माण शरीर नाम के दो शरीर हैं इस प्रकार तीन शरीर रूपी कैद खाने में यह जीव फंसा हुआ है। मूल में कर्मों के आठ भेद हैं। तीनों शरीर में कर्म आठ हैं और उत्तर भेद से एकसौ अड़तालीस हैं और भी उत्तरोत्तर भेद से वे कर्म असंख्यात विकल्पों से युक्त हैं। परन्तु मूल में आठ ही भेद हैं। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, दुःख देने वाले वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अंतराय इस प्रकार ये आठों कर्म उन तैजस और कार्माण शरीर में छिपे हुये हैं। उनके ऊपर यह औदारिक शरीर है, इस शरीर रूपी थैले में यह मेरी आत्मा है।

आठ कर्मों में चार कर्म घातिया कर्म कहलाते हैं ये मोहनीय ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय। जो ऊपर मूलमें कर्म आठ बताये हैं उन कर्मों के मूल में तीन पदार्थ हैं। राग, द्वेष और मोह यह तीन कर्मों के मूल हैं इस कर्म को भाव कर्म भी कहते हैं। उपर्युक्त आठ कर्म द्रव्य कर्म हैं और तीन कर्म भाव कर्म हैं और जो शरीर दीखता है वह नो कर्म है। इसलिये कर्मकाण्ड तीन प्रकार के हैं द्रव्य कर्म, भाव कर्म, और नो कर्म। नो कर्म तैलके यंत्र के समान हैं। द्रव्य कर्म तो खल के समान है और भाव कर्म तेल के समान है। तथा आत्मा आकाश के समान चिद्रूप है।

जिस प्रकार तेली के यहां यंत्र, खल, तैल व आकाश ये चार पदार्थ रहते हैं उसी प्रकार द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म, व इन

तीन कर्मों से साफ आत्मा रहता है।

इन तीनों कर्मों में वर्ण, रस, गंध, रूप, गुण मौजूद है। परन्तु आत्मा के वर्णादिक नहीं हैं वह तो सदैव ज्ञान मय ज्योति से युक्त है। इन तीनों शरीर में मेरा आत्मा तिल और तेल के समान है। जैसे कहा भी है कि:—

अंगुष्टं मोदलागिनेत्तिवरेगं सर्वांग संपूर्णनु-
त्तुंग ज्ञानमयं सुदर्शनमयं चारित्र तेजोमयं।
मांगल्यं महिमं स्वयंभु सुखि निर्बाधं निरापेक्षि नि-
स्संगंबोल्परमात्म नेंदरुविदै ! रत्नाकरा धीश्वरा ॥७॥
बिसिलिं कंदद बेंकियिं सुडद नीरिं नांदुदु ग्रासि भे-
दिसलुं बारद चिन्मयंमरेदु तन्नोकूपं परध्यानदिं ॥
पसिविंदी बहुबाधेयिं रुजेगळिं केडागुवी मेय्‌गे सं।
दिसिदं तन्नने चिंतिसल्सुखिपला ! रत्नाकराधीश्वर ! ॥

(रत्नाकरशतक)

हे रत्नाकराधीश्वर ! परमात्मा आपके शरीर के समान ही पांव की तलवे से लेकर मस्तक तक संपूर्ण शरीर के अवयवों में व्यापक रूप में भरा हुआ है, और अधिक ज्ञान स्वरूप तथा दर्शनस्वरूप और सम्यक्चारित्र स्वरूपी तेजसे देदीप्यमान व मंगल स्वरूप, अतिशयवान तथा असहायी होकर आप अपने स्वरूप को ही प्राप्त होकर अपने में रत हैं।

फिर कैसा है ? धूपकी गरमी से सुखनेवाला नहीं है, अग्नि से जलने वाला नहीं, पानी से भीगने या सड़नेवाला नहीं, तीक्ष्ण शस्त्र से टुकड़े होनेवाला नहीं है। हमेशा ज्ञानदर्शनरूप जैसी आत्मा परवस्तु की चिंताओं से अपने स्वरूप को भूलकर भूख, प्यास इत्यादि अनेक बाधाओं से तथा रोगों से नष्ट व क्षण में नष्ट होने वाले इस शरीरके प्रवेशसे अनेक बाधाओं को सहन करना पड़ रहा है, परंतु इस भेद विचार पूर्वक मैं सुखी हूँ ज्ञान दर्शनमय हूँ इस तरह अगर ध्यान करने से ज्ञानी आत्मा सुखी नहीं होगा फिर यह आत्मा कैसा है इस शरीर में ?—जैसे लकड़ी मोटी हो या छोटी हो उसके प्रमाण से अग्नि रहती है, उसी प्रकार यह शरीर मोटा हो या छोटा हो उसके प्रमाण से आत्मा गुरु देह या लघु देह में रहता है।

दूसरा उदाहरण यह है कि—जैसे लकड़ी के भागको छोड़कर अग्नि नहीं रह सकती उसी प्रकार जितने प्रमाण में लकड़ी है उतने प्रमाण में अग्नि है, इसी तरह यह आत्मा भी जितने अंशों में देह है, उतने अंश में आत्मा सर्वत्र भरा हुआ है, अर्थात् शरीर प्रमाण है।

वृक्ष के अंदर के भागमें अर्थात् काष्ठ के अंदर अग्नि है, परंतु बाहरके पत्तोंमें अग्नि नहीं है। इसीतरह आत्मा शरीरके अंदरभरा हुआ है, परन्तु शरीर से भिन्न बाहर के रोमों में तथा नखों में आत्मा नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। जहाँ दरद नहीं है वहाँ आत्मा नहीं

है। शरीर के भाग में जहाँ तक दबाने से दर्द होता है वहाँ तक आत्मा है, ऐसे समझना चाहिये। इस तरह विचार करने वाला भेदज्ञान अभ्यासी मुमुक्षु जीव कर्मबंध से नहीं बंधता है। आत्मा में लीन भव्य जीव मोक्षमार्गी है। रत्नत्रय की एकता को रखता है। वीतराग व रागभाव में लीन होता है। राग-द्वेष विहीन होता है। जिससे कर्मों से नहीं बंधता है। बंधनाशक वीतराग भाव है। बंधकारक मोह है। मोह मिथ्यात्वभावको कहते हैं। राग-द्वेष कषाय को कहते हैं। सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में हो तो अपने आत्म-रमण की गाढ़ श्रद्धावश इकतालीस प्रकृति का बंध नहीं करता है। सम्यक्त्वी नरक, तिर्यंचगति ले जाने वाली कर्म प्रकृतियों को नहीं बांधता है। फिर जैसे जैसे गुणस्थान में चढ़ता है, आत्म-रमता की शक्ति विशेष प्रगट होती है, नव और अधिक वन्ध को घटाता जाता है। वंध की १२० प्रकृतियाँ हैं।

गो० कर्मकांड में कहा भी है कि:—

पंचणव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाबो बंधपयडी ओ ॥३५॥

ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयु कर्म की ४, नाम कर्म की ६७, गोत्र कर्म की २, अंतराय कर्म की ५, ये सब बंध होने योग्य प्रकृतियाँ हैं। क्योंकि मोहनीयमें सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति बंध में नहीं है और

नाम कर्म में पहली गाथा में नेमिचन्द्राचार्यने कर्म-कांड में बताया है कि—१०+१६=२६ प्रकृतियाँ अभेद विवक्षा से वंध अवस्था में नहीं है ऐसा, कहा है। सो ६३ में से २६ कम करने पर ६७ बाकी रह जाती है।

अब इसमें से ज्ञानावरणीय की ५दर्शनावरणीय की ६ वेद-नीय की २ मोहनीय की २६ (सम्यक्त व मिश्र का वंध नहीं होता है) आयु की ४ नाम की ६७ पाँच वन्धन, पाँच संघात न गिनके पाँच शरीर साथ मिला दिये, वर्णादि २० की अपेक्षा चार ही जाने। इस तरह १०+१६=२६ कर्म ६३ में घट गये गोत्र की २ अंतराय की ५=१२०—ये प्रकृतियाँ नीचे लिखे प्रकार गुणस्थानों में व्युच्छित्ति पाती है। जिन गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है वे प्रकृतियाँ आगे के गुणस्थानों में नहीं वंधती हैं।

(१) मिथ्यात्व—१६–मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक वेद, असंप्राप्तासृपाटिक संहनन, एकेंद्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, वेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चौइन्द्रिय, नरकगति, नरक-गत्यानुपूर्वी, नरक आयु=१६।

(२) सासादन—२५ अनन्तानुबंधी, ४ कषाय, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला, प्रचला दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधादि, ४ संस्थान, वज्रनाराचादि ४ संहनन, अप्रशस्त विहायो-गति, स्त्रीवेद, नीच गोत्र, तिर्यंच गति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी २, उद्योत, तिर्यंच आयु=२५।

(३) मिश्रः—

(४) १० अविरत सम्यकः—अप्रत्याख्यान कषाय ४, वज्रऋषभनाराच, संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानु पूर्वी, मनुष्य आयु=१० ।

(५) ४ प्रत्याख्यानः—कषाय ४

(६) ६ प्रमत्तविरतः—अस्थिर, अशुभ, असाता वेदनीय, अयश, अरति, शोक=६ ।

(७) १ अप्रमत विरतः—देवायु ।

(८) ३६ अपूर्व करणः— निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायो गति, पंचेन्द्रिय, तैजस, कार्माण, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, समचतुरश्र संस्थान, देवगति, देवगत्यानु पूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, वर्णादि ४, अगुरु लघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा=३६ ।

(९) ५ अनिवृत्ति करणः—पुंवेद, संज्वलन कषाय ४=५ ।

(१०) १६ सूक्ष्म सांपरायः—ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, अंतराय ५, यश, उच्चगोत्र=१६ ।

(११) उपशांत कषायः—०

(१२) क्षीण कषायः—

(१३) सयोग केवली—१ सातावेदनीय ।

१२०

आत्मानुभव तथा भेदविज्ञान के प्रताप से कर्मबंध घटता जाता है। अयोग केवली पूर्ण आत्मरमी हैं। योगों की चंचलता नहीं है। इसमें कोई कर्मका बंध नहीं होता है। केवल ज्ञानी को राग द्वेष मोह नहीं होते इसलिये उस को बंध, नहीं होता ये ही बंध के कारण हैं, आत्मरमण तत्व से वीतराग भाव बढ़ता है, तब बंध रुकता है।

जब ज्ञानी इस प्रकार भेदविज्ञान का विचार करता है तब अज्ञान दशामें जो परमें अपनापनका भाव था उसे नाश करता है। उसके बाद पररागरूप भावका बिलकुल विध्वंस हुआ। पर राग मिटते ही वीतराग भाव प्रगट होता है। तब अपने में आप स्वसंवेदन रूप होता है। अर्थात् अपने में ही द्रव्य, गुण, पर्याय, का विचार करके अपने निजस्वरूप को जानता है और उस समय ऐसा उनको आनंद आता है कि मानों यह मेरा अनंत महिमा से युक्त भंडार का सागर अविकार अपार शक्ति से मंडित शुद्ध स्वरूप है ऐसा अपने मनमें अनुभव करते हुये उसी में रत होता है और विचार करता है कि इस आनंद महिमासे युक्त सुगुण भंडार आत्म निधि के पहिचान के बिना मै अबतक परमें अपनापन मानकर संसारी हुआ अति दुःखी हुआ। अब मैं पर और निजको अंश अंश अलग-अलग जानता हूँ। मैं उपयोग हूँ और अपने उपयोग को ही सभी

ग्रंथ तथा शास्त्र गाते हैं। इस प्रकार निश्चयमें जब मग्न होता है तब आनंद बढ़ता ही जाता है। जितना जितना आनंद बढता जाता है, उतनी २ ही कर्मकी भी निर्जरा होती जाती है। इस प्रकार नियम से भेद विचार करनेवाले जीवात्मा को आत्म ज्ञानकी प्राप्ति होने में देर नहीं लगती है। यही आत्म ज्ञान प्राप्त करने का सरल उपाय भेदविज्ञान ही है। इस प्रकार ध्यान करने से हमेशा के लिये जन्म मरणका दुःख मिट जाता है, फिर इस संसार में आने की जरूरत नहीं है। कहा भी है कि:—

न क्लेशो न धन व्ययो न गमनं देशांतरे प्रार्थना
केषांचिन्न बलच्चयो न च भयं पीडा परस्यापि न ॥
सावद्यं न न रोग जन्मपतनं नैवान्यसेवा न हि
चिद्रूपस्मरणे फलं बहु कथं तन्नाद्रियन्ते बुधाः ॥न. ज्ञा. अ. ४

इस परम पावन चिद्रूप के स्मरण करनेमें न किसी प्रकारका क्लेश उठाना पड़ता है न धन व्यय, न देशांतर में गमन और न दूसरेसे प्रार्थना करनी पड़ती है, न किसी प्रकारकी शक्तिका क्षय, न भय न दूसरेको पीड़ा, पाप रोग जन्म मरण और दूसरों की सेवाका दुःख भी नहीं भोगना पड़ता, इसलिये अनेक उत्तमोत्तम फलोंके धारक भी इस शुद्ध चिद्रूपके स्मरण करने में क्यों प्रयत्न नहीं करते हैं ? इसलिये एकाग्र होकर उसीका स्मरण करो! कहा भी है कि:—

चिंताशून्यमदैन्यभैक्ष्यमशनं पानं सरिद्वारिपु
स्वातन्त्र्येण निरंकुशा स्थिति स्त्रीर्निद्रा श्मशाने वने।

वस्त्रं चालनशोषणादिरहितं दिक्चास्ति शय्या मही ।
संचारी निगमान्त वीथिषु-विदां क्रीडापरे ब्रह्मणि ॥

ज्ञानी पुरुष चिंतारहित और उदारता वाली भिक्षा का भोजन करते हैं। नदी के किनारे चलने वाली उत्तम शीतल समीर का पान करते हैं। सब तरहसे निरंकुश तथा निराकुल हाथी के समान स्वतंत्र विचरते हैं, अर्थात् निर्भयता से अपने जीवन को व्यतीत करते हैं, श्मशान में अथवा वनमें निद्रा लेते हैं, जिसको धोना भी न पड़े और सुखाना भी न पड़े—ऐसे दिगम्बर दिशाओंरूप वस्त्र को हमेशा पहनते हैं, पृथ्वी पर शयन करते हैं, शास्त्र श्रवणरूप गलियोंमें मनमाने घूमा करते हैं और परब्रह्मके साथ मनमानी क्रीड़ा करते हैं। ऐसे विचार करने वाले ज्ञानी पुरुष ही उस कर्मरूपी बंधन को तोड़ देते हैं और अपने भीतर आत्मानंद का स्वाद लेते हैं।

शंका:—तुमने पहले कहा था कि आत्मा का बंध प्रसिद्ध है, हम इसको मानते हैं और बंधके कारण सिद्ध हो जाये, कोई हर्ज नहीं है, परन्तु बंध का अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान:—जब बंध और बंध कारणके प्रति पक्षी सम्यग्दर्शनादिरूपसे आत्माका परिणमन होता है तो बन्ध और बन्धके कारणोंका अभाव हो जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यादर्शन नहीं रहता है क्योंकि वह उसका विरोधी—प्रति-पक्षी है। जिस प्रकार उष्ण

स्पर्श के होने पर ठण्डा स्पर्श नहीं होता है, उसी तरह अविरति, विरति संयम होने पर नहीं रहती हैं। प्रमाद-अप्रमादरूप परिणति, कषाय-अकषायरूप परिणाम और योग-अयोगरूप, अवस्था के होने पर नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार बन्ध हेतुओं का अभाव अर्थात् संवर सिद्ध होता है। इसी तरह तत्वार्थ सूत्रमें उमास्वामी ने भी कहा है कि अनागत कर्मों का रुक जाना संवर है।

ज्ञानी आत्मा स्वपर विचार के द्वारा आठों कर्मों के बीच में अनादिकाल से छिपी हुई निजात्मरसरूप अमृतमय रस.के: खींच लेता है और उसके स्वादसे अत्यन्त आनन्दित होकर हमेशा उसीमें ही तन्मय रहता है और अत्यन्त सुखी होता है।

शंका:—यह आत्मा शुद्धोपयोगके प्रभावसे स्वयंभू तथा सुखी तो हुआ, परन्तु इंद्रियों के विना ज्ञान और आनंद इस आत्मा के किस तरह होता है ?

उत्तर:—इस आत्मा का स्वभाव ज्ञान आनन्द है, पर के आधीन नहीं है, इसलिये निरावरण अवस्थामें ही इन्द्रिय विना ज्ञान-सुख-स्वभावसे ही परिणमता है। जैसे सूर्यका स्वभाव प्रकाश है, वह मेघ पटलों से ढक जाने से हीन प्रकाश वाला हो जाता है लेकिन मेघ समूहके दूर हो जानेपर स्वाभाविक प्रकाश हो जाता है, इसी तरह इस आत्माके भी इन्द्रिय आवरण करने वाले कर्मों के दूर हो जाने से स्वाभाविक ज्ञान प्रकट होता जाता है।

स्वपर विचारी भेदज्ञानी जीवको कर्मबंध कैसे नहीं होता ? अर्थात् वे हमेशा संसार अवस्था में रहते हुए भी कर्म बन्ध कैसे नहीं होते हैं ? अगर नहीं होते तब सभी संसारी मनुष्य ध्याना-ध्ययन, स्वाध्याय, संयम, शील, दान, पूजा इत्यादि हमेशा ही शुभध्यान में रत रहते हैं; और वही लोग घर, द्वार, कुटुम्ब इत्यादि बाह्य परिग्रहों से रहित हैं, तथा कोई ब्रह्मचारी, कोई वानप्रस्थ, त्यागी, संन्यासी इत्यादि आप अपनी शक्तिके अनुसार त्याग ग्रहण करके आत्मानुभवोंमें रत हैं, इसलिये इनको कर्मबंध नहीं होना चाहिये ?

उत्तर—यहाँ ज्ञान और अज्ञान का संबंध है, जब तक इस जीवको सच्चा आत्मज्ञान की तरफ रुचि नहीं होती है, तब तक उनका त्याग, वैराग्य, व्रत, शील, दान पूजा इत्यादि सभी क्रिया-कांड हाथी के स्नान के समान जानना चाहिये। क्योंकि कहा भी है कि:—

मासपक्षोपवासेन मन्यन्ते यत्तपो जनाः ।
आत्मविद्योपघातस्तु न तपस्तत्सतांमतम् ॥

जो लोग मास पक्ष तक उपवास आदि करके जिस तपको मानते हैं उस तपको सज्जन लोग वास्तविक तप नहीं मानते हैं क्योंकि केवल शरीर को ही सुखाना सच्चा तप नहीं है। सच्चा तप तो अपने आत्माका परिज्ञान करना ही है।

जिस मनुष्यको सांसारिक बाह्य वस्तुओं में अत्यंत दुःखदायी तथा घृणा उत्पन्न होनेसे; जब उन्होंने अपना सुख अपने तरफ मोड़ लिया तब उनको सुख अपने अंदर ही जान पड़ा, तब उनकी दृष्टि संसारी क्षणिक तथा दुःखदायी पदार्थ पर से उनका उपयोग बिलकुल हट गया है, और वे कदाचित् सामने आ भी जाय तो—उसपर उनका राग नहीं होता है। मनुष्यको जबतक संसारसे मोह रहता है तबतक राग रहता है। मोह जब हट जाता है तब सांसारिक मोह के बीच रहने पर भी मोह राग से लिप्त नहीं होता है।

जैसे जलमुर्गी नामक पक्षी जलमें कूद पड़ता है परंतु उनके पंखमें पानी नहीं लगता है, उसी तरह आत्म ज्ञानी संसारके बीच में रहने परभी संसारिक वासनाओं से लिप्त नहीं होता है, सारांश यह है कि, तप, स्वाध्याय, शील संयम, दान पूजा कठिन तप, इत्यादि करने पर भी आत्मज्ञान की पहचान बिना तप इत्यादि क्रियाकांड यह सभी अज्ञानी का निरर्थक होता है क्योंकि बारह अंग दश पूर्व पठन करने पर भी ज्ञान की प्राप्तिके बिना वह अज्ञानी ही है वे सभी शास्त्र उनके लिये बोझा ही है। कहा भी है:—

छन्दो व्याकरणं निघंटु गणितं तर्कागमो ज्योतिषं ।
शिक्षा सूत्र विकल्प वैद्यकमलं काव्यं पुराणं तथा ॥
चम्पू नाटक नाटिका प्रहसनं कण्ठीकृतं प्रायशः ।
स्याच्चैतच्च विवेकबीजरहितं सर्वं हि भारायते ॥

छन्द शास्त्र व्याकरण शास्त्र, निघंटु शास्त्र (शब्द कोष) गणित शास्त्र, तर्क (न्याय) शास्त्र, ज्योतिषशास्त्र; शिक्षासूत्र अनेक विकल्प, आयुर्वेद शास्त्र, काव्य पुराण तथा चम्पू नाटक व नाटिका

हास्य आदि प्रहास पूर्वक कण्ठ कर लेने पर भी सर्वोत्कृष्ट विवेक बीज अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति के विना ये सब निरर्थक हैं। इसलिये अज्ञानी का ज्ञान भी अज्ञान है व ज्ञानी का ज्ञान ही ज्ञान प्राप्तिका मूल कारण होता है। अतः ज्ञानी भेद-विज्ञानके द्वारा क्षण मात्र में ही आत्म रुचि को प्राप्त करके निरन्तर सच्चे सुख का अनुभव करते हैं।

ज्ञानी आत्मा अपने आत्मसुख के अनुभवके साथ सांसारिक देहादिक परवस्तु के प्रति क्या विचार करता है? इस बातको ग्रंथकार अगले श्लोक में बतलाते हैं कि:—

पोरगिदु धातुरूपदोडलिन्नेरडुंटो ळगोंदु तेजदिं।
तुरुगिद तैजसांगमोउनष्टमलाश्रित कार्मणांगमो-॥
द्दुरे पेसरिंदे बेर्पडिसवपुंदु रूपदे मिश्रितंगळी-
सेरेवने मूररोळ्पुदिद नात्मनहो अपराजितेश्वरा! ॥८॥

भावार्थः—अपराजितेश्वर! यह बाह्य शरीर सप्त धातुमय है। इसके साथ और दो शरीर हैं, एक कांति से युक्त तथा व्याप्त तैजस शरीर है और एक आठ कर्माश्रित कार्माण शरीर है। ये शरीर अपने २ नामों से स्वरूप से अलग २ है, परन्तु वे मिश्रित रूप में हैं। यह आत्मा इन तीनों रूप कैदखाने में बन्द है! सो आश्चर्य है? ॥८॥

Aparajiteshwar ! The Audarik body, different from the soul consists of seven elements. There are other two bodies too: One luminous Taijas & the other eight fold *Karman.* These are all different from the soul in their *function* & nature. But is the fact that the *infinitely* powerful soul is confined in these three bodies, not really a surprise?

विवेचनाः—ग्रंथकार ने इस श्लोक में बताया है कि यह शरीर सप्त धातुमय है इसीके और दो शरीर कार्माण और तैजस तथा इसके अंतर्गत आठ शरीर हैं। इस शरीर रूपी जेलखाने में यह आत्मा बन्द होकर अपराधी के रूप में एकाकी फंसा हुआ है जिससे उसका रूप तथा शक्ति ढकी हुई है सो कितने आश्चर्य की बात है! हे आत्मन्! तू इस शरीर रूपी महल में बन्द होने के कारण जो तेरा रूप और माहात्म्य था वह सब इस क्षणिक क्षुद्र तथा नीच संसर्ग से बिलकुल निस्तेज होगया अर्थात् तेरी कांति फीकी पड़ गई है। और बहुत दिन का संस्कार होने से उसी के रूपमें तू परिवर्तन कर रहा है। इसलिये तू इस शरीर रूपी झोपड़ी से मोह छोड़ और अपने निज स्वरूप का अवलोकन कर। तब तुझको शांति मिलेगी! आत्मानुशासन में कहा भी है किः—

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो,
व्यापारः समयं प्रतिप्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बंधनम्।

निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,
जन्मनि ! जन्मनि ते तथापि रमते तत्रैव चित्रं महत् ५२।

शरीर जो कि सर्व दुःखों का निदान है, उसके साथ तेरा अनादिकाल से लेकर नियत संबंध हो रहा है। एक छूटता है तो दूसरा आकर जुड़ता है, दूसरा छूटता है तो तीसरा आकर बांधता है। उससे आज तक तेरा कभी भी छुटकारा नहीं हुआ। इस शरीरके रहने से ही अशुभ जो पापकर्म हैं उनके परिपाक का फल तुझे सदा भोगना पड़ता है। यदि शरीर न हो तो सुख दुःख का अनुभव कौन करे ? असाता वेदनीय का उदय होने पर जो अनेक तरह की आधि व्याधियां आती हैं वे सब शरीर के होने से ही आती हैं। शरीर न हो तो कांटा कहां चुभे ? फोड़े, ज्वर, खांसी आदि रोग कहां होंगे ? कारागृह आदि के बंधन किसको हों ? वात पित्त कफ के विकार से उत्पन्न हुए क्षुधा तृपादि रोग किसको हों ? क्या ये सब दुःख शरीर के विना अमूर्त्त आत्मा को हो सकते हैं ? कभी नहीं, इसलिए सब दुःखों के भोगने का निदान शरीर है। शरीर के होने से मूर्त्तिमान हो जाने वाले जीव के प्रदेशों में निरन्तर सर्व कर्मों का गाढ़ बन्धन होता है। यही यहां महाउद्योग है और वह निरन्तर ही चलता रहता है, जब तक जीव के साथ शरीर का सम्बन्ध है तब तक कर्म बन्धन से रुकने वाला नहीं है। अत्यन्त श्रम करके जब थकावट आ जाती है तब विश्राम के लिए निद्रा लेकर अचेत पड़ जाता

है। निद्रा भी कर्मोदयसे है। है मरने से सदा डरता है तो भी मरण अवश्य आता ही है। अरे जीव! तेरे जीवन में ये सब व्यथायें लग रही हैं परन्तु तो भी तू उन शरीरादिकों से ही प्रीति करता है। विषयोंको सुख साधन समझकर निःशंक होकर उनमें रत रहता है। इनको दुःख के कारण समझता हुआ भी इनमें लीन होता है यह बड़ा आश्चर्य है। यह शरीर जेलखाना है देखोः—

अस्थिस्थूल तुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि
श्चर्माच्छादितमस्त्रसांद्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं,
कारागारमवेहि ते हतमते! प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥५९॥

अरे मूर्ख! तू इस शरीर में वृथा क्यों आसक्त हो रहा है? इस शरीर को तू केवल जेलखाना समझ। जेलखाना बड़े २ पत्थर सहतीर वगैरह लगकर बनता है। यह शरीर हड्डियों से बना हुआ है। जेलखाना लोह और पत्थर आदि के परकोटे से घिरा हुआ होता है, यह शरीर शिरा स्नायुओं से जकड़ा हुआ है। जेलखाना भी कैदी लोग कहीं से निकल न जांय इसके लिये सब तरफ से ढका हुआ रहता है। यह शरीर चमड़े से ढका हुआ है। जेलखाने में जहां तहां कैदियों के आघात से रुधिर, मांस दृष्टिगोचर होता है परन्तु शरीर के भीतर सभी जगह वह भरा हुआ है। कैदी कहीं भाग न जायँ इसलिए जेलखाने के आस पास जेल के स्वामी की

तरफ से दुष्ट क्रूर मनुष्यों का पहरा लगा रहता है। इसी प्रकार इस शरीर में भी दुष्ट कर्म शत्रुओं का पहरा लगा रहता है। जेलखाने में जगह २ दरवाजों के बीच में अर्गला की लकड़ी लगी रहती है कि जिससे कैदी बाहर निकल न जावें। यहां पर जीव कैदी को रोकने के लिए आयु रूप मजबूत अर्गला लगी रहती है। जब तक आयु अर्गला नहीं हटती है तब तक जीव रूप कैदी शरीर में से बाहर नहीं निकल सकता है। जब कि ऐसा है तो शरीर और जेलखाने में क्या अन्तर है? कुछ भी नहीं।

कोई वादी ऐसा कहता है कि जगत में एक जीवकी अन्य अन्य अवस्थाएं नहीं होती हैं, देव मरके देव होता है, मनुष्य मर-करके मनुष्य ही होता है उनके कथन को निषेध करने के लिये पंचास्तिकाय में कुंदकुंदाचार्य ने कहा है कि:—

खीणे पुव्वणिबध्दे गदिणामे आउसेच तेवि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥१२॥

संसारी जीव अपने अपने परिणामों के आधीन भिन्न २ गति व आयु को बांध कर जन्मते रहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म, शुक्ल ये छह लेश्यायें होती हैं इनका स्वरूप श्री गोमटसार में विस्तारपूर्वक कहा है जैसे:—

चंडोण मुचइ वेरं भंडल सीलो य धम्मदयरहियो।
दुट्ठो ण य एदि वसंलक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥

भावार्थ—जो प्रचंड तीव्र क्रोधी हो, वैर न छोड़े, बकने व युद्ध करने का जिसका सहज स्वभाव हो, दया धर्म से रहित हो, दुष्ट हो, किसी गुरुजन आदि के वश न हो। ये लक्षण कृष्ण लेश्या वालों के है। इसका वर्णन हम संक्षेप में करते हैं—

"कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिः लेश्या" अर्थात् कषायों के उदय से रंगी हुई योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। यही गति-नाम नामकर्म के व आयुकर्मके बांधने का बीज है। इसलिए लेश्या का नाश करना योग्य है। जिसका उपाय यह है कि जब यह भावना की जाती है कि मैं क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप चारों कषायों के उदय से भिन्न हूँ, तथा अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख तथा अनंत वीर्य इन चार अनंत चतुष्टय से भिन्न नहीं हूँ ऐसा मैं परमात्मा स्वभावधारी हूँ, तब कषायों के उदय का नाश होता है। इस भावना के लिये ही शुभ या अशुभ मन वचन काय के व्यापार का त्याग किया जाता है। इसी ही क्रम से तीनों योगों का अभाव हो जाता है, तब कषायों के उदय से रंगी हुई योगोंकी प्रवृत्तिरूप लेश्या का भी विनाश हो जाता है। लेश्या के अभावसे गतिनाम कर्म तथा आयु कर्मों का भी अभाव हो जाता है तब अक्षय अनंत सुखादिगुणों का लाभ होता है

इसका खुलासा यह है कि:—यह जीव लेश्या के अनुसार आयुकर्म तथा गतिनाम कर्म बांधता है और लेश्या के अनुसार एक आयु व गति को छोडकर दूसरी आयु व गति में प्राप्त हो

जाता है। मरण के अंत में जो लेश्या हो उसी लेश्या का संबंध दूसरी गति में अपर्याप्त अवस्था तक अवश्य चला जाता है। लेश्या आत्माके योग शक्ति परिणाम को कहते हैं जो परिणमन मन वचन कायकी क्रिया के आलंवन से कपायों के उदय के रंग से रंगा हुआ हो। वास्तवमें लेश्या,योग प्रवृत्ति और कपाय का उदय इन दोनों की मिली हुई अवस्था का नाम है। यद्यपि कपाय रहित के योग प्रवृत्ति कपायानुरंजित नहीं होती है, तथापि योग प्रवृत्ति रहने से शुल्क लेश्या सयोग केवली तक वताई है। अयोग केवली के न योग प्रवृत्ति है न कपायों का उदय है इसलिये वहां लेश्या का कुछ भी संवंध नहीं है। छह लेश्याओं में कृष्ण, नील कापोत अशुभ है और पीत, पद्म, शुक्ल, शुभ हैं। "नारकी जीव और चार इन्द्रिय तक सव जीव तीव्र अशुभ लेश्या वाले ही है। पंचेंद्रिय असैनी के कृष्ण से लेकर पीत तक चार लेश्याएं होती हैं, शेष पंचेंद्रिय सैनी मनुष्य तथा तिर्यंचों के छहों लेश्याएं होती हैं। देवों के पर्याप्त अवस्थामें पीत, पद्म, शुक्ल लेश्यां ही है। अपर्याप्त अवस्था में भवनवासी, व्यंतर ज्योतिपी के कृष्ण, नील व कापोत तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं ऐसे कृष्ण लेश्याका स्वरूप कहा। अव अन्य पांच लेश्याओं का स्वरूप नीचे लिखे प्रमाण श्रीगोमट सार में कहा है।

निद्दावंचन वहुलो धणधण्णे होदि तिव्व सण्णाय।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ।।५११।।

जिसके निद्रा वहुत हो, जो दूसरों को वहुत ठगता हो,धन धान्य आदि में तीव्र लालसावान हो वह संक्षेप में नील लेश्यावाले जीव का चिन्ह कहा गया है।

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ वहुसोय सोय भयवहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं वहुसो ॥५१२॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं इव परंपि मण्णंता।
थूसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणि वड्ढिं वा ॥५१३॥
मरणं पत्थेइ हणो देइ सुवहुगं य थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खण मेयंतु वाउस्स ॥५१४॥

जो दूसरों पर वहुत क्रोध करे, वहुत प्रकार और की निंदा करे, वहुत प्रकार दूसरों को दुःखी करे, जिसके शोक व भय वहुत हो, जो दूसरो के साथ ईर्षा रक्खे, दूसरों का अपमान करे, अपनी वहुत वड़ाई करे, जो अपने समान दूसरे को पापी व कपटी मानता हुआ उसका विश्वास न करे, जो अपनी स्तुति करे उस पर वहुत प्रसन्न हो, दूसरे की हानि व लाभ पर ध्यान न दे, जो युद्ध में अपना मरण चाहे, जो अपनी वड़ाई करे उसको वहुत धन दे, तथा जो कर्तव्य अकर्तव्य को न गिने, ऐसे चिन्ह वाले पीत लेश्या वाले होते है।

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमदरसी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स ५१५

जो कर्त्तव्य, अकर्तव्य, सेवने योग्य न सेवने योग्य को जाने, सर्वको अपने समान देखनेवाला हो, दया व दान में प्रीति रखता हो तथा मन, वचन, कायमें कोमल हो, ऐसे चिन्ह पीत लेश्यावाले जीवके होते हैं।

चागी भद्दा चोक्खो उज्जवकम्मोय खमदि बहुगं पि।
साहुगुरु पूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥५१६

जो त्यागी हो, भद्र हो, सुकार्य करने का स्वभाव रखता हो, शुभकार्य में उद्यमी हो, कष्ट व उपद्रव को बहुत सहन करनेवाला हो तथा साधुओं की और बड़ों की भक्ति में प्रीतिमान् हो, ऐसे चिन्ह पद्म लेश्यावाले जीवके हैं।

ण कुणइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेमिं।
णत्थि रायद्दोसा णेहोवि य सुक्क[illegible] ॥५१७॥

जो पक्षपात न करे, जो निदान न करे अर्थात् भोग कांक्षा से धर्म न सेवे, जो सर्व जीवों में समताभाव रखता हो, इष्ट व अनिष्ट में राग-द्वेष न करता हो, पुत्र, स्त्री आदिमें स्नेह रहित हो, ऐसे चिन्ह शुक्ल लेश्यालाले हैं।

कृष्ण लेश्या का स्वरूपः—

मंदो बुद्धि विहीणो णिव्वाणाणी य विसयलोलो य।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ॥५०९॥

जो स्वच्छन्द हो, क्रियामें मंद हो, बुद्धि रहित हो, वर्तमान कार्य को न जानता हो, विज्ञान व चातुरी से रहित हो, इन्द्रियोंके विषयों का अति लंपटी हो, अभिमानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो तथा जिसके मनके अभिप्राय को दूसरा न जान सके, ये चिन्ह कृष्ण लेश्यावाले जीव के हैं।

छह लेश्याओं के दृष्टांतः—

कृष्णादिक छहों लेश्यावाले छह पथिक मार्ग भूलकर एक वन में पहुंच गये। वहाँ फलके भारसे भरे एक वृक्षको देखकर वे ऐसा विचार करने लगे—कृष्णलेश्याके भावको रखनेवाला विचारता है कि मैं इस वृक्ष, पेड़ या स्कंध को काटकर फल खाऊँगा। कापोत लेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्षकी बड़ी २ शाखाओंको काट कर फल खाऊँगा। पीत लेश्यावाला विचारता है कि मैं इस वृक्ष की छोटी छोटी टहनियों को काटकर फल खाऊँगा। पद्म लेश्यावाला विचारता है कि मैं वृक्षोंके फलों को ही तोड़कर खाऊंगा। शुक्ल लेश्यावाला विचारता है कि मैं उन फलों को ही खाऊँगा जो अपने आप टूटकर गिरे हों। इसप्रकार छह लेश्यावालोंके विचार या कर्म होते हैं। इस दृष्टांत से छह प्रकार की लेश्यावाले जीवों के भावों का पता चलता है।

इन लेश्याओंके अंशोंसे ही परभवके लिये आयु बंध होता है व इन लेश्याओं को लिये हुए ही मरकर जहाँ उस लेश्या का होना संभव है वहीं, यह जीव जाता है।

छह लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, ऐसे अठारह भेद हैं इनमें जीव मरकर दूसरी गति को जाते हैं। इन ही के मध्य में आठ अंश ऐसे हैं जिनमें आयुकर्मका वंध होता है। गोमट्टसार कर्म-कांडके स्थान समुत्कीर्तन अधिकार में कहा है कि—तेजोलेश्या के जघन्य स्थानके पीछे अपने अनंतगुण वृद्धिरूप मध्यम स्थानसें लगाकर कापोतलेश्याका जघन्य स्थानके पीछे अनंतगुणवृद्धि-रूप जो तेजोलेश्याका मध्यम स्थान जहाँ पर्यंत पद्म, शुक्ल, कृष्ण, नीलके जघन्य अंश ऐसे चार अंश तो ये तथा चार अंश नीचे प्रमाण हैं।

(१) चारों ही आयु वंध के कारण पृथ्वी भेद के समान कषायें कृष्णादि छहों के मध्यम अंश हैं।

(२) नरक विना तीन आयु वंध के कारण धूलि रेखा समान कषायें कृष्णादि छहों लेश्या के मध्यम अंश हैं।

(३) नरक तिर्यंच विना दो आयु वंधके कारण धूलि रेखा के समान कषाय में कृष्णादि छहों लेश्या के मध्यम अंश है।

(४) केवल देव आयु वंधके कारण धूलि रेखा समान कषायमें कृष्ण विना ५ के या कृष्ण नील विना ४ के या पीतादि तीन लेश्या के मध्यम अंश इस तरह आठ अंश आयु वंध के कारण हैं। आयु कर्म का वंध हर समय नहीं होता है। कर्म भूमिके मनुष्य या तिर्यंच के लिये यह नियम है कि जितनी आयु की स्थिति हो

इसके दो तिहाई बीतने पर एक अंतर्मुहूर्त के लिये पहला अवसर आता है। इस मध्यमें यदि आयु बंधके योग्य मध्यम लेश्याके अंश होते हैं तो आयु बंधती है, यदि नहीं होते हैं तो नहीं बंधती है। फिर शेष आयुमें से दो तिहाई भाग जानेपर दूसरी दफे एक अंतर्मुहूर्त के लिये अवसर आता है यदि यहाँ भी नहीं बन्धी तो फिर दो तिहाई बीतने पर तीसरी दफे अंतर्मुहूर्त के लिये अवसर आयेगा। इस तरह दो तिहाई स्थिति के बीतते हुए आठ दफे अवसर आयेगा। इसको अपकर्षकाल कहते हैं। जो आठ बार में आयु न बन्धी तो मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले अर्थात् मरणके कालके अन्तर्मुहूर्त के मध्यमें ही अवश्य बन्ध जायगी। जीवकांड गाथा नं० ५१७ में कहा है कि—जैसे किसी आयु की स्थिति ६५६१ वर्ष है तो उसके आठ अपकर्ष नीचे प्रमाण वर्ष शेष रहने पर आयेंगे:—

(१) प्रथम अपकर्ष जब २१८७ वर्ष शेष रहे।
(२) दूसरा „ ७२९ „ „
(३) तीसरा „ २४३ „ „
(४) चौथा „ ८१ „ „
(५) पांचवाँ „ २७ „ „
(६) छट्ठा „ ९ „ „
(७) सातवाँ „ ३ „ „
(८) आठवाँ „ १ „ „

जब किसी अपकर्ष में परभवके लिये आयु बांधली हो तब उसके आगे आनेवाले अपकर्षोंमें उस समय की लेश्या के अनुसार आयु की स्थिति कम या अधिक हो सकती है, दूसरी आयु नहीं बंधती है। चार आयुमेंसे एक ही आयु का बन्ध होता है।

भोगभूमि के मनुष्य तिर्यंच अपनी आयु की स्थितिमें नौ मास शेष रहने पर, देव नारकी अपनी स्थितिके छह मास शेष रहने पर इसी स्थिति के आठ त्रिभागोंके कालमें ही आयु बांधते हैं। मरण समय कौनसी लेश्यावाला कौनसी गतिको जाता है, यह कथन गोमट्टसारजी के अनुसार दिया जाता है—जो अपना हित करना चाहें वे शुभगति संबंधी भावोंके होनेका व निमित्त मिलनेका मरण समय उद्यम रक्खें।

सेसट्ठारस अंसा चउगइगमणस्स कारणा होंति।
सुक्कुक्कस्संसमुदा सव्वट्ठं जांति खलु जीवा॥

अर्थः—अपकर्षकाल में होनेवाले लेश्याओं के आठ मध्यमांशों को छोड़कर बाकी के अठारह अंश चारों गतियों के गमन के कारण होते हैं। तथा शुक्ललेश्या के उत्कृष्ट अंशसे संयुक्त जीव मरकर नियमसे सर्वार्थ-सिद्धि को जाते हैं॥

अर्थात्—लेश्याके छब्बीस अंश होनेसे मध्य कें आठ अंशको छोड़कर जिनके आयु कर्म बांधने की योग्यता है, शेष अठारह अंशों में अर्थात् छहों लेश्याओं के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट

भेदोंमें चारों गतियों में जाने का कारण भूत होती है। श्री गोमट्ट-सार की गाथा ५२० से ५२६ तक जो लेश्याओं के द्वारा जन्मों का कथन है उसका भाव नीचे प्रमाण जानना:—शुक्ल लेश्या के मध्यम अंश से मरे जीव आनत नाम तेरहवें स्वर्ग से लेकर विज-यादि चार अनुत्तर विमानों में पैदा होते हैं तथा शुक्ल लेश्या के जघन्य अंश से मरकर शतार सहस्रार नाम ११ वें व १२ वें स्वर्ग में जन्मते हैं। पद्म लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर सहस्रार नामक वारहवें स्वर्ग में तथा उसके जघन्य अंश से मरकर सनत्कु-मार और माहेंद्र स्वर्ग में पैदा होते हैं तथा पद्म लेश्या के मध्यम अंश से मरकर सहस्रार से नीचे सनत्कुमार, माहेंद्र के ऊपर यथा-योग्य जन्मते हैं। तेज या पीत लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर सनत्कुमार माहेंद्र स्वर्ग के अंत के पटल में चक्रनामा इन्द्रक संबंधी श्रेणीवद्ध विमानों में उपजते हैं। तेज लेश्या के जघन्य अंश से मरकर उसके सौधर्म ईशान स्वर्ग का पहिला ऋतु नामा इन्द्रक या इसके श्रेणीवद्ध विमानों में तथा उसके मध्यम अंश से मरकर सौधर्म ईशान के दूसरे पटल के विमल नाम इन्द्रक से लगाकर सनत्कुमार माहेंद्र के अंतिम पटल के नीचे पटल के वलभद्र नाम इन्द्रक तक विमानों में पैदा होते हैं।

कृष्ण लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर जीव सातवें नरक के अवधिनाम इन्द्रके विल में पैदा होते हैं। इसी के जघन्य अंश से मरकर जीव पांचवें नरकके अंत पटल के तिमिस्त्र नाम इन्द्रक

में तथा मध्यम अंश से मरकर सातवें नरक के शेप चार विलों में व छठे नरक के तीनों पटलों में व पांचवीं पृथ्वी के अंतिम पटल में यथायोग्य उपजते हैं।

नील लेश्याके उत्कृष्ट अंश से मरकर जीव पांचवें नरक के अंतिम पटल से पहले पटलके अंध्रनाम इन्द्रक में, व जघन्य अंश से मरकर तीसरी वालुका पृथ्वी के अंत पटल में संप्रज्वलित नाम इन्द्रक में, व मध्यम अंश से मरकर वालुका पृथ्वी के संप्रज्वलित इन्द्रक से नीचे, चतुर्थ पृथ्वी के सात पटलों में व पंचम नरक के अंध्र इन्द्रक से ऊपर पैदा होते हैं।

कापोत लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरकर जीव तीसरे नरक के आठवें पटल के संज्वलित नाम इन्द्रक में, जघन्य अंश से मरकर पहली पृथ्वी के पहले सीमन्तक नामा इन्द्रक में, मध्यम अंश से मरकर इन दोनों के मध्य में पैदा होते हैं।

तथा कृष्ण नील, कापोत इन तीन लेश्याओं के मध्यम अंश से मरे ऐसे कर्मभूमियां मिथ्यादृष्टी तिर्यंच या मनुष्य और तेजो-लेश्या के मध्यम अंश से मरे ऐसे भोगभूमियां मिथ्यादृष्टी तिर्यंच या मनुष्य तीन प्रकार के भवनवासी, व्यंतर व ज्योतिपी देवों में उत्पन्न होते हैं।

कृष्ण, नील, कापोत, पीत इन चार लेश्याओं के मध्यम अंश से मरे तिर्यंच या मनुष्य या भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी या

सौधर्म ईशान स्वर्ग के वासी देव मिथ्यादृष्टी से वाहर पर्याप्त पृथ्वीकायिक, जलकायिक व वनस्पतिकायिक में पैदा होते हैं। यहां भवनत्रयादि देवों के मात्र पीतलेश्या से व तिर्यंच या मनुष्यों के कृष्णादि तीन लेश्या से मरण होता है।

कृष्ण, नील, कापोत के मध्यम अंश से मरे ऐसे तिर्यंच या मनुष्य अग्निकायिक, वातकायिक, विकलत्रय, असैनी पंचेन्द्रिय, व साधारण वनस्पति में उपजते हैं।

तथा सामान्य नियम यह है कि भवनत्रिक को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि तक देव धम्मा आदि सात पृथ्वी संवंधी नारकी अपनी अपनी लेश्या के अनुसार यथायोग्य मनुष्य गति या तिर्यंच गति को जाते हैं। यह भी वात जान लेना चाहिए कि जिस गति संवंधी पहले आयु वांधी हो उस ही गति में मरण के समय होने वाली लेश्या के अनुसार यह जीव पैदा होता है। जैसे मनुष्य के पहले देव आयु का वंध हुआ फिर मरण होते हुये कृष्ण आदि अशुभ लेश्या हो तो भवनत्रिक में पैदा होता है; ऐसा ही नियम और स्थान में भी जानना।

इस कथन से यह वात सिद्ध होती है कि मरण के समय जैसा लेश्या संवंधी भाव होगा उसी के अनुसार जहां वह लेश्या अपर्याप्त अवस्थामें संभव होगी वहीं जीव जायगा। ऐसा जानकर भमव्य जीवको उचित है कि अशुभ लेश्या संवंधी भावोंको त्यागकर

शुभ लेश्या संबंधी भावको धारण करे। सबसे ऊँचा भाव शुक्ल लेश्या के हैं। इस भावकी प्राप्ति के लिये हमें अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूप का विचार करना चाहिये। शुद्ध वीतराग भाव की भावना ही भावोंको उत्तम बनाने वाली है।

ग्रन्थकारने ऊपरके श्लोक में यह बताया है कि यह आत्मा शुभाशुभ भाव के द्वारा अज्ञान के कारण इस शरीररूपी कैदखाने में पड़कर अनेक दुःख उठा रहा है, इसलिये इस आत्मा को संबोधन के साथ कहते हैं कि हे आत्मन्! हे जीव! तुझे अनादि काल से अशुभ लेश्या को प्राप्त कर अनेक निंद्य शरीर धारणकर इस संसारमें भटकना पड़ा इसलिये अब तू वीतराग भावना द्वारा शुभ लेश्या को प्राप्त कर निजानंद आत्म रसका स्वाद कर। तब तेरा दुःख मिटेगा और सुख शांति मिलेगी।

आगे तैजस और कार्माण शरीरके नाश का उपाय बतलाते हैं:-

आगुत पोगतिपुंदिद्दु बाह्य शरीर मनेक रूपदिं।
योगत्रियोगियप्प पदिनाल्कु गुणस्थलकालकल्लदे॥
पोगदु तैजसं पुदिद कार्मणमुं सले भेद भावनो-
द्योगमनिंदुवोडट्टेसग वेल्कुमदर्कपराजितेश्वरा! ॥९॥

हे अपराजितेश्वर! ये बाहर के शरीर अनेक रूप से होते रहते हैं और जाते भी रहते हैं; परन्तु तैजस शरीर तथा कार्माण शरीर ये दोनों मन, वचन, काय ऐसे तीनों योग से रहित चौदहवें

गुणस्थान के विना अर्थात् अयोग केवली गुणस्थान के सिवाय अन्य किसी गुणस्थान में नहीं जाते हैं। अतः इन दोनों शरीरों के जाने के लिए आजसे भेद भावना की आव यकता है ॥७॥

Aprajiteshwar ! The eternal body (Audarik) gets difficiently formed in different 'Gaties. But 'Taijas' and 'Karman' bodies different from mind, Body speech and ('Mana', 'Vachan' & 'Kaya') do not separate until the attainment of fourteenth spiritual stage of non Vibration (Ayegi-Gunasthan). To separate both these bodies, one should practise 'Bheda-Vigyana' and the exercises of conduct. This is your teaching.

How should it be done, Aparajiteshwar ? Having destroyed all the external attachments, would not one who, with enthusiasm, sitting in some lonely place and meditating upon his soul as pure as Spathik Stone, with a strong concentration of mind, attain to the perception of pure 'Siddha' nature ?

विवेचन—ग्रन्थकारने इस श्लोक में बताया है कि ये बाहरके शरीर अनेक रूपसे हमेशा प्राप्त होते भी हैं और जाते भी रहते है। परन्तु तैजस और कार्माण इन दोनों शरीर मन, वचन और काय रहित अयोग केवलो गुणस्थानके विना किसी अन्य गुणस्थानमें नहीं दूर होते हैं। इन दोनें शरीरों को दूर करने के लिए

शुरूसे लेकर अंततक भेद भावना के उद्योग को प्रारंभ करना चाहिये। इसका क्रम यह है कि:—व्यवहार नय पराश्रित है। दूसरे द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा को कुछका कुछ कहने वाला है। निश्चयनय स्वाश्रित है। आत्मा को यथार्थ जैसा का तैसा कहने वाला है। निश्चयनयसे आत्मा स्वयं अरहंत या सिद्ध परमात्मा है। आत्मा एक शुद्ध अभेद्य ज्ञायक है जैसे सिद्ध भगवान् हैं। अपने को शुद्ध निश्चयनय से शुद्धरूप ध्यान ही साक्षात् परमात्मा होने का उपाय है, यही मोक्षमार्ग है क्योंकि जैसा ध्यावे वैसा ही हो जावे। समय सार में कहा है कि:—

सुद्धंतु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमवप्पयं लहदि ॥१७६॥

शुद्ध आत्माको अनुभव करनेसे यह जीव शुद्ध आत्मा को पा लेता है या शुद्ध होता जाता है। जो कोई अपने आत्मा को अशुद्ध रूप में ध्याता है उसको अशुद्ध आत्मा का ही लाभ होता है। वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता है। इसलिये शुद्ध आत्मा है ऐसा बताने वाला निश्चयनय है, सो वही ग्रहण करने योग्य है, व्यवहार नय ग्रहण करने योग्य नहीं है, केवल जानने योग्य है और निश्चय नय के साधन भूत है। आत्माके साथ कर्म का संयोग अनादि से चला आ रहा है।

व्यवहार और निश्चय इन दोनों का सहारा एक साथ लिये विना निर्वाण पदकी प्राप्ति वहुत कठिन है।

गृहस्थ भी निर्वाण मार्ग पर चल सकता है:—

यहां यह कहा है कि गृहस्थ के व्यापार धंधे में उलझा हुआ मानव भी निर्वाण का साधन कर सकता है। यह बात समझनी चाहिये कि निर्वाण आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। वह तो आप है ही, उस पर जो कर्मका आवरण है उसको दूर करना है, उसका भी साधन एक मात्र अपने ही शुद्ध आत्मिक स्वभाव का दर्शन या मनन है। निर्वाणका मार्ग भी अपने पास ही है।

सम्यग्दृष्टि अंतरात्माके भीतर भेद विज्ञानकी कला प्रकट हो-जाती है। जिसके प्रभावसे वह सदा ही अपने आत्मा को सर्व कर्म जालसे निराला वीतराग विज्ञानमय शुद्ध सिद्ध के समान श्रद्धान करता है, जानता है तथा उसका आचरण भी कर सकता है। जिस तरफ रुचि हो जाती है उस तरफ चित्त स्वयमेव स्थिर हो जाता है। आत्मस्थिरता भी करने की योग्यता अविरत सम्य-ग्दृष्टि गृहस्थको हो जाती है। वह जब चाहे तब सिद्ध के समान अपने आत्मा का दर्शन कर सकता है।

आत्म-दर्शन गृहस्थ तथा साधु दोनों ही कर सकते हैं। गृहस्थ अन्य कार्यों की चिंताके कारण बहुत थोड़ी देर आत्म-दर्शन के कार्य में समय दे सक्ता है, जब साधु गृहस्थ कार्य से निवृत्त है। उस साधुको गृह संबंधी अनेक कार्यों की कोई फिकर नहीं है, इस लिये वह निरंतर आत्माका दर्शन करसकता है, निर्वा

साधन साधु पदमें ही हो सकता है, गृहस्थ के एक देश साधन हो सकता है।

हरएक तत्त्वज्ञानी अंतरात्मा गृहस्थ को चार पुरुपार्थोंका साधन आवश्यक है। मोक्ष या निर्वाण के पुरुपार्थ को ध्येयरूप या सिद्ध करने योग्य मानके निर्वाण प्राप्ति का लक्ष्य रखके अन्य तीन पुरुपार्थ धर्म, अर्थ और काम का साधन गृहस्थ करता है। तीनों में विरोध पहुंचे इस तरह तीनों की एकतापूर्वक कार्य करता है, इतना धर्मका भी साधन न कर सके। इतना द्रव्य कमाने में भी नहीं लगता जो धर्म का साधन न कर सके व शरीर को रोगी बना ले, जिससे काम पुरुपार्थ न कर सके। इतना इन्द्रिय भोग भी नहीं करता है जिससे धर्मसाधन में हानि पहुंचे व द्रव्य का लाभ न कर सके।

अर्थ पुरुपार्थ के लिये वह अपनी योग्यता के अनुसार नीचे लिखे छह कर्म करता है व इनमें सहायक कार्यको करता है।

असिकर्मः—शस्त्र धारण करके रक्षा का काम करना।

मसिकर्मः—हिसाव-किताव जमाखर्च व पत्रादि लिखने का काम करना।

कृषिकर्मः—खेती करने व कराने का प्रवन्ध करने की व्यवस्था करना।

वाणिज्यकर्मः—देश-विदेश में माल का क्रय-विक्रय करना।

शिल्पकर्मः—नाना प्रकार के उद्योगोंसे आवश्यक वस्तुओं को बनाना।

विद्याकर्मः—गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी आदि। पाँचों इन्द्रियों के भोग भोगना। स्पर्शन इंन्द्रियके भोगमें अपनी विवाहिता स्त्री में संतोष रखता है, रसना इन्द्रियके भोगमें शुद्ध व स्वास्थ्य-वर्द्धक भोजन-पान ग्रहण करता है, घ्राण इन्द्रियकें भोगमें शरीर रक्षक सुगन्ध लेता है, चक्षु इंद्रियके भोगमें उपयोगी ग्रन्थों का व वस्तुओं का अवलोकन करता है और कर्ण इन्द्रियके भोगमें उपयोगी गान वगैरह सुनता है।

अब गृहस्थ उपयोगी देव-पूजादि तीनों पुरुषार्थों को साधन समझकर करता है:—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

देवपूजा करना, गुरु की उपासना, चारों प्रकार का दान देना, स्वाध्याय और संयम। संयम दो प्रकार का है। (१) इन्द्रिय संयम (२) प्राणी संयम। षट्काय जीवोंकी रक्षा करना इसे प्राणी संयम कहते हैं और अपनी पंचेन्द्रियों को वशमें रखना प्राण संयम। तपः—संसारी वस्तु व शरीर से मोह कम करनेके लिए बाह्य वस्तुका त्याग करना तथा आत्मध्यान को बढ़ाने का अभ्यास करना तप है। चार प्रकार के दान देना। इस प्रकार छह क्रिया श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार करता है।

कुन्दकुन्दाचार्य रयणसार में भी कहते हैं कि:—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेणविणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सोवि ॥

अर्थ:—सुपात्र में चार प्रकार का दान देना और श्री देव शास्त्र गुरु की पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है। जो नित्य इन दोनों को अपना मुख्य कर्तव्य समझकर पालन करता है, वही श्रावक है धर्मात्मा सम्यग्दृष्टी है। ध्यान और जिनागम का स्वाध्याय करना मुनीश्वरों का धर्म है। जो मुनिराज इन दोनों को अपना मुख्य कर्तव्य समझ कर अहर्निश पालन करता है, वही मुनीश्वर है, मोक्ष-मार्ग में संलग्न है। यदि श्रावक दान नहीं देता है और न प्रतिदिवस पूजा करता है वह श्रावक नहीं है और जो मुनिराज ध्यान और अध्ययन नहीं करता है वह मुनीश्वर नहीं है क्योंकि श्रावक की पहिचान दान और पूजा से तथा मुनि की पहिचान ध्यानाध्ययन से होती है।

दाणु च धम्मु ण चागु ण भोगु ण वहिरप्प जो पयंगो सो।
लोह कसायग्गिमुहे पडिओ मरिओ ण संदेहो ॥

अर्थ:—जो श्रावक सुपात्र में दान नहीं देता है, न अष्टमूलगुण व्रत संयम पूजा आदि अपने धर्म का पालन करता है, और न भोग ही नीतिपूर्वक भोगता है वह वहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टी

है। जैन धर्म धारण करने पर भी जैन धर्म से बहिर्भूत है। वह लोभ की तीव्र अग्नि में पतंग के समान पड़ कर मरता है, इसमें संदेह नहीं है। जो श्रावक मोह के वश होकर धर्म सेवन नहीं करता है खाना-पीना भूलकर धन कमाने में ही मग्न रहता है वह लोभी निरंतर हिंसा आरंभ आदि घोर पापों को ही संपादन कर इस संसार चक्र में भ्रमण करता रहता है।

जिनपूजा मुणिदाण करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्म इट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥

अर्थः—जो श्रावक प्रतिदिन देव, शास्त्र गुरु की पूजा और सुपात्र में चार प्रकार का दान देता है वह सम्यग्दृष्टी श्रावक है। ये श्रावक के मुख्य कर्तव्य हैं। भक्तिभाव और श्रद्धा से इनका पालन करता है वह संसार समुद्र से पार हो मोक्षमार्ग में शीघ्र ही गमन करता है।

पूयाफलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारमुहं भुंजदे णियदं ॥

जो शुद्ध भाव से श्रद्धा से पूजा करता है वह पूजा के फल से त्रिलोकाधीश व देवताओं के इन्द्रों से पूज्य होता है तथा दान देने पर उसके फल से त्रिलोक में सारभूत उत्तम सुखों को भोगता है।

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं सदंसणे किं वियारेण ॥

अर्थः—दान देने से ही श्रावक धन्य कहलाता है । देवताओं से पूज्य और पंचाश्चर्य को प्राप्त होता है । एक जिनलिंग को देखकर आहारदान देना चाहिए । जिन लिंग धारण करने पर पात्रापात्र का विचार नहीं करना चाहिए ।

सर्व प्रकार के परिग्रह और आरंभ रहित नग्न दिगम्बर जिन-लिंग को धारण करने वाले मुनीश्वरों को आहार देने के प्रथम यह विचार करना चाहिये कि ये मुनीश्वर द्रव्यलिंगी है अथवा भावलिंगी । जब तक इनकी पूर्ण परीक्षा न हो जायगी तब तक आहार नहीं देना चाहिए । आहारदान प्रदान करने के लिए आरंभ परिग्रह रहित मुनीश्वरों के छिद्र देखना अपनी बुद्धि और तर्क के द्वारा जिनलिंग के विपय में आगम के विपरीत भावों का प्रदर्शन कर, जिनलिंग धारण करने वाले मुनीश्वरों की परीक्षा करना इत्यादि कुचेष्टाओं के द्वारा जिनलिंग धारण करने वालोंके उत्साह और चारित्र को मंद करना मिथ्यात्व कर्म का उदय है । जिनलिंग देखते ही उसे सुपात्र समझकर भक्ति भाव और श्रद्धा पूर्वक नवधा भक्ति से आहारदान देना श्रावकका कर्तव्य है । श्रावक के लिए जिनलिंग ही सुपात्रका चिन्ह है ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं । श्रावक को आहार देने के लिए जिनलिंग को देखकर फिर यह द्रव्यलिंगी कुपात्र है इस प्रकार की परीक्षा करने का कोई अधिकार नहीं है न यह परीक्षा करनी चाहिए ।

दिएणइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥

अर्थः—सुपात्र को दान प्रदान करने से नियम से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, ऐसा श्री जिनेंद्र भगवान ने कहा है।

और बाकी तीन प्रकार दान शास्त्रदान, औषधदान और अभयदान भी सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु ज्ञानी जीव द्वारा अपनी शक्ति के अनुसार देने चाहिये।

अब निश्चय रत्नत्रय साधन भूत व्यवहार पूजा तथा जल गंध चंदनादि से भगवानकी पूजा करना इसको द्रव्य पूजा कहते हैं। इस द्रव्य पूजा में भगवान् को आव्हानन करने के पहले नीचे लिखे अनुसार एक चौकी पर साथिया लिखे कि—
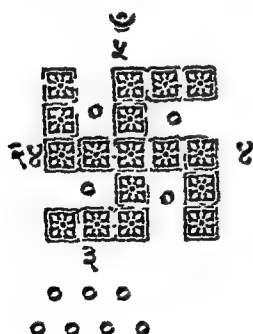
रयणत्तयं च वंदे चउवीस जिणेय सव्वदा वंदे।
पंचगुरूणं वंदे चारणचरणं सदा वंदे॥

यह स्वस्तिक, पूजा में स्थापना के पहले लिखा जावे।

स्वस्तिक का अर्थ—स्वस्तिक की स्थापना कल्याण तथा सिद्धत्व की प्राप्ति के हेतु होती है। स्वस्तिक के बीच के चार शून्य

चार गतियों की द्योतक हैं। सिद्धत्व की प्राप्ति के लिये इन चारों गतियों का नाश आवश्यक है। इन गतियों का नाश होने पर ही अंतिम परमस्थानों और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय की पूर्ण प्राप्ति सम्भव है (जो सिद्धत्व का ही एक पर्यायवाची है)। इसका प्रयोजन क्रमशः चार अनुयोगों की आराधना, चौबीस तीर्थंकरों की भक्ति, पांच परमेष्ठी तथा युगल चारण मुनियों के चार चरणों का ध्यान है। पूजा के आरम्भ में स्वस्तिक में आराधक इसी भाव की स्थापना करते हैं।

घातिव्रातप्रघातप्रकटनिरवधिज्ञानदृग्वीर्यरूपः
कल्याणैः पंचभेदैः प्रविलसति चतुस्त्रिंशता चातिशेषैः ॥
यश्चाष्टप्रातिहार्यैस्त्रिभुवनपतिता लांछनैस्तं यजामि
स्याद्वादामोघवाक्यं निवहमिह भवत्कालतीर्थंकराणां ॥

आह्वानन व स्थापनाः—जिन्होंने चार घातियों का नाश कर अपना अनंत ज्ञान रूपी वैभव प्राप्त किया, देव जिनके पांच कल्याणों का उत्सव मना कर कृतकृत्य हुये, चौतीस अतिशय तथा आठ प्रातिहार्यों ने जिनकी महत्ता प्रगट की एवं जिन्होंने अमोघ स्याद्वाद युक्त सार्थक वाणी का प्रवाह बहाया, ऐसे महान् तीर्थंकरों का मेरी कर्म-निर्जरा के हेतु आव्हानन और स्थापना कर मैं भाव सहित द्रव्य पूजा करता हूँ।

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं वृषभादि वर्तमान चतुर्विंशति तीर्थंकर परम जिन देवा अत्रावतरतावतरत संवौषट्। अत्र तिष्ठत तिष्ठत

ठः ठः। स्थापनम्। अत्र मम सन्निहिता भवत भवत वषट्।
सन्निधापनम्।

अब मैं मेरी कर्म निर्जरा के लिये अलग २ जल चंदनादि से पूजा करता हूँ।

श्रीमज्जिनेन्द्रामलकीर्तिगौरमन्दाकिनीनिर्झरवारिपूरैः ।
अम्भोजकिंजल्करजः पिशंगै र्यजे चतुर्विंशति तीर्थनाथान् ॥१॥

ॐ ह्रीं अर्हं वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर जिनदेवेभ्यो जलं निर्वपामीति स्वाहा।

अर्थः—कमलों की कलियों के रज से जिस गंगानदी का जल पीतवर्ण है ऐसे भगवान की गौरवर्ण निर्मलकीर्ति के समान गंगा जल से चतुर्विंशतितीर्थंकरों का मैं यजन करता हूँ।

तुषारशीतांशुमरीचिशुभ्रश्रीचंदनैः कुंकुमपंकमिश्रैः।
संतोषपीयूषशरीरभाजो, यजे चतुर्विंशति तीर्थनाथान्।२।

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं इत्यादि—

अर्थ—हिम व चंद्र की किरण समान शुक्ल, कुंकुम पंक मिश्रित शुद्ध चन्दन से संतोषामृतरूपशरीर को धारण करने वाले चौबीस तीर्थंकरों का मैं यजन करता हूँ।

अक्षीणसौख्यामलबीजपूरैः, शाल्यक्षतैरिन्दुकलावदातैः।
अनन्यसाधारणकीर्तिकान्तान्, यजे चतुर्विंशतितीर्थनाथान्। ३॥

अर्थ—अक्षय सुख के निर्मल बीजोंसे पूर्ण और चन्द्रकला समान शुभ्र अनुत चांवलों से अनन्य साधारण कीर्त्ति से कान्त चतुर्विंशति तीर्थंकरों का मैं यजन करता हूँ।

सुजातिजातीकुमुदाब्जकुन्द-मंदारमल्लीवकुलादिपुष्पैः।
श्रेयःश्रियो मंगलहारभूतान्, यजे चतुर्विंशतितीर्थनाथान् ॥४॥

अर्थ—कल्प कुसुम तथा कुमुद, कमल, कुन्द, मंदार, मल्लिका वकुल इत्यादि पुष्पें के समूह से मोक्षलक्ष्मी के मंगलमय हार रूप चौबीस तीर्थंकरों का मैं यजन करता हूँ।

प्राज्याज्यशुद्धामृतपिण्डभक्ष्यैः शाकैरनेकैश्चरुभिर्विचित्रैः।
अनन्तसौख्यामृतपानतृप्तान् यजेचतुर्विंशतितीर्थनाथान् ॥५॥

अर्थ—श्रेष्ठ घन से निर्मित शुद्ध अमृत पिण्ड के भोजनोंसे, तथा नाना प्रकार के मनोहर सुन्दरशाकों से अनन्त सौख्य रूपी अमृत पानकर तृप्त श्री चतुर्विंशति तीर्थंकरों का मैं यजन करता हूँ।

दृष्टिप्रियैरुज्ज्वलरत्नदीपैरयत्नसिद्धै र्मणिभाजनस्थैः।
स्वकीयदिव्यांगमरीचिमग्नान् यजे चतुर्विंशतितीर्थनाथान् ॥६॥

अर्थ—नेत्रों के प्यारे, विना किये ही वने रत्न मणियों के भाजन (पात्र) में रखे हुए उज्ज्वल रत्नों के दीपों से, निज के दिव्य अंग की किरणों में मग्न चतुर्विंशति तीर्थंकरों का मैं यजन करता हूँ।

कालागिदेहैः कुटिलान्तराल-व्याप्तैः सुधूपैः सुरभीकृताशैः।
इष्टार्थसिद्ध्यै शिवतातिभक्त्या यजे चतुर्विंशतितीर्थनाथान्॥७॥

अर्थ—कृष्ण सर्प के शरीर के समान काले और कुटिल आकाश में व्याप्त, सुगंधित की है सर्व दिशा जिनने ऐसे उत्तम धूपों से इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये मंगल वस्तु को उत्पन्न करने वाले उत्तम भक्ति के भावों से चौवीस तीर्थंकरों का मैं यजन करता हूँ।

जंबीरजम्बूवरवीजपूरैः द्राक्षाम्रपूगैः फलनारिकेलैः ।
सुरेन्द्रचूडांशुविलग्नपादान्, यजे चतुर्विंशतितीर्थनाथान् ॥८॥

अर्थः—मिष्ट नीबू, जामून, बिजोरे, दाख, आम्र, सुपारी, नारियल फलोंसे, देवेन्द्रों के मुकुटों की किरणों में जिनके चरण लग्न हैं ऐसे चौवीसों तीर्थंकरों का मैं यजन करता हूँ।

जलादिसद्वस्तुकृतैरनर्घ्यैर्बलावहैर्मंजुलमंगलार्घ्यैः ।
रजोरहस्याशुहरान् वरेण्यान् यजे चतुर्विंशतितीर्थनाथान् ॥९॥

अर्थः—जल इत्यादि श्रेष्ठ वस्तुओंसे किये हुए श्रेष्ठ और आत्म-शक्तिको उत्पन्न करनेवाले, मनोहर मंगल करनेवाले अर्घ से, घातिया कर्मों को नष्ट करनेवाले, जगतमें सर्व श्रेष्ठ चौवीसों भगवान् का मैं यजन करता हूँ।

इति संपूज्य जलाद्यैर्जिनचरणे भव्यजीवततिशरणे ।
वदधामि शांतिधारां सुरभिजलैः सर्वशांतये जगताम् ॥१०॥

अर्थः—इस प्रकार भव्य जीव समूह को शरणरूप, जिनेन्द्र की जलादि सुगन्धित वस्तुओं से पूजा करके, सुगन्धित जलों से सर्व

जगत् के प्राणियों की शांतिके लिये शांति धारा देता हूँ।

वार्गन्धाक्षतयुक्तैः शिरीषवकुलादिकैः प्रसूनौघैः ।
जिनराजपदसमीपे सुमनोंजलिमुत्क्षिपाम्यहं भक्त्या ॥११॥

(इति पुष्पांजलि क्षिपेत्)

अर्थः—मैं जल, गंध, अक्षत युक्त, शिरीष, वकुल इत्यादि फूलों से श्री जिनराज के चरणों में भक्ति कर युक्त पुष्पांजलि को क्षेपण करता हूँ। इति पुष्पांजलिः।

श्री वसुनन्दि सिद्धांत चक्रवर्ती महाराज ने इन अष्ट द्रव्योंसे पूजन करने में जो लाभ होता है उसका जो भी उपदेश दिया है उसको नीचे दिखाया गया है:—

जलधारा निक्खेवण पावमल सोहणं हवे णियमं ।
चंदणलेवेण णरो जायइ सोहग्गसंपण्णो ॥ ४८३ ॥

अर्थः—पूजनके समय नियमसे जिन भगवान के आगे जल-धाराके छोड़नेसे पापरूपी मैलका संशोधन होता है और भगवान्के चरणों पर चंदनरसके लेपसे मनुष्य सौभाग्य से संपन्न होता है ॥ ४८३ ॥

जायइ अक्खय णिहि-रयणसामिओ अक्खए हि अक्खोहो ।
अक्खीण.लद्धि जुत्तो अक्खय सोक्खं च पावेइ ॥४८४

अर्थ—अक्षतों से पूजा करने वाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्त्ती होता है, सदा अक्षोभ अर्थात् रोग शोक रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होता है और अन्त में अक्षय मोक्ष सुखको पाता है ॥४८४॥

कुसुमेहिं कुसेसयवयणु -तरुणीजण णयण कुसुमवरमाला ।
वलए णिच्चय देहो जायइ कुसुमाउहो चेव ॥४८५॥

अर्थः—पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुखवाला तरुणी जनों के नयनोंसे और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से समर्चित देहवाला कामदेव होता है ॥४८५॥

जायइ णिविज्ज दाणेण सत्तिगो कंतितेयसम्पएणो ।
लावएणजलहिवेलातरंगसंपाविय सरीरो ॥४८६॥

अर्थ—नैवेद्य के चढ़ाने से मनुष्य, शक्तिमान्, कान्ति और तेज से सम्पन्न, और सौन्दर्य रूपी समुद्र की वेला (तट) वर्त्ती तरंगों से संप्लावित शरीर वाला अर्थात् अति सुन्दर होता है ।४८६।

दीवेहिं दीवियासेसजीव दव्वाइ तच्च सब्भावो ।
सब्भावजणिय केवलपईं व तेएण होइ णरो ॥४८७॥

अर्थः—दीपों से पूजा करनेवाला मनुष्य सद्भावों के योग से उत्पन्न हुए केवल ज्ञानरूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीव द्रव्यादि तत्वों के रहस्य को प्रकाशित करने वाला अर्थात् केवल ज्ञानी होता है ॥४८७॥

धूवेण सिसिर यर धवल कित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो ।
जायइ फलेहि संपय परमणिव्वाण सोक्ख फलो ॥४८८॥

अर्थः—धूप से पूजा करनेवाला मनुष्य चन्द्रमा के समान धवल कीर्त्ति से जगत्त्रय को धवल करनेवाला अर्थात् त्रैलोक्य

व्यापी यशवाला होता है। फलों से पूजा करनेवाला मनुष्य परम निर्वाण का सुख रूप फल पाने वाला होता है॥४८८॥

घंटाहिं घंटसद्दा उलेसु अवरच्छराण मज्झम्मि।
संकीडइ सुर संघाय सेविओ वर विमाणेसु ॥४८९॥

अर्थ—जो पुरुष जिन मंदिर में घंटा देकर घंटा लगवाता है वह पुरुष घंटाओंके शब्दों से आकुल अर्थात् व्याप्त श्रेष्ठ विमानों में सुर समूह से सेवित होकर प्रवर अप्सराओं के मध्य में क्रीडा करता है ॥४८९॥

छत्तेहिं एयछत्तं भुंजइ पुढवी सउत्तपरिहीणो।
चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमर णिवहेहिं ॥४९०॥

अर्थः—जो प्राणी भगवान् के छत्र भेट करता है वह जीव शत्रु रहित होकर पृथिवी को एक छत्र भोगता है तथा जो भगवान के लिये चमर चढाता है वह चमरों के समूह द्वारा परि-वीजित किया जाता है अर्थात् उसके ऊपर चमर फिरते हैं ॥४९०॥

अहिसेय फलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरिं।
खीरोय:जलेण सुरिंदप्पमुहदेवेहिं भत्तीये ।४९१।

अर्थः—जिन भगवान् के अभिषेक करने के फलसे मनुष्य सुदर्शन मेरुके ऊपर क्षीर सागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के साथ अभिषिक्त किया जाता है ॥४९१॥

विजयपडाएहिं णरो संगाममुहेसु विजइओ होइ।
छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्स य ॥४६२॥

अर्थ—जिन मन्दिर में विजय पताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम में सर्वत्र विजयी होता है तथा छह खंड विजय करके छह खंड का निष्प्रतिपत्ती स्वामी और यशस्वी होता है ॥ ४६२ ॥

किं जंपिएण बहुणा तीसुवि लोएसु किं पि जं सोक्खं।
पूजाफलेण सद्यं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥४६३॥

अर्थ—अधिक कहने से क्या लाभ है। वास्तव में तीनों लोकों में जो सुख है वह सब पूजा के फल से प्राप्त होता है। गाथा नम्बर ४६४-४६५-४६६-४६७ का सार यह है कि—इस प्रकार श्रावक धर्म का सम्यग्दृष्टि भव्य जीव परिपालन कर उसके अन्त में विधिपूर्वक सल्लेखना करके समाधि से मरण कर अपने पुण्य के अनुसार सौधर्म स्वर्ग को आदि लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यंत कल्प विमानों में उत्पन्न होता है। वहां के उपपाद गृहों के कोमल एवं सुगन्धयुक्त शिला संपुट के मध्य में जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त काल में अपनी छहों पर्याप्तियों को संपन्न कर लेता है तथा अन्तर्मुहूर्त के ही भीतर दिव्य निर्मल देह का धारक एवं नव यौवन से युक्त हो जाता है। वह देव समचतुरस्र संस्थान का धारक, रसादि धातुओं से रहित शरीरवाला सहस्र सूर्यों के समान तेजस्वी, नवीन नवीन कमल के समान सुगन्धित निःश्वास वाला होता है। वह देव आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन

मास में नन्दीश्वर पर्व के आठ दिनों में नन्दीश्वर द्वीप के जिन चैत्यालय में जाकर अनेक प्रकार की पूजा महिमा करता है। इसी प्रकार पांचों मेरु पर्वतों पर विमानों के जिन चैत्यालयों में और अनेक पंच कल्याणकों में नाना प्रकार की पूजा करता है। इस प्रकार इन पुण्य वर्धक और आनन्दकारक नाना विनोदों के द्वारा स्वर्ग में अपनी स्थिति को पूरी करके वहां से च्युत होकर वह देव मनुष्यलोक में चक्रवर्ती आदिको में उत्पन्न होता है।

इस प्रकार मनुष्य लोक में मनुष्यों के सुख को भोगकर और कुछ वैराग्य का कारण देख कर, राज्य लक्ष्मी को तृण के समान छोड़कर चारित्र को ग्रहण कर घोर तपस्या करके और तप से विक्रियादि लब्धियों को प्राप्त कर अणिमादि आठ गुणों के ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। जगत में तपसे क्या सिद्ध नहीं होता है, सभी कुछ सिद्ध होता है।

इस प्रकार वह मुनि तपश्चरण करके तथा प्रासुक स्थान में जाकर और पर्यंकासन लगाकर अथवा कायोत्सर्ग से स्थित होकर यदि वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि है, तो उसने पहले ही अनंतानुवन्धी चतुष्क और दर्शन मोहत्रिक, इन सात प्रकृतियों का क्षय कर दिया है, अतएव देवायु, नरकायु और तिर्यंचायु इन तीनों प्रकृतियों को उसी भव में नष्ट अर्थात् सत्व व्युच्छिन्न कर चुका है। और यदि वह वेदक सम्यग्दृष्टि है, तो प्रमत्त गुणस्थान में अथवा

अप्रमत्त गुणस्थान में धर्मध्यान का आश्रय करके उक्त सातों ही प्रकृतियों का नाश करता है। पुनः प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में सैंकड़ों परिवर्तनों को करके क्षपक श्रेणी के अयोग्य सातिशय अप्रमत्त संयत होकर क्षणमात्र में विशुद्धि को आपूरित करके और प्रथम अधःप्रवृत्तकरण को और शुक्लध्यान को प्राप्त होकर कषायों के क्षपण करने के लिये उद्यत वह वीर अपूर्व करण संयत हो जाता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान में वह अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा एक २ स्थिति खंड को पतनकाल में सैंकड़ों अनुभाग खंडों का पतन करता है। इस प्रकार प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त होता है। वहां पर पहले इन सोलह प्रकृतियों को नष्ट करता है। (१) नरकगति (२) नरकगत्यानपूर्वी (३) तिर्यंग्गति (४) तिर्यग्गत्यानुपूर्वी (५) द्वीन्द्रिय जाति (६) त्रीन्द्रिय जाति (७) चतुरिन्द्रिय जाति (८) स्त्यानगृद्धि (९) निद्रानिद्रा (१०) प्रचला प्रचला (११) उद्योत (१२) आतप (१३) एकेन्द्रिय जाति (१४) साधारण (१५) सूक्ष्म और (१६) स्थावर।

सोलह प्रकृतियों का क्षय करने के पश्चात् अष्ट मध्यम कषायों का, नपुंसक वेद तथा स्त्री वेद का, हास्यादि छह नो कषायों और पुरुष वेद का नाश करता है और फिर क्रम से संज्वलन क्रोध को भी संक्षुभित करता है। पुनः संज्वलन क्रोध

को संज्वलन मान में, संज्वलन मान को संज्वलन माया में, और संज्वलन माया को भी बादर लोभ में संक्रामित करता है। तत्पश्चात् क्रम से बादर लोभ को भी इसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में निष्ठापन करता है।

तभी सूक्ष्म लोभ का वेदन करने वाला वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्त्ती सूक्ष्मसाम्पराय संयत होता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म लोभ का भी क्षय करके वह क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान में जाकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ होता है। वहां पर ही द्वितीय शुक्लध्यान को प्राप्त करके इसके द्वारा बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों को नष्ट करता है। चरम समय में ज्ञानावरणी कर्म की पांच, अन्तराय-कर्म की पांच और दर्शनावरण की चक्षुदर्शन आदि चार इन चौदह प्रकृतियों का क्षय करके वह तत्क्षण ही सयोगि केवली जिन हो जाता है।

तब वह नव केवल लब्धियों से सम्पन्न होकर त्रिकाल-गोचर अनन्त गुण पर्यायात्मक वस्तुको युगपत् जानता और देखता है। क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक परिभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, केवलदर्शन, केवलज्ञान और क्षायिक चारित्र ये नव लब्धियां हैं।

वे सयोगी केवली भगवान् उत्कृष्ट और जघन्य पर्याय प्रमाण विहारकरके आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटी वर्षप्रमाण है

और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है, सो जिस केवली की जितनी आयु है तत्प्रमाणकाल तक नाना देशों में विहार कर और धर्मोपदेश देकर सिद्ध होते हैं। सो जिस केवलो के आयु कर्म की स्थिति के बराबर शेप नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति होती है, वे तो समुद्घात किये विना ही सिद्ध होते हैं। किन्तु जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म आयु के बराबर नहीं हैं, वे सयोगि केवली जिन नियम से समुद्घात करते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं हैं।

छह मास की आयु अवशेप रहने पर जिसके केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वे केवली समुद्घात करते हैं, इतर केवली भजनीय हैं।

सयोगि—केवली अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु के शेप रह जाने पर आठ समयों के द्वारा, कपाट, प्रतर और लोकपूरण, पुनःप्रतर, कपाट, दंड और निज देह प्रमाण, इस प्रकार आत्मप्रदेशों का प्रसारण और संवरण करते हैं। तब सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्त में अघातिया कर्म सदृश स्थितिवाले हो जाते है।

तेरहवें गुणस्थान के अन्त में सयोगिकेवली जिनेन्द्र वादर काययोग से वादर मनोयोग और वादर वचनयोगका निरोध करते हैं। तब सूक्ष्म काययोग में वर्तमान सयोगिकेवली जिन तृतीय शुक्लध्यान को ध्याते हैं और उसके द्वारा उस सूक्ष्म काययोग का भी निरोध करके वे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली जिन हो जाते हैं।

उस चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में चौथे शुक्लध्यान से वहत्तर प्रकृतियों का घात करता है और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियों का नाश करता है। उस ही समय में ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला यह जीव शरीर रहित और प्रकृष्ट अष्टगुण सहित होकर नित्य के लिए लोक के अग्र भागपर निवास करने लगता है। सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्यावाधत्व ये सिद्धों के आठ गुण वर्णन किये गये गये हैं।

तीनों ही लोकों में मनुष्य और देवों के जो कुछ भी उत्तम सुखका सार है वह अनन्तगुणा हो करके भी एक समय में सिद्धोंके अनुभव किये गये सुख के समान है।

उत्तम रीति से श्रावकोंका आचार पालन करनेवाला कोई गृहस्थ तीसरे भव में सिद्ध होता है कोई क्रम से देव और मनुष्यों के सुख भोगकर पांचवें, सातवें या आठवें भव में सिद्ध पद को प्राप्ति करते हैं।

ऊपर में वतलाई हुई भेदाभेद भावना के अनुसार जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव क्रम क्रम से इसका अभ्यास करेंगे तो जैसे नींव मजवूत होने से ऊपर के वोझा संभालने में दीवार समर्थ होती है उसी तरह व्यवहार सम्यक्त्व की नींव मजवूत होने से निश्चय सम्यक्त्व को स्थिरता होती है। इस श्लोक में ग्रंथकार ने यह बताया था कि वाह्य शरीर अनेक रीति से आते और जाते रहते हैं परंतु

कार्माण और तैजस शरीर दोनों जाने के लिये भेदाभेद अभ्यास के क्रम क्रम से इस तरह करने से अघातिकर्मों को नष्ट करके अन्तिम मन वचन काय से रहित चौदहवें गुणस्थान में कार्माण व तैजस नष्ट होते हैं और वह आत्मा अत्यन्त निर्मल सुखको प्राप्त होकर अविनाशी सुख का भोगी होता है।

अब आगे अपना शरीर ही देवालय है और उसमें रहने वाला आत्मा अरंहत देव है इस तरह भावना करनेको कहते हैं।

कळेदु समस्तबाह्यरतियं मनदुत्सवदिंदे गूढसु-
स्थळदोळगिंर्दु तन्नोळगे तन्नयं रूपने निम्मरूपिना ॥
पळुकिन बोंबेयंदवेनुतुं नेनेदीक्षिसु वंगे चित्तदोळ्-
पोळेयदे माणवुदे परम सिद्धन रूपपराजितेश्वरा ! ॥१०॥

अर्थः—अपराजितेश्वर ! संपूर्ण बाह्य पदार्थों से अपने मनको हटाकर मनको उत्सव के साथ अत्यंत निर्मल एकांत स्थान में बैठकर अपने अन्तरात्म स्वरूप को आपके स्वरूप की प्रतिमा के समान ही यह मेरा आत्मा है—ऐसे स्मरण करके अपने भीतर देखने वाले भव्यात्मा ज्ञानी जीवको परम पवित्र ऐसे सिद्ध भगवान की झलक क्या नहीं होगी ? अवश्य होगी ॥ १० ॥

Aparajiteshwar ! Would not a 'Bhavya-Atma' who meditates upon his soul,' remembering that his soul is similar to Yours in nature, having detached his mind from all the external objects with a great height

of enthusiasm, sitting in some sacred lonely place, obtain the glimpse of absolutely Siddha nature? Certainly it would.

विवेचनः—ग्रंथकारने इस श्लोक में यह बताया है कि आत्म प्राप्ति की इच्छा रखने वाले ज्ञानी भव्य जीवको संपूर्ण बाह्य पदार्थ को त्याग करके अत्यन्त निर्मल स्थान में बैठकर ऐसे विचारना चाहिये कि जिस तरह भगवान अरहंत देवकी मूर्ति है और उसका स्वरूप है उसी तरह मेरे शरीर के अंदर तथा शरीर के प्रमाण मूर्तिमान आत्मा है। और एकांत तथा गुप्त स्थान में बैठकर अपनी आत्मा को देखनेवाले ज्ञानी का सिद्ध पद प्राप्त होने में देर नहीं लगती है।

कोई यहां शंका करता है कि इस भावना का क्रम क्या है? इसका उत्तर है कि जैसे समवशरण में आदिनाथ भगवान से राजा भरत ने शुद्धात्म भावना का उपाय पूछाथा, और जो क्रम भगवान ने बताया था उसी अनुसार मैं भी मुमुक्षु जीवन के कल्याण के लिये इसका विवेचन करता हूं।

भगवान् ने कहा है कि:—

जिनेशस्य स्नानात् स्तुतियजनजपात्मंदिरार्चाविधाना-
च्चतुर्धादानाद्वाध्ययनरवजयतो ध्यानतः संयमाच्च।
व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगमनविधैः क्षांतिमुख्यप्रधर्मात्
क्रमाच्चिद्रूपाप्तिर्भवति जगति ये वाञ्छकास्तस्य तेषां ॥१॥

जो मनुष्य शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हें जिनेन्द्र का अभिषेक करने से, उनकी स्तुति पूजा और जप करने से, मंदिर की पूजा और उसके निर्माण से आहार औषध, अभय और शास्त्र—चार प्रकार के दान देने से, शास्त्रों के अध्ययन से, इन्द्रियों के विजय से, ध्यान से, संयम से, व्रत से, शील से, तीर्थ आदि में गमन करने से और उत्तम क्षमा आदि धर्मों के धारने से शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति होती है। यदि वास्तव में देखा जाय तो शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने से शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति होती है परंतु भगवान् का अभिषेक उनकी स्तुति और जप आदि भी चिद्रूप की प्राप्ति में कारण हैं क्योंकि अभिषेक आदि के करने से शुद्धचिद्रूप की ओर दृष्टि जाती है इसलिए शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषियों को अवश्य भगवान् के अभिषेक स्तुति आदि करने चाहिए।

देवं श्रुतं गुरुं तीर्थं भजंतं च तदाकृतिं।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुत्वाद् भजते सुधीः ॥२॥

देव, शास्त्र, गुरु, तीर्थ और मुनि तथा इन सब की प्रतिमा शुद्धचिद्रूप के ध्यान में कारण हैं। विना इनकी पूजा सेवा किये शुद्धचिद्रूप की ओर ध्यान जाना सर्वथा दुःसाध्य है। इसलिए शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के अभिलाषी विद्वान् अवश्य देव आदि की सेवा उपासना करते हैं।

अनिष्टान् सुहृदामर्थानिष्टानपि भजेत्त्यजेत् ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्याने सुधीर्हेतूनहेतुकान् ॥३॥

शुद्धचिद्रूप के ध्यान करते समय इन्द्रिय और मन के अनिष्ट भी पदार्थ यदि उसकी प्राप्ति में कारण स्वरूप पड़ें तो उनका आश्रय कर लेना चाहिए और इन्द्रिय मनको इष्ट होने पर भी यदि वे उसकी प्राप्ति में कारण न पड़ें, वाधक पड़ें तो उन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिए। संसार में पदार्थ दो प्रकार के हैं:—इष्ट और अनिष्ट। जो पदार्थ मन और इन्द्रियों को प्रिय हैं वे इष्ट और जो अप्रिय हैं वे अनिष्ट हैं। इनमें अनिष्ट रहने पर भी जो पदार्थ शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति में कारण हों उनका अवलंबन कर लेना चाहिए और जो इष्ट होने पर भी उसकी प्राप्ति में कारण न हों तो उनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि उनसे कोई प्रयोजन नहीं है।

मुंचेत्समाश्रयेच्छुद्धचिद्रूपस्मरणेऽहितं ।
हितं सुधीः प्रयत्नेन द्रव्यादिकचतुष्टयं ॥४॥

द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप पदार्थों में जो पदार्थ शुद्धचिद्रूप के स्मरण करने में हितकारी न हों उन्हें छोड़ देना चाहिए और जो उसकी प्राप्ति में हितकारी हो उसका वड़े प्रयत्न से आश्रय करना चाहिए। कोई २ द्रव्य क्षेत्रकाल भाव ऐसे आकर उपस्थित हो जाते हैं कि शुद्धचिद्रूप के स्मरण में विघ्नकारी बन जाते हैं।

अतः इस प्रकार के पदार्थों का सर्वथा त्याग करदें। परन्तु बहुत से द्रव्य क्षेत्रादि शुद्धचिद्रूप के स्मरण में अनुकूल हितकारी भी होते हैं इसलिए उनको कड़ी रीति से आश्रय लें।

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः ॥५॥

जो मनुष्य ज्ञानी हैं–हित अहित का पूर्ण ज्ञान रखते हैं वे शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिए अन्य समस्त पदार्थों में सर्वथा निःस्पृह हो समस्त परिग्रह का त्याग कर देते हैं और एकांत स्थान रूप पर्वत की गुफाओं में जाकर रहते हैं।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानभानुरत्यंतनिर्मलः।
जनसंगतिसंजातविकल्पाब्दैस्तिरोभवेत् ॥६॥

यह शुद्धचिद्रूप का ध्यानरूपी सूर्य, महानिर्मल और देदीप्यमान है। यदि इस पर स्त्री पुत्र आदि के संसर्ग से उत्पन्न हुए विकल्परूपी मेघ का पर्दा पड जायगा, तो यह ढक जायगा। क्योंकि स्त्री पुत्रादि की चिंतायें ध्यान में विघ्न करनेवाली हैं। चिंता होते ही ध्यान सर्वथा उखड़ जाता है, इसलिए शुद्धचिद्रूप के ध्यानी को तनिक भी स्त्री पुत्रादि संबंधी चिंता न करनी चाहिए।

अभव्ये शुद्धचिद्रूपध्यानस्य नोद्भवो भवेत्।
वंध्यायां किल पुत्रस्य विषाणस्य खरे यथा ॥७॥

जिस प्रकार वंध्या को पुत्र नहीं होता और गधे के सींग नहीं होते उसी प्रकार अभव्य के शुद्धचिद्रूप का ध्यान कदापि नहीं हो सकता। अभव्य को मोक्ष स्वर्गादि का श्रद्धान नहीं होता जैसे कि पित्तज्वर वाले को मीठा दूध भी कड़वा लगता है उसी प्रकार अभव्य को भी सभी धार्मिक बातें विपरीत ही भासती हैं।

दूरभव्यस्य नो शुद्धचिद्रूपध्यानसंरुचिः ।
यथाऽजीर्णविकारस्य न भवेदन्नसंरुचिः ॥८॥

जिसको अजीर्ण का विकार है—खाया- पिया नहीं पचता उसकी जिस प्रकार अन्न में रुचि नहीं होती उसी प्रकार जो दूर-भव्य है उसकी भी शुद्धचिद्रूप के ध्यान में प्रीति नहीं हो सकती।

भेदज्ञानं विना शुद्धचिद्रूपज्ञानसंभवः ।
भवेन्नैव यथा पुत्रसंभूतिर्जनकं विना ॥९॥

जिस प्रकार कि स्त्री के पुरुष के विना पुत्र नहीं हो सकता उसी प्रकार विना भेदविज्ञान के शुद्धचिद्रूप का ध्यान भी नहीं हो सकता।

कर्मांगाखिलसंगे निर्ममतामातरं विना ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपुत्रसूतिर्न जायते ॥१०॥

जैसे विना माता के पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले समस्त परिग्रहों में विना ममता त्यागे शुद्धचिद्रूपका ध्यान भी होना असंभव है।

तत्तस्य गतचिंता निर्जनताऽऽसन्नभव्यता ।
भेदज्ञानं परस्मिन्निर्ममता ध्यानहेतवः ॥११॥

इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि चिंता का अभाव, एकांतस्थान, आसन्न भव्यपना, भेदविज्ञान और दूसरे पदार्थों में निर्ममता ये शुद्धचिद्रूप के ध्यान में कारण हैं—विना इनके शुद्धचिद्रूप कदापि नहीं हो सकता ।

नृस्त्रीतिर्यगसुराणां स्थितिगतिवचनं नृत्यगानं शुचादिः
क्रीडाक्रोधादिमौनं भयहसनजरारोदनस्वापशूकाः ।
व्यापाराकाररोगं नुतनतिकदनं दीनतादुःखशंकाः;
शृंगारादीन् प्रपश्यन्नशनमिह भवे नाटकं मन्यते ज्ञः ॥१२॥

जो मनुष्य ज्ञानी है—संसार की वास्तविक स्थिति का जानकार है वह मनुष्य स्त्री तिर्यंच और देवों के स्थिति गति और वचन को, नृत्य और गान को, शोक आदिको, क्रीडा क्रोध आदिको, मौन को, भय हँसी बुढापा रोना सोना व्यापार आकृति रोग स्तुति नमस्कार पीडा दीनता दुःख शंका भोजन और शृंगार आदि को संसार में नाटक के समान मानता है । पर जो अज्ञानी हैं वे दुःख में दुःखी और सुख में सुखी हो जाते हैं ।

चक्रीन्द्रयोः सदसि संस्थितयोः कृपास्या
त्तद्भार्ययोरतिगुणान्वितयोर्घृणा च ॥

सर्वोत्तमेन्द्रियसुखस्मरणेऽतिकष्टं ।
यस्योद्भचेतसि स तत्वविदां वरिष्ठः ॥१३॥

जिस मनुष्य के हृदय में सभा में सिंहासन पर विराजमान हुये चक्रवर्ती और इन्द्र के ऊपर दया है, शोभा में रति की तुलना करनेवाली इन्द्राणी और चक्रवर्त्ती की पटरानी में घृणा है और जिसे सर्वोत्तम इन्द्रियों के सुखों का स्मरण होते ही अतिकष्ट होता है वह मनुष्य तत्त्वज्ञानियों में उत्तम तत्त्वज्ञानी कहा जाता है।

सारांश यह है कि जैसा कोई मनुष्य उत्तम अमृतमय अन्न को खाता है, और अगर उसी समय कोई मक्खी उसके पेट में चली जाती है तो उसी समय खाये हुए अन्न को वह एक दम कै कर देता है। उसी तरह यह इंन्द्रिय सुख भी मनुष्य के धर्मार्थ आदि तथा सच्चे आत्मिक सुखको विगाड़ देता है। इसलिये आचार्य देव ने कहा है कि आत्मानुभवकी प्राप्ति जिसको करना है, उसको सबसे पहले वाह्य वस्तुको त्यागने की आवश्यकता है तभी आत्म-सिद्धि की प्राप्ति होगी अन्यथा नहीं होगी।

प्रश्नः—आत्म–सिद्धि का उपाय क्या है और यह कैसे प्राप्त होगी तथा कैसी भावना इसके लिए करनी चाहिये ?

इस प्रश्न के उत्तरमें भगवान् ने कहा है कि इस कर्म से आत्मा को भिन्न करने के लिये इस तरह भावना करना चाहिये कि तीनों शरीर के अंदर स्थित आत्मा संसारी है। जब तीनों शरीरों का अंत होता है तव यह आत्मा मुक्त होता है। इस लिये

शरीर भिन्न है, मैं भिन्न हूँ। इस तरह ध्यान का अभ्यास करने से शरीर नाश होकर मुक्ति की प्राप्ति अर्थात् सिद्धात्मा की प्राप्ति होती है। लकड़ी में अग्नि है, उसे घर्षण करने पर उसी लकड़ी को जला देती है। इसी तरह आत्मा ध्यानाग्नि के बल से आत्मा का निरीक्षण करे तो तीनों शरीर जल जाते हैं। तब उत्तम शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाती है। इसलिये ज्ञानी जीवको सुख और शान्ति को प्राप्त करना है तो धर्म को धारण करें और कर्मका त्याग करें। धर्मको ग्रहण करने पर कर्म स्वयमेव दूर होता है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

बाह्य में देव पूजा, भगवान् का अभिषेक, चार प्रकार का दान, तप, संयम इत्यादि जो व्यवहार धर्म है ये सभी निश्चय धर्मके साधक ही हैं, बाधक नहीं हैं। हां, अगर कोई अज्ञानी जीव व्यवहार को ही केवल धर्म मानकर निश्चय धर्म का लोप कर दे तो वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा समझना चाहिये। अगर कोई अज्ञानी व्यवहार को लोपकर केवल निश्चय को ही मुख्य मानकर बैठे तो उसे भी महामूर्ख समझना चाहिये। इसलिए ज्ञानी को अपनी आत्मसिद्धि के लिये व्यवहार और निश्चय साथ २ चलने से अंत में निश्चय की प्राप्ति हो जाती है और व्यवहार अन्तमें स्वयमेव छूट जाता है। उसको छोड़ने की जरूरत नहीं है। बाह्य धर्मों से शरीरादिकी प्राप्ति होती है। अंतरंग भावना से देह नष्ट होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। तीनों रत्नत्रय का ध्यान करना ही मेरी

अभिन्न भक्ति है। तब हे भव्य ! मेरा वैभव तुमको प्राप्त होगा। देखो ! तुम अपने अंदर ही देखो। आकाश के समान तुम्हारे अंदर आत्मा है, भूमि के समान यह शरीर है। आकाश भूमिके अंदर छिप गया है, यह कितनी आश्चर्य की बात है ?

इस प्रकार विचार करने से आत्मा का दर्शन होता है। चंचल मनको रोककर दोनों आंखोंको बंदकर निर्मल भावदृष्टि के द्वारा बार २ निरीक्षण करने से शरीर के अंदर वह परमात्मा स्वच्छ प्रकाश के समान दीखता है। एकमन से बैठकर ध्यान करने से अपने अंदर ऐसा मालूम पड़ता है कि, शुद्ध स्फटिक मणिके समान निर्मल मूर्ति के समान आत्मा आत्मा दीखता है। खड़े होकर ध्यान करने से अपने अंदर खड़ी हुई मूर्ति के समान दीखता है। पहले बैठकर या खड़े होकर अभ्यास करना चाहिये एक बार अगर ध्यान का अभ्यास हो जाय तब जैसा चाहे वैसे ध्यान करे, इस तरह अभ्यास करने से आत्मदर्शन जरूर होगा। यही सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र है और यही ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार, वीर्याचार, और तपाचार है। मतिज्ञानादि केवलज्ञान तक ज्ञान भी यही ध्यानरूप है और अन्य कोई भी नहीं है। सिद्ध भगवान् के अष्ट गुण भी इसी में है। विशेष क्या ? सिद्ध भगवान् स्वयं इस स्वरूपमें है। इस प्रकार तू ध्यान करेगा तो शीघ्र ही आत्म-सिद्धि की प्राप्ति होगी।

अगले श्लोक में यह बताते हैं कि शरीर देवालय है और उसमें आत्मा जिन भगवान् हैं:—

तनुजिनगेहवेंबु दोळगिर्द निजात्मने देवनेंबुदा।
तनु परिमाण नेंबुद शरीरकनेंबुदु बोधदर्शनं ॥
तनु वेनसिर्दनेंबुदकलंकनबाधनखंडनेंब भा-
वनेयने भाविसुत्तिरे भव च्युतितानपराजितेश्वरा ! ॥११

अर्थः—अपराजितेश्वर ! शरीर एक देवालय है और उसमें रहनेवाला शुद्धात्मा अरहन्तदेव है। वह शरीर प्रमाण भी है और अशरीर भी है। ज्ञान दर्शनमय उसका शरीर है, पाप मलसे रहित तथा अकलंक अविकारी अविनश्वर है, बाधा रहित और अखंड स्वरूप है, इस तरह भावना करनेसे भवका नाश होता है ॥ ११ ॥

11. Aparajiteshwar ! This body is a temple. of which the soul is God, residing in the body. The soul is incorporeal; knowledge & perception is its body. It is ever devoid of faults and obstructions; and is indestructible. Contemplating again & again in this way, destroys the Wandering (in Samsar).

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस श्लोकमें बताया है कि सच्चा देव तो अपने शरीररूपी देवालयमें अनादिकालसे विराजमान है अन्यथा—पत्थर या ईंटोंसे बने हुए देवालयमें नहीं है। इसलिये अपने अन्दर देखोगे तो बाह्य देवालय और बाह्य देव को भूलोगे और हमेशा उन्हीं की पूजामें मग्न रहोगे। इस शरीररूपी देवालय में देव कैसे विराजे हैं ? जैसे पानी और दूध मिलकर एक दीखते

हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीन होते हैं परन्तु व्यवहार से एक ही दिखते हैं।

प्रश्नः—देव, देवालय में नहीं है, पाषाण की प्रतिमा में नहीं है, लेपमें भी नहीं है, चित्राम की मूर्तिमें भी नहीं है। और चित्राम की मूर्ति में लौकिक जन मानते हैं और पं जन तो धातु पाषाण की में ही मानते हैं। देव किसी जगह यह अविनाशी है, कर्म रज से रहित है, केवलज्ञान से पूर्ण ऐसा निज परमात्मा समभाव में स्थित है, ज्ञानीजनों के हृद है, अन्य जगह नहीं है तो सभी भव्य संसारी प्राणी पाषाण धातुसे बनी हुई मूर्ति को अरहन्तदेव अर्थात् जिनदेव मानकर अभिषेक जाप्य इत्यादि क्रिया करते हैं, सो यह सभी मिथ्या झना चाहिये और ये सभी मिथ्या होने के कारण पापबन्ध लिये कारण समझना चाहिये ?

उत्तरः—यह तुम्हारी शंका ठीक नहीं है क्योंकि जब त साधक अवस्था में थे तब तक व्यवहार धर्म ठीक है। बात यह कि—यद्यपि व्यवहारनयसे धर्मकी प्रवृत्तिके लिये स्थापनारूप अ हन्तदेव देवालय में स्थित हैं, धातु पाषाण की प्रतिमा को देव क हैं तो भी निश्चयनय से शत्रु-मित्र, सुख-दुख, जन्म-मरण जिस समान है तथा वीतराग सहजानंदरूप परमात्मा तत्त्वका सम श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप अभेद रत्नत्रय में लीन ऐसे ज्ञानियों समचित्तमें परमात्मा स्थित है। ऐसा ही अन्य जगह भी सभी

को परिणत हुए मुनियों का लक्षण कहा है। इसका अर्थ यह है कि जिसके सुख दुख समान हैं, निंदा स्तुति समान है, पत्थर और सोना समान है, और जीवन मरण समान है, ऐसे समभाव को धारण करनेवाले मुनि होते हैं उनको बाह्य देवालय देव की जरूरत नहीं है। यही योगीन्द्रदेव आचार्य ने कहा है कि—

जबतक मन भगवानसे नहीं मिला था तबतक पूजा करता था और जब मन प्रभु से मिल गया तब पूजा का प्रयोजन नहीं है। यद्यपि व्यवहारनयसे गृहस्थ अवस्थामें विषय कषायरूप खोटे ध्यान को रोकनेके लिये और धर्म के बढ़ाने के लिये पूजा अभिषेक दान आदि का व्यवहार है तो भी निर्विकल्प समाधिमें लीन हुए योगीश्वर को उस समयमें बाह्य व्यापार का अभाव होनेसे स्वयं ही द्रव्य पूजा का प्रसंग नहीं आता है। वे भाव पूजा में ही तन्मय रहते हैं इसलिये मुनि प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गमें राग-द्वेष नहीं करता

क्योंकि व्रत और अव्रत में परममुनि राग नहीं करता है। उसने दोनों का स्वभाव बंधका कारण जान लिया है अथवा पाठांतर होनेसे ऐसा अर्थ होता है कि जिसने आत्मा का स्वभाव भिन्न जान लिया है, अपना स्वभाव प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित है जहां व्रत अव्रत का विकल्प नहीं है, ये व्रत अव्रत पुण्य-पापरूप बंधके कारण हैं, ऐसा जिसने जान लिया है वह आत्मा में तल्लीन हुआ व्रत अव्रतमें राग द्वेष नहीं करता है।

फिर कोई यहां प्रश्न करे किः—

अगर व्रत और अव्रत पर राग नहीं है तो व्रत क्यों धारण करे ?

समाधानः—योगीन्द्रदेव आचार्यने अपने परमात्म प्रकाश में कहा है कि—व्रतका अर्थ यह है कि शुभ—अशुभभावों से निवृत्ति परिणाम होना। ऐसा ही अन्य ग्रन्थों में भी "रागद्वेषौ" अर्थ यह है कि—राग द्वेष दोनों प्रवृत्तियाँ हैं। इनका जो निषेध है वही निवृत्ति है। ये दोनों अपने नहीं हैं; अन्य पदार्थ के संबंध से हैं, इसलिये इन दोनों को छोड़ना चाहिये। अथवा "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम्" अर्थात् प्राणियों को पीड़ा देना, झूँठ बोलना, परधन हरना, कुशील का सेवन करना और परिग्रह से विरक्त होना सो व्रत है। अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं वे व्यवहारनय से एक देशरूप हैं। जैसे कि जीव–घातमें निवृत्ति, जीव दयामें प्रवृत्ति, असत्य वचनमें निवृत्ति, सत्य वचनमें प्रवृत्ति, चोरी से निवृत्ति, अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादि स्वरूप एक देश व्रत कहा जाता है। और राग-द्वेषरूप संकल्प-विकल्पों की कल्लोल से रहित तीन गुप्तिसे गुप्त, समाधिमें शुभाशुभ के त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है। अशुभ की निवृत्ति और शुभ की प्रवृत्तिका एक देश व्रत और शुभ अशुभ दोनों को ही त्याग करना पूर्णव्रत है। इसलिये प्रथम अवस्थामें व्रत का निषेध नहीं है एक देश व्रत है और पूर्ण अवस्था में सर्व देशव्रत है।

यहां शंका करते हैं कि व्रत से क्या प्रयोजन है ? आत्म भाव से ही मोक्ष होता है । भरत चक्रवर्ती ने क्या व्रत धारण किया था ? वे तो दो घड़ी में ही केवल ज्ञान पाकर मोक्ष गये ।

समाधान—भरतेश्वर ने पहले जिन दीक्षा धारण की, केश लुंचन किया, हिंसादि पापों की निवृत्ति रूप पांच महाव्रत धारण किये, फिर एक अंतर्मुहूर्त में समस्त विकल्प रहित मन वचन काय रोकने रूप निज शुद्धात्म ध्यान में ठहर कर निर्विकल्पता प्राप्त की । वे शुद्धात्म ध्यान में देखे सुने और भोगे हुए भोगों की-वांच्छारूप निदान बंधादि विकल्पों से रहित ऐसे ध्यान में तल्लीन होकर केवली हुए । जब राज छोड़ा और मुनि हुए तभी केवली हुए, तब भरतेश ने अंतर्मुहूर्त में केवल ज्ञान प्राप्त किया, इसलिये महाव्रत की प्रसिद्धि हुई । इस पर मूर्ख लोग ऐसे समझ लेते हैं कि भरत को घर में ही मोक्ष हुआ था । उनको व्रत धारण या मुनिव्रत लेने के पहले ही घर में रहते रहते केवलज्ञान हुआ और हमको भी ऐसे ही हो जाय, ऐसा कहते हैं ।

अगर व्रत और दीक्षा बिना, घर में ही मोक्ष होता था तो आदिनाथ तीर्थंकर और अन्य असंख्य महान् पुरुष घर छोड़कर जंगल में क्यों गये ? उन्होंने दिगम्बर होकर जब कठिन तप किया तभी कर्म की निर्जरा हुई और केवलज्ञान प्राप्त हुआ यह शास्त्र प्रसिद्ध बात है ।

हां, यह बात ठीक है कि अगर अज्ञानी जीव दान पूजा करता

है पंच परमेष्ठी की स्तुति एवं अन्य और भी अनेक व्यवहार रत्नत्रय की आराधना करता है, उससे पुण्य जरूर होता है परंतु वह पुण्य उनके लिये मोक्षका कारण नहीं होता है। क्योंकि वे अज्ञानी उसी को धर्म मान कर बैठा है इसलिये उनका पुण्य कर्म भी परंपरा से बंध के लिए कारण होता है। परंतु ज्ञानी जिनेन्द्र देवकी पूजा अभिषेक पंच परमेष्ठी की स्तुति एवं अन्य और भी शुभ व्यवहार धर्म की आराधना करता है उससे पुण्य जरूर होता है। वह ज्ञानी का पुण्य कर्म-क्षय के लिये होता है और परंपरा से मोक्ष का कारण होता है, जैसे कि परमात्म प्रकाश में योगीन्द्र देव आचार्य ने कहा भी है कि—

देवहं सत्यहं मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेइ।
कम्मक्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥६१॥

(अ० २)

सम्यक्त्व पूर्वक जो देव गुरु शास्त्रों की भक्ति करता है उसके मुख्य तो पुण्य ही होता है और परंपरा से मोक्ष होता है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि है उनके भाव भक्ति तो नहीं है लौकिक बाहरी भक्ति होती है उनके पुण्य का ही बंध है कर्मका क्षय नहीं है।

प्रश्न—जो पुण्य मुख्यता से मोक्ष का कारण नहीं है तो त्यागने योग्य ही है, ग्रहण करने योग्य नहीं है। परन्तु यदि ग्रहण योग्य नहीं है तो भरत, सगर, राम पांडवादि महान् पुरुषों ने निरंतर पंच

परमेष्ठी के गुण स्मरण क्यों किये और दान पूजादि शुभक्रियाओं- से पूर्ण होकर क्यों पुण्य उपार्जन किया ?

समाधान—बात यह है कि जैसे परदेश में स्थित कोई रागादिक से पुरुष अपनी प्यारी स्त्री के पास से आये हुए किसी मनुष्य से बातें करता है और उसका सन्मान करता है और दान देता है। ये सब कारण अपनी प्रिया के लिये हैं, कुछ उसके प्रसाद के कारण नहीं है। उसी तरह से भरत सगर राम पांडवादि महान् पुरुष वीतराग परमानंद रूप मोक्ष लक्ष्मी के सुख अमृत रस के प्यासे हुए संसार की स्थिति को छेदने के लिये विषय कषाय से उत्पन्न हुए अति रौद्र खोटे ध्यान के नाशका कारण श्री पंच परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करते हैं और दान पूजादिक करते हैं परन्तु उनकी दृष्टि केवल निज परिणति पर है परवस्तु पर नहीं है, पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ क्रिया को परिणत हुए जो भरत आदिक हैं उनके बिना चाहे पुण्य प्रकृति का आश्रव है जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर है तृण भूषादि पर नहीं है। इसी प्रकार बिना चाहे भी पुण्य का बंध सहज में ही हो जाता है वह उनको संसार में नहीं भटका सकता है, वे तो शिवपुरी के पात्र हैं। इस प्रकार ज्ञानी जीव को निश्चय और व्यवहार दोनों मार्ग का अवलंबन करके आत्मा राम देव की प्राप्ति होती है अर्थात् जब तक निश्चय जिन देव की प्राप्ति न हो तब तक व्यवहार अरहन्त देव की पूजा व आराधना करना योग्य है और जब व्यवहार जिन

देव की आराधनासे निश्चय जिनदेव की प्राप्ति हो तब अपने देहरूपी देवालय में प्राप्त हुए देव को छोड़ कर अन्य देवालय देवों को आराधना करने की जरूरत नहीं है। इसलिये ज्ञानी जीव को वीतराग परमानंद अपने देवकी ही भावना करना चाहिये, इससे भव कष्ट नष्ट होगा।

आगे श्लोक में उसी में लीन होने से सुख की प्राप्ति होगी इस बात को ग्रंथकार कहते हैं—

मोदमोदलासरप्पुदोडनोप्पिरे संतसवप्पुदंतु मा—
णदे परिभाविसुत्तिरे महासुखमप्पुदु वाह्यदाटदोळ् ॥
वेदरिकेयप्पुदात्मनोळ् मेच्चुगेयप्पुदु लोकमेल्ल मा--
यदमरुळागि तोर्पुदु निजात्म रतंगपराजितेश्वरा ! ॥१२॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! अपने आत्मा में आशक्त होने के पहले पहले आत्म स्वरूपाश्रय होता है, आत्मस्वरूप में अधिक लीन हुआ होगा तो और भी अधिक संतोष होता है, आत्म ध्यान को न छोड़कर उसी तरह भावना भाने से अधिक अधिक सुख होता है, और वाह्य खेल में भय उत्पन्न होता है, और अपने आत्मामें ही ज्यादा प्रेम होता है, तब जगत की माया उस ज्ञानी को पागलपन के समान दीखती है ॥ १२ ॥

12. Aparajiteshwar ! One enamoured of soul, finds the (only) shelter in the soul and thereby

attains to a ineffable satisfaction; when absorbed in its contemplation, all this worldly drama begins to appear as a complete madness.

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह कहा है कि ध्यानी जीव को एकान्त में बैठकर अपने आत्म-स्वरूप में तन्मय होकर ऐसा विचार करना चाहिये कि जिस प्रकार चिर संचित ईंधन को पवन से आहत अग्नि शीघ्र जला देती है उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि अधिक कर्म रूपी इंधन को क्षण मात्र में जला देती है। यहां यतिवृषभाचार्य ने अपने तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि–

जो खविद मोह कलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंधित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो पावइ णिव्वुदी सोक्खं ॥१६॥
जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोग परिकम्मो।
तस्सा सुह सुहदणो झाणमओ जायदे अगणी ॥२०॥
दंसण णाण समग्गं झाणंणो अण्ण दव्व संपत्तं।
जायदि णिज्जर हेदू सहावसहिदस्स साहुस्स ॥२१॥

जो दर्शन मोह और चारित्र मोह को नष्ट कर विषयोंसे विरक्त होता हुवा मन को रोककर आत्मस्वभाव में स्थित होता है वह मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। जिसके राग, द्वेष, मोह और योग परिणति नहीं है उसके शुभाशुभ को जलानेवाली ध्यानमय अग्नि उत्पन्न होती है। शुद्धस्वभाव से सहित साधु का दर्शन ज्ञानसे परि-

पूर्ण ध्यान निर्जरा का कारण होता है। अन्य द्रव्योंसे संसक्त वह निर्जरा का कारण नहीं होता। जो अंतरंग बहिरंग सर्व संग से रहित और अनन्य मन अर्थात् एकाग्रचित्त होता हुआ अपने चैतन्य स्वभावसे आत्मा को जानता व देखता है वह जीव आत्मीय चारित्र का आचरण करता है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र में भावना करना चाहिये क्योंकि वे तीनों ज्ञान, दर्शन, चारित्र आत्मस्वरूप हैं इसलिये आत्मा में भावना करो। मैं निश्चयनय से सदा एक शुद्ध दर्शन ज्ञान स्वरूपात्मक और अरूपी हूँ। मेरा परमाणुमात्र भी अन्य कुछ नहीं है। मोह मेरा कोई नहीं है। एक ज्ञान दर्शनोपयोगरूप ही मैं जानने योग्य हूँ ऐसी भावना से युक्त जीव दुष्ट आठ कर्मों को नष्ट करता है।

न मैं पर पदार्थ का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं। मैं तो ज्ञान स्वरूप अकेला ही हूँ। इसप्रकार जो ध्यानमें चिंतन करता है वह आठ कर्मोंसे मुक्त होता है। चित्त को शांत होने पर इन्द्रियां शांत होती हैं और उन इन्द्रियों के शांत होने पर आत्मस्वरूपमें रति होती है। पुनः इससे उसे स्पष्टतया निर्वाण प्राप्त होता है। ज्ञानी आप अपने में रत होकर विचार करता है कि—मैं कौन हूँ ? मुझ को अब क्या करना चाहिए ? मेरा आत्माराम देहरूपी पिंजरे में किस प्रकार फँसा है ? अहो ! मैंने तो कितने अज्ञान से इस पिंड में बैठ कर मौज उड़ाई परन्तु अपने स्वभाव का बिलकुल ही ख्याल

नहीं किया। मेरे अन्दर ही ऐसा अद्भुत चिंतामणि रत्नत्रयमयी आत्माराम अपने स्वस्वरूप ज्ञानरूपी ज्योतिमें प्रकाशमान हो रहा है परन्तु मैंने अभीतक हृदयरूपी कपाट को खोलकर देखा ही नहीं है। क्या मेरे बाह्य स्वरूप से यह स्वरूप, यह ज्योति, तीनों लोकों को प्रकाशमान करनेवाली अद्वितीय ज्योति नहीं है? मेरा स्वरूप या मेरे स्वरूप का यश सभी शास्त्र, वेद, पुराणों के द्वारा गाया जाता है, वही मैं हूँ। मैंने अति कठिन इस अमूल्य मानव शरीर को प्राप्त किया है। यह शरीर नाव के समान है। इसके द्वारा मैं इष्ट स्थान प्राप्त करूँ। कहा भी है कि—

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते॥
नोत्पद्यते विना ज्ञानं विचारेणान्यसाधनैः।
यथा पदार्थज्ञानं हि प्रकाशेन विना क्वचित्॥

हे जीवात्मन्! महान् पुण्यरूपी धनके बदलेमें तूने इस संसार-रूपी समुद्र को पार करने के लिए तथा रत्नत्रयरूपी निधि को सुर-क्षित अपने घर तक पहुँचाने के लिये इस अमूल्य कायरूपी नावको खरीदा है। यह जब तक टूटे नहीं तब तक इसके द्वारा पार उतर कर जा। विचार विना अन्य किसी पदार्थका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। जैसे प्रकाश के विना कभी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है उसी प्रकार सच्चे आत्मज्ञान के प्रकाश के विना हिताहित का ज्ञान

कभी नहीं हो सकता है। अब मैंने सच्चा रत्नत्रयरूपी खजाना मेरे पास देख लिया है। अब मैं अन्य वस्तु के प्रति मिलने की इच्छा क्यों करूँ? और उसके संयोग और वियोग में सुख दुःख करनेसे क्या प्रयोजन? तथा राग द्वेष कोई मुझसे छीन ले तो भी क्यों विरोध करूँ? जब तक मुझे असली आत्म तत्वकी पहिचान नहीं थी तब तक मैं इसके प्रति राग द्वेष करता था। अब मुझको ये पदार्थ मुझसे भिन्न मालूम पड़ा और इसने हमेशा साथ रहकर मुझे जन्म मरण को प्राप्त कराया है। मैंने अज्ञान से इसके पीछे अपने को मान कर घोर दुःख पाया। अब मेरा सच्चा स्वरूप मुझे प्राप्त हुआ है, अब मुझको किसी पर-वस्तु का प्रयोजन नहीं है। मेरी इच्छा तथा मुझे सुख शांति की पूर्ति करनेवाला रत्नत्रय स्वरूप आत्मरूप खजाना मेरे अन्दर मुझे प्राप्त हुआ है। अब अन्य देश-विदेशमें जाकर दीनता को बतलाकर भिखारी क्यों बनूं? अब मैं तीन लोकमें सारभूत ऐसे महान् रत्नत्रय का स्वामी बन गया हूँ अर्थात् तीन लोकके सार्वभौम स्वामी बनने की योग्यता मेरे अंदर ही प्रगट हुई है, अब मुझे किस बात की चिंता है? मैं अचिंत्य हूँ, परमानंद परम सदानंद स्वरूप अखंड अविनाशी पद का स्वामी हूँ। जैसे आत्मरत ज्ञानी अपने अंदर रत होकर विचारता है, तब कर्मरूपी कलंक पिघल कर धीरे २ आत्माके अन्दर परम शांति उत्पन्न होती है और बाह्य पदार्थों में अरुचि होती है अर्थात् संसार माया को हेय जानता है। सांसारिक इन्द्रिय वासनाओं

में फँसे जीवको पागल समझकर अपने आत्म-स्वरूपमें बार बार रत होते हुए भव को नष्ट करने को उद्यम करता है।

सार यह है कि ऊपर के श्लोकमें ग्रन्थकार ने बताया है कि जिसक मन अपने आत्मा के अंदर रत हुवा है उसकी बुद्धिपूर्वक अशुभ या शुभ कार्यों में मन वचन काय की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसे शुद्धोपयोगी साधु के पुण्य और पाप दोनों कर्मोंका आश्रव नहीं होता है। तो प्रमत्तगुण स्थान से लेकर दशवें सूक्ष्मसांपराय गुण स्थान तक यद्यपि कषाय का मंद उदय है उससे यथासंभव कर्मों का आश्रव व बंध भी होता है परंतु वह इतना कम है कि यदि आश्रव या बंध नहीं कहे तो भी ऐसा कह सकते हैं कि जहां बुद्धि पूर्वक राग की अधिकता है, वही अधिक कर्मबंध होता है। यहां प्रयोजन यह है है कि साम्य भाव से तिष्ठता ही मुख्यता से संवर कारण है। जिसने निश्चय नय से जगत मात्र के जीवों को अपने समान देख लिया है, शुद्ध नय से सबको शुद्ध एकाकार अनुभव किया है उसी के ही राग द्वेष मोह का अभाव होता है व समता भाव की प्राप्ति होती है।

इस शुद्धोपयोग के बल से ही उन्नति करते हुए यह आत्मा ऐसी परमात्म अवस्था को पा लेता है जहां कर्मों का बिलकुल भी आश्रव नहीं होता है। वास्तव में संवर का कारण शुद्धोपयोग है, यही भाव संवर है।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥४॥

जो भेद विज्ञान के बल से अपने आत्मा की महिमामें लीन होते हैं उन्हींको निश्चय से शुद्ध आत्म-तत्व का लाभ होता है । तब वे सर्व अन्य द्रव्यों से निश्चलपने दूर रहते हैं ऐसा होने पर कर्मों से मुक्ति हो जाती है । कहा भी है कि—

ण वि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण पर दव्व पज्जाये ।
णाणी जाणंतो विहु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥ सम०

जिस कारण यह ज्ञानी प्राप्य विकार्य निर्वृ त्य इस तरह जिसका लक्षण व्याप्य है ऐसे तीन प्रकार के कर्म आत्मा के परिणाम को अपने से अन्तर्व्यापक होकर आदि मध्य अन्त में व्याप्य कर उसी को ग्रहण करता है, उसी रूप परिणामता है तथा उसी तरह उत्पन्न होता है । इस प्रकार अपने परिणाम रूप कर्म को करता हुआ उसको जानता हुआ भी बाह्य स्थित हुए पर द्रव्य को जैसे मिट्टी कलश को व्याप्त करती है उसी तरह आप उस पर द्रव्य के परिणाम में आदि मध्य अन्त में व्याप्त कर न तो उसे ग्रहण करता है न उसके रूप परिणामता है तथा न उस तरह उपजता है । इस कारण प्राप्य विकार्य निर्वृ त्य तीन प्रकार व्याप्य लक्षण पर द्रव्य का

परिणाम रूप जो कर्म है उसे नहीं करता। वह ज्ञानी है वह अपने परिणाम को जानता हुआ। प्रवर्तता है ही उसका पुद्गल के साथ कर्तृ कर्म भाव नहीं है इसलिये बाह्य पदार्थ ज्ञानी को माया रूप दीखता है और संसार अवस्था पागल के समान प्रतीत होती है। इस प्रकार आत्म ध्यान में रत होनेवाले का भव जल्दी नष्ट होगा। आगे इसी विषय को पुष्ट करते हैं—

नुडि किरिदप्पुदूटदोळ रोचक मप्पुदु बाह्यगोष्ठियोळ् ।
सिडिमिडियप्पुदंते वहिरंगद नोटके कएगळोल्लवा ॥
कडुपिन कान्गळाटवडकक्कोळगप्पुदु बुद्धिमुक्तियं ।
तुडुकुतमिर्पुदल्ते परमात्मरतंगपराजितेश्वरा ! ॥१३॥

अर्थ—हे अपराजितेश्वर ! परमात्मा में आसक्त हुए ज्ञानी के बाह्य शब्दाडंबर तथा बोल चाल कम हो जाते हैं। भोजन में अरुचि हो जाती है। बाह्य सभा में घृणा हो जाती है। इसी प्रकार बाह्य पर पदार्थों में दृष्टि की प्रवर्तना नहीं होती है। आतुरता करने वाले हाथ पांव शरीर अवयवादि की चंचलता स्थिर होती है और उनकी बुद्धि मोक्ष की तरफ ही ताकती तथा स्पर्श करती है ॥१३॥

Aparajiteshwar ! The externality and speech deminish in the case of one absorbed in Parmatman (Supreme Soul); The food looses its taste : external com-

pany becomes hateful. In the same way the external does not incite its attention. The unsteady hands, feet and other organs of body become steady and the intellect gaze and touch upon Liberation only.

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि—

परमात्मा में आसक्त ज्ञानी के बाह्य जितने जितने शब्दाडंबर हैं तथा बोल चाल तथा वचन वर्गणा इत्यादि जितने बाह्य व्यंजन पर्याय हैं वे सभी बंद हो जाते हैं बाह्य लौकिक सभायें तथा व्यावहारिक अन्य सैंकड़ों सांसारिक पंचायत इत्यादि से घृणा हो जाती है। उसी तरह बाह्य पर पदार्थों में दृष्टि की प्रवृत्ति नहीं होती है और आतुरता करने वाले हाथ पांव शरीर इत्यादि स्थिर होते हैं। और उनकी बुद्धि मोक्षकी तरफ ही खिंचती है। जब तक इन बाह्य पदार्थों से मन नहीं हटेगा तब तक मन स्थिर होना कठिन है। बुद्धि को मोक्ष की तरफ लगाने के पहले पांचों इंद्रियों की दौड मन की दौड और कायकी दौड हाथ की दौड सभी अवयवों की दौड जब तक बंद नहीं होगी तब तक आत्मा मोक्ष की तरफ नहीं लग सकता है। जैसे कहा भी है कि—

पंच वि इंदिय मुंडा वचि मुंडा हत्थ पाय तणु मुंडा।
मण मुंडेण य सहिया दस मुंडा वण्णिदा समए॥

पांच इंद्रियों का मुण्डन, बचन और कायका मुंडन, हाथ, पांव और शरीर का मुंडन और मनका मुंडन ये दस प्रकार के

मुंडन है। जब तक ये नहीं करेगा तब तक मोक्ष में बुद्धि नहीं लग सकती। सबसे पहले इन्द्रियों का मुंडन करना चाहिये। इंद्रियां ही आत्मा के लिये जन्म मरण के भ्रमण की कारण हैं। अन्य ग्रंथ में कहा है कि—

मनुष्य के लिये पांच इंद्रिय पंचाग्नि समान हैं और हमेशा जलाने वाली हैं। और सारा संसार ही इन पांचों इन्द्रियों से बंधा हुआ है, और वह उनके आधीन होकर रहता है। अब पाँच विषय कौन कौन हैं सो कहते हैं—

शुचिर्दर्भाङ्कुराहारो विदूरभ्रमणे क्षमः।
लुब्धकोद्गीतमोहेन मृगो मृगयते वधम्॥

जैसे एक श्रोत्रेंद्रिय के आधीन अर्थात् उसमें विशेप ज्ञान अथवा प्रीति वाला मृग (हरिण) कर्णेंद्रिय के विषय में लुप्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। मृग नाद विशेषतः वीणा का बाजा अतिशय प्रिय लगता है, इससे पारधी लोग कस्तूरी के लिये वेणु वीणा इत्यादि बाजे बजाकर मृगों को मोहित करते हैं। जब वे आनन्द मग्न होकर उसमें रत होजाते हैं तब पीछे से अचानक शस्त्र द्वारा उनके प्राण हरण करते हैं।

स्पर्शनेंद्रिय का विषय—

गिरींद्रशिखराकारो लीलयोन्मूलितद्रुमः।
करिणीस्पर्शसम्मोहाद् बंधनं याति वारणः॥

इसी भांति स्पर्शेंद्रिय के आधीन होने से मातंग अर्थात् हाथी वश में कर लिया जाता है। हाथी को हथिनीका स्पर्श करने की बड़ी आतुरता लगी रहती है, इसी कारण उसके पकड़ने के लिये ऐसी युक्ति की जाती है कि जिस जंगल में हाथी होते हैं वहां कागज आदि किसी वस्तु का हाथी बना कर खड़ा कर देते हैं। जिस मार्ग में हाथी आने का अनुभव कर लिया जाता है उधर एक गहरा गड्ढा खोद कर अवसर वश उस पर बांस के पत्ते और लकड़ियाँ वगैरह उस पर बिछाकर मिट्टी से ढक देते हैं और समान जमीन कर लेते हैं, भूमिके समान कर देते हैं। पीछे हथिनी को खुल्ली रखकर सब लोग इतस्ततः छिप जाते हैं। फिर जंगल में भटकता २ कोई हाथी उधर आ जाता है तो उस कृत्रिम हथिनी को देखकर उसका स्पर्श करने के लिये बड़े वेग से दौड़ता है। परंतु ज्योंही वह ढके हुए गड्ढे पर आता है त्योंही गिर पड़ता है फिर निकल नहीं सकता है जब बहुत दिनों तक गड्ढे में पड़ा भूख प्यास से आसक्त हो जाता है तब पकडने वाले उसको अंकुशों के प्रहारों के साथ लोह शृंखलाओं से जकड़ कर वशीभूत कर अपने घर ले आते हैं।

चक्षुइंद्रिय विषयः—

स्निग्धदीपशिखालोकविलोलितविलोचनः
मृत्युमृच्छातिसम्मोहात्पतंगः सहसा पतन् ॥

चक्षु इंद्रिय विषय में अति लोभ रखने के कारण से पतंग अपने प्राण दीपक में विसर्जन कर देता है। पतंग को दीपक पर अत्यंत प्रीति होती है। रात्रि के समय में देखने में आता है कि दीपक को जलता हुवा देखकर उसकी प्रज्वलित शिखा में गिर जाता है जब उसके आंच लग जाती है तो फिर पीछे हट जाता है परन्तु उसका मोह न छूटने के कारण स्वप्राण खो बैठता है।

रसनेन्द्रियः—

अगाधसलिले मग्नो दूरेऽपि वसतो वसन्।
मीनस्तु सामिषं लोहमास्वादयति मृत्यवे॥

रसना स्वाद को जाननेवाली इंद्रिय है उसके आधीन रहनेसे मछली के प्राण जाते हैं। मछलियों की रसनेंद्रिय बड़ी प्रबल होती है। अतः उनको पानी में से पकड़ने वाले धीवर मछुआ आदि लोहे के तीक्ष्ण २ कांटों पर शक्कर से मिश्रित गेहूँ के आटे की गोलियां लगाकर पानी में छोड़ देते हैं। उन कांटों के पीछे लम्बी२ डोरियां बांधकर हाथ में पकड़े रहते हैं। स्वाद के वशीभूत होकर मछली ज्योंही इस गोली को मुंह में लेती है ज्योंही तत्काल लोहे का कांटा उसके तालों में घुस जाता है। जिसके दुख से तडफडा कर अपने प्राण गंवाती है।

घ्राणेन्द्रिय का विषयः—

उत्क्रतिंतु समर्थोऽपि गन्तुं चैव सपक्षकः।
द्विरेफो गंधलोभेन कमले याति बन्धनम्॥

घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध है। यह गंध विषय भी इसके आधीन होने वाले का नाश करता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भ्रमर है। सुगंध का अत्यंत लालची भ्रमर नाना प्रकार के पुष्पों पर निरंतर भटकता रहता है। छोटे छोटे विविध पुष्पों के सौरभ से तृप्त न होकर अत्यंत प्यारे प्रफुल्लित कमल पुष्प पर जाकर बैठता है, वह उसकी सुगंधि में इतना मग्न हो जाता है कि जब संध्या समय सूर्य का प्रकाश न रहने से कमल पुष्प बंद होने लगते हैं तब भी पंखुडियों के आहट से विचलित न होकर जैसे का तैसा बैठा रहता है। वह यही सोचता है कि अब उठता हूँ, अब उठता हूँ। इतने में कमल की सब पंखुरियां सिमट कर बंद हो जाती हैं और भ्रमरराज उसी में कैद होकर प्राण त्याग देता है।

एकैकशो विनिघ्नंति विषया विषसन्निभाः।
किं पुनः पंच मिलिता न कथं नाशयन्ति हि ॥

इस प्रकार जब एक एक इंद्रिय विषय के वशीभूत होकर प्राणी की ये दशा हो जाती है तब तो न जाने पंचेंद्रिय के वशीभूत होने से क्या दशा हो जायगी ?

इसलिये आत्म हितेच्छु भव्य जीव को सबसे पहले इंद्रियों की वासना को त्याग करना ही संसार को त्याग करना है तथा बाह्य वस्तुओं को त्यागना है। जब इंद्रियों का बल कम होता है चंचल मन अपने स्थान पर स्थित होता है उसके बाद वचन

और काय इन तीनों का भी मुंडन होता है। उसके साथ राग का मुंडन, क्रोधका मुंडन, मानका मुंडन, लोभ का मुंडन, मायाका मुंडन, परिग्रह का मुंडन, तत्पश्चात् शरीरादि हलन चलन का मुंडन भी होता है। तब बाह्य क्रिया सभी स्वयं निस्तेज होती हैं तब आत्मा राम में स्थिरता आती है। तब वे आत्म-भावना में स्थिर होकर जब अपने अंदर ही क्रीडा करता है, तथा खेल करता है वे सभी खेल उनको पुण्य रूप तथा शुभ होते हैं। ऐसा ज्ञानी आत्मा जहां जहां जिस जिस क्षेत्र में भ्रमण करता है वह क्षेत्र तीर्थ बन जाता है। ज्ञानी जो भी खेल करता है वे सभी खेल मोक्ष प्राप्ति के साधन बन जाते हैं और उनकी बुद्धि भी हमेशा मोक्ष को ही स्पर्श करती है और बात क्या?

आगे यह बतलाते हैं कि आत्मा में स्थिरता लाने के लिये बाह्य और अंतरंग तप की जरूरत है—

पोरगे तपगळारर सहायते बेकु शरीर मोहमं।
तोरेयले बेकु भावनेयशास्त्र विलोकिते बेकु निच्चलुँ॥
नेरेव विरक्ति बेकु रिपुबंधुगळोळ्सरि गाण बेकु क-
एणरिदु निजात्मनं चलिस दीचिसुवंगपराजितेश्वरा!॥१४

हे अपराजितेश्वर! आत्माको पहिचान कर चित्त की चंचलता से रहित होकर देखनेवाले को बाह्य अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश ऐसे छह

तप करना चाहिए; शरीर के ममत्व का त्याग करना चाहिए, हमेशा अपनी भावना शास्त्र चिंतन में लगाये रखना चाहिये, शत्रु मित्रमें समान दृष्टि रखना चाहिए और इसप्रकार सम्पूर्ण विरक्ति चाहिए।

14. Aparajiteshwar ! Having concentrated the mind, the knower of the soul should practise six external penances; Anasana (fasting), Avamodarya (regulatiou of diet), Vritti–Parisankhyana (regulation of meals by observing the rules enjoined in the Jaina Scriptures). Rasaparityaga (abstinence from appetising food). Viviktasayyasana (lying at quiet and solitary places) and kaya-klesha (Practice of bodily austerities) He should overcome the attachment with the body (giving up egoism), always absorb himself in the study of scriptures, and maintain no difference between friend and the foe. Thus he should observe complete renunciation.

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बताया है कि आत्मा को पहिचान कर चित्त की चंचलता से रहित होकर देखनेवाले को वाहर की अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त–शय्याशन और काय-क्लेश ऐसे छह तप हैं, इन छहों तप की सहायता चाहिये। शरीरका मोह भी कम करना चाहिये, शास्त्र का अवलोकन में उपयोग चाहिये अर्थात् हमेशा भावना चाहिये और शत्रु-मित्र पर समान दृष्टि चाहिये, साथ साथ संपूर्ण विरक्ति चाहिये।

अध्याय नवमे में—श्री अकलंकाचार्य ने अपने राजवार्तिक में बाह्य तपके बारे में कहा है कि:—

"अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः" ।

अनशन करना अर्थात् चारों प्रकारके आहार का त्याग कर उपवास ग्रहण करना, ऊनोदर करना, अर्थात् जितनी भूख है उसमें बहुत कम आहार ग्रहण करना, घरों की संख्या का नियम कर लेना अर्थात् आज यदि दो घर आहार का योग मिल सकेगा तो आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा फिर आगे आहार ग्रहण करेंगे तथा फिर आहार के लिये आगे नहीं जायेंगे ऐसे संकल्प करना, यह वृत्तिपरिसंख्यानव्रत कहलाता है। रसों का त्याग करना, एकान्तमें शयन करना और बैठना प्रमाद रहित काय-क्लेश करना ये छह बाह्य तपके भेद है हैं। अब इसका स्वरूप कहते हैं:—

तद् द्विविधमवधृतानवधृतकालभेदात् ॥ २ ॥

अर्थ—उस अनशन तपके दो भेद हैं:—एक किसी समय विशेष तक अर्थात् नियत काल तक, दूसरा जिसका समय नियत न हो, किन्तु आजन्म तक आहार का त्याग कर देना वह अनवधृतकाल अनशन तप कहलाता है। उनमें एक दिन में एक बार भोजन करना, चतुर्थ भक्त आहार करना, षष्ठ भक्त आहार करना आदि

रूपसे जो काल की मर्यादा लेकर आहार करना है वह तो अवधृत-काल अनशन कहलाता है और शरीर की समाप्ति पर्यंत जो आहार परित्याग किया जाता है वह अनवधृतकाल अनशन तप कहलाता है। अब अवमोदर्य तपका स्वरूप कहते हैं—

भरे जोड़ने पर जितनी इन अंकोंकी संख्या बैठे उतने तो इस कनकावली उपवास विधि में उपवास समझना चाहिये और जितने स्थान हों उतनी पारणा जाननी चाहिये। इस प्रकार सब मिलकर इसमें चारसौ चौतीस उपवास हैं और अठासी पारणा हैं। इसलिये यह व्रत पांच सौ बत्तीस दिन में समाप्त होता है जो मनुष्य इस व्रतका आराधना करते हैं उन्हें मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

यह नकशा हरिवंशपुराण में इस तरह बतलाया है कि—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१	२	३	३	३	३	३	३	३	३	३	१	२	३	४
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	३	३	३
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
३	३	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६		५
४	३	२	१	३	३	३	३	३	३	३	३	३	२	१

एक सौ सोलह तक दो वार संख्या आती हो उतने तो उपवास समझना चाहिये और जितने स्थान हों उतना पारणा समझना चाहिये अर्थात् दो बार एक से सोलह तक संख्या का जोड़ देने से दो सौ बहतर संख्या बैठती है और इसमें एक सौ वासठ जोड़ने से चारसौ चौतीस होते हैं। इस रीतिसे इतने तो इस कनकावली में उपवास समझना चाहिये और अठासी स्थान होते हैं इसलिये उतनी ही पारणा जाननी चाहिये। यह कनकावली विधि एक वर्ष पांच मास और बारह दिन में समाप्त होती है।

मुरज मध्य तप विधिः—पांच विंदु से लेकर दो तक और दो से पांच तक विंदु का एक मुरज के आकार का प्रस्तार वनावें। जितनी इस प्रस्तार में विंदु हों, उतने तो मुरज मध्य विधि, मुरज-मध्य विधि यंत्र में उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणा समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार इस मुरज मध्य तप विधि में उपवास अट्ठाईस और पारणा आठ हैं जो फल मध्य मृदंग मध्य तप विधि का वतलाया है। वही इसका समझ लेना चाहिये। यह उपवास छत्तीस दिनों में समाप्त होता है।

o o o o o
o o o o
o o o
o o
o o
o o o
o o o o
o o o o o

एकावली उपवास—एक ऐसा प्रस्तार वनावे जिसमें चौवीस वार एक के अंक हों तथा उन अंकको आपस में जोड़ले। इस तरह जोड़ने पर जितनी उन अंकों की संख्या सिद्ध हो उतने तो इस

व्रतमें उपवास समझने चाहिये और जितने स्थान हों उतनी पारणा जान लेनी चाहिये। इस प्रकार इस एकावली उपवास में चौवीस उपवास और चौवीस पारणा है। इस व्रत के आचरण करने की रीति एक उपवास एक पारणा पुनः एक उपवास एक पारणा इत्यादि क्रम से है। यह व्रत अड़तालीस दिन में समाप्त होता है। और इसके आचरण करने वाले को अद्वितीय सुख मिलता है।

एकावली यंत्रः—

१ १
१ १.

सिंहनिष्क्रीडितव्रत—जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार का है। उनमें जघन्य सिंह निष्क्रीडित इस प्रकार है:—एक ऐसा प्रस्तार वनावे कि अंतमें उसमें पांच का अंक आजाय और पहले के अंक में दो दो अंकोली सहायता से एक एक अंक वढ़ता और घटता जाय। इस रीति से जितने इस जघन्य सिंह निष्क्रीडित में अंकों के जोड़ने पर संख्या सिद्ध हो उतने तो उपवास समझना चाहिये और जितने स्थान हो उतनी पारणा जाननी चाहिये अर्थात् इस प्रकार का यह आकार है। यहां पर पहले एक उपवास—

१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ५ ५ ४ ५ ३ ४ २ ३ १ २ १.

एक पारणा और दो उपवास एक पारणा करना चाहिये। पश्चात् दो में से एक उपवास का अंक घट जाने से एक उपवास एक पारणा, दो में एक उपवास का अंक बढ़ जाने से तीन उपवास एक पारणा, तीन में से एक उपवास का अंक घट जाने से दो उपवास एक पारणा, तीन में एक उपवास का अंक बढ़ जाने से चार उपवास एक पारणा, चार में से एक उपवास का अंक घट जाने से तीन उपवास एक पारणा, चार में एक उपवास का अंक बढ़ जाने से पांच उपवास एक पारणा, पांच में से एक उपवास का अंक कमी करने पर चार उपवास एक पारणा, चार में एक उपवास का अंक बढ़ा देने पर पांच उपवास एक पारणा होती है यहां पर अन्तमें पांच का अंक आजाने से पूर्वार्ध समाप्त हुआ। आगे उल्टी संख्यासे पहिले पांच उपवास एक पारणा करनी चाहिए, पश्चात् पांच में से एक उपवास का अंक कमी करने पर चार उपवास एक पारणा, चारमें एक उपवास का अंक बढ़ा देने पर पांच उपवास एक पारणा; चार में से एक उपवास का अंक घटा देने पर तीन उपवास एक पारणा, तीन में एक उपवास का अंक बढ़ा देने पर चार उपवास एक पारणा, तीन में से एक उपवास का अंक घटा देने पर दो उपवास एक पारणा, दो में एक उपवास अंक बढ़ा देने पर तीन उपवास एक पारणा, दो में से एक उपवास का अंक कमी करने पर एक उपवास एक पारणा पश्चात् दो उपवास एक पारणा, और एक उपवास एक पारणा करनी चाहिये। इस जघन्य सिंह निष्क्रीडित में अंकों की

संख्या साठ है। इसलिये साठ उपवास होते हैं और स्थान बीस हैं इसलिये पारणा बीस होती हैं। तथा यह विधि अस्सी दिनों में जाकर समाप्त होती है।

अब अवमोदर्य तप का वर्णन करते हैं:—

"संयमप्रजागरदोपप्रशमसंतोषस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थ-मात्रमोदर्यं" ॥ ३ ॥

जितना आहार के लिये भोजन होता है उसका चतुर्थांश अथवा आधा ग्रास छोड़ देना अर्थात् जितना आहार एक बार में मुनिराज ग्रहण करते हैं उस परिमाण वाले आहार के या तो चौथा भाग छोड़ देते हैं या आधा ग्रास एक ग्रास आहार छोड़ देते हैं ऐसा करने से पेट भरता ही नहीं किन्तु खाली रहता है। अव नाम (ऊन) का है अर्थात् ऊन उदर रखना इसको अवमोदर्य कहते हैं। अवमोदर्यके भावको अथवा कर्म को आवमौदर्य कहते हैं अर्थात् खाली भूखा पेट रखनेकी अवस्था को अथवा खाली पेट रखने की क्रिया को अवमोदर्य कहते हैं।

यहाँ ऐसा कोई प्रश्न करता है—इस प्रकार स्वल्प आहार लेकर भूखा पेट रखनेसे लाभ क्या ?

उत्तर:—विना प्रमाद के संयमका पालन हो, निद्रा नहीं आवे प्रमाद रहित जगते रहे, परिणामों में कोई विकार नहीं खड़ा हो किन्तु शांति वनी रहे और किसी प्रकार का प्रमाद जनित

दोष उत्पन्न नहीं हो, भावोंमें लालसा वृत्ति न हो, किन्तु संतोष बना रहे, बहुत काल तक स्वाध्याय होता रहे उस कालमें किसी प्रकार का प्रमाद नहीं सतावे और आत्मा में निर्मल परिणाम जनित शुद्ध सुखकी प्राप्ति हो, इसलिये ऊनोदर तप किया जाता है। यह तप आत्म शक्ति को बढ़ाने वाला है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूपः—

एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानं ॥ ४ ॥

भिक्षावृत्ति करनेवाले मुनिराज जब इस प्रकार का संकल्प कर लेते हैं कि आज हम एक ही घर आहार की योगाई मिलेगी तो आहार लेंगे नहीं तो फिर उस दिन नहीं लेंगे अथवा यदि सात घर तक आहार की विधि मिलेगी तो आहार लेंगे नहीं तो फिर उस दिन नहीं लेंगे अथवा एक गली में जितने घर होंगे उसमें यदि आहार की विधि मिलेगी तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं लेंगे, अथवा आधे गांवमें जितने घर होंगे उतने घरों में से कहीं भी यदि शास्त्रोक्त अनुकूल आहार विधि मिलेगी तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं लेंगे। इस प्रकार आहार के लिये उद्यत होते समय संकल्प कर लेना वह वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाता है। वृत्ति नाम भोजन संबंधी क्रिया का है, उसकी संख्या की नियति कर लेना अथवा संकल्प कर लेना इसी का नाम वृत्तिपरिसंख्यान है। यह वृत्तिपरिसंख्यान

तप आशा की निवृत्ति के लिये किया जाता है। अर्थात् एक घर विधि नहीं मिली तो चलो दूसरे घर मिल जायगी अथवा एक गली में जितने घर हैं उनमें विधि न मिली तो दूसरी गलीमें मिल जायगी इत्यादि जो आशा लगी रहती है यही रागरूप परिणामोंकी जनक है। उस आशा का नाश वृत्तिपरिसंख्यान तपसे हो जाता है। जहाँ नियम हो चुका वहाँ फिर आगे की आशा का सर्वथा अभाव हो जाता है। नियम कर लेने पर चित्त वृत्ति फिर आहार की ओर जाती ही नहीं है।

श्री शिवकोट्याचार्य ने अपने भगवती आराधना में खुलासा इस प्रकार कहा है—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं।
संबूकावट्टंपि य पदंग वीधीय गोयरिया ॥ २१८ ॥
गृह्णाति प्रासुकां भिक्षां गत्वा प्रत्यगतो यतः।
शंबूकावर्तगोमूत्रपुटेषु शलभायनः ॥२१७॥

जिस मार्ग से आहार के लिये गमन कर उसी मार्ग से (लौटते समय यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूं ऐसी प्रतिज्ञा करना वह गते प्रत्यागत है सरल रास्ते से जाते समय यदि आहार मिलेगा तो अहार ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना यह ऋजु वीथी है, वैल मूतते जाता है उस समय जो इस प्रकार रास्ते पर उत्पन्न होता है वैसा मोड़ा खाते हुए भ्रमण करने वाले मेरे को

यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूं। ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको गो मूत्रिक कहते हैं, बांस के टुकड़े, लकड़ी इत्यादि से बनाया हुआ, और जिसमें ढक्कन लगा हुआ है ऐसा वस्त्र सुवर्णादि रखने का जो चार कोनों का पदार्थ अर्थात् संदूक पेटी के समान चतुष्कोण भ्रमण करते हुए मेरे को यदि आहार मिलेगा तो ग्रहण करूं ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको पेलविय कहते हैं। शंख के आवर्तों के समान ग्राम के अन्दर भ्रमण करके जब बाहर भ्रमण करूंगा ऐसे समय में सामान्य भिक्षा मिलेगी तो स्वीकार करूंगा ऐसो प्रतिज्ञा करना यह शंबूका व्रत है। पक्षियों की पंक्ति जैसे भ्रमण करती है ऐसा भ्रमण करते हुए मेरे को यदि भिक्षा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा इस प्रतिज्ञा को पतंग वीथी कहते हैं, अथवा जिस श्रावक के घर में आहार लेनेका मन में विचार किया है वहां जाना इसको भी पतंग वीथी कहते हैं। इस प्रकार से आहारार्थ भ्रमण करने से यदि भिक्षा मिलेगी तो स्वीकार करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना यह वृतिपरिसंख्यान तप है।

यदि सुवर्ण पात्र, कासेका पात्र, चांदीका पात्र अथवा मिट्टीका पात्र इससे दाता आहार दे तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना, स्त्री अर्थात् बालिका, तरुणी, वृद्धा इनमें से किसी एक विवक्षित स्त्री या राज कन्या होगी तो यदि वह आहार देगी तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना अथवा और भी अनेक प्रकार के नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है।

रस परित्याग तप :—

दांतेंद्रियत्वतेजोहानिसंयमोपरोधव्यावृत्याद्यर्थंघृतादिरसत्यजनं रसपरित्यागः ॥५।

इन्द्रियों का दमन होजाय इत्यादि वातों की सिद्धि के लिये घी, दही, गुड, तैल इत्यादि रसों का त्याग कर देना सो रसपरित्याग तप कहलाता है। अर्थात् घृतादि रसों के अधिक सेवन करने से इन्द्रियोंमें वल वढ़ता है, इन्द्रियोंमें तेज और पुष्टि आती है। संयम में वाधा पहुंचती है इसलिये मुनिराज उन रसों का नियमित रूप से या आजन्म के लिये त्याग कर देते हैं उनका त्याग हो जाने से फिर इन्द्रियों का दमन हो जाता है, उनमें कोई विकार नहीं होता है, वे वश में हो जाती है, और संयम में किसी प्रकार की वाधा नहीं आती है किन्तु आत्मीयवल आत्मीय-तेज आदि आत्मीयगुणों की वढ़वारी होती है इसलिये रसपरित्याग तप किया जाता है।

विविक्त शय्यासन तपः—

आवाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं विविक्त-शय्यासनं ।६।

निर्जन सूने घरों में जन्तुओं की पीडा से रहित एकांत स्थानों में संयमी पुरुषों का शयन और आसन होता है, इसलिये विविक्त शय्यासन तप कहा गया है, उस प्रकार के तप से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है इसके लिये कहते हैं कि ब्रह्मचर्य उनका वाधारहित

पलता रहे, स्वाध्याय और ध्यान आदि की सिद्धि भी निर्बाधरूप से हो इसके लिये विविक्तशय्यासन तप कहा गया है अर्थात् जहाँ कुछ भी बाधा पहुंचानेवाली सामग्री होती है वहां पर स्वाध्याय ध्यान आदि सभी कार्यों में बाधा पहुंचने की संभावना रहती है इसलिए उस संभावना को दूर करने के लिये मुनिराज विविक्त शय्यासन नामका तप करते हैं।

कायक्लेश तपः—

प्रतिमायोग से ध्यान करना अर्थात् दिगम्बर होकर ध्यान करना तथा खड्गासन, पद्मासन, अर्ध-पद्मासन, वज्रासन, गोदूहनासन आदि कठिन २ आसनों से कायोत्सर्ग करना, मौन धारण करना, ग्रीष्मकाल में आतपनयोग धारण करना अर्थात् मध्याह्न की धूप में पहाड़ आदि पर ध्यान करना, चातुर्मास में वृक्ष के नीचे ध्यान करना, शीतकाल में नदी किनारे पर ध्यान करना इत्यादि रूप से जो शरीर से ममत्व कम होकर आत्म स्वरूप में मन दृढ़ बने तथा कर्म को तपे इसका नाम कायक्लेशतप-कहलाता है। अर्थात् विना प्रमाद के वीतराग भावों से शारीरिक कष्ट सहना करना तथा घोर तपश्चरण के द्वारा शरीर को कृश करना इसका नाम कायक्लेश तप है।

कोई शंका करता है कि कायक्लेश किस प्रयोजन के लिये सहन किया जाता है?

उत्तर में अकलंक देव ने कहा है कि:—

देहे दुःखतितिक्षासुखानभिष्वंगप्रवचनप्रभावनाद्यर्थं ।१४।

उपसर्ग आदि किसी कारण से दुःख उपस्थित हो जाय तो उसका सहन हो जाय और इंद्रिय विषयों के सुखों में आशक्ति नहीं हो जाय, इसीलिये तथा जिनमत की प्रभावना हो अर्थात् सच्चे अहिंसा धर्म की या दयामय धर्म की प्रभावना हो इसके लिये काय क्लेश तप किया जाता है। यदि कायक्लेश तप नहीं किया जाय तो ध्यान के धारण करते समय किसी दुष्ट द्वारा कोई उपद्रव अथवा आकुलता का कारण उपस्थित कर दिया जाय तो उसका फिर सहन करना कठिन होने से ध्यान में चित्त नहीं लग सकेगा। इसलिये ध्यान सिद्धि में बराबर चित्त लगा रहे, कैसा ही कोई उपद्रव या उपसर्ग क्यों न करे फिर ध्यान से चित्त विचलित नहीं हो, चाहे अधिक ठंड पड़ती हो, चाहे अधिक सूर्य की उष्णता बढ़ गई हो, हर समय उन कष्टों को शांत चित्त से सहन करते हैं और ध्यान से विचलित नहीं होते हैं। ऐसे तप करने से तप की सिद्धि होती है, आत्म साधन की वृद्धि होती है।

किस कारण से इसे बाह्य तप कहते हैं?

उत्तर—"बाह्य द्रव्यापेक्षत्वाद्बाह्यत्वं" ॥१७॥

बाह्य अनशनादि द्रव्य की अपेक्षा से ही ये तप किये जाते हैं अर्थात् आहार का त्याग करना, स्वल्पाहार करना, घरों की संख्या की नियति करना, रसों का छोड़ना, एकान्त में शयन करना, शरीर

को क्लेश देना ये सब बाह्य निमित्त उन तपों में पड़ते हैं इसलिये उन्हें बाह्य तप कहते हैं। और भी—

"परप्रत्यक्षत्वात्" ॥१८॥

दूसरों को भी अनशन आदि का नियम से प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् इन बाह्य तपों को दूसरे पुरुष भी प्रत्यक्ष देख सकते हैं इसलिये भी इन तपों को बाह्यपना आता है। और भी कहते हैं:—

"तीर्थ्यगृहस्थकार्यत्वाच्च" ॥१६॥

इन अनशनादि तपों को मुनीश्वर भी करते हैं और गृहस्थ लोग भी इन्हें करते हैं, गृहस्थों में सम्यग्दृष्टी भी करते हैं और जो मिथ्यादृष्टी हैं वे भी इन अनशनादि तपों को करते हैं, इसलिये भी इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

प्रश्नः—इन अनशनादि तपों कों तप क्यों कहते हैं ?

उत्तरः—"कर्म-निर्दहनात्तपः ॥२०॥

जिस प्रकार अग्नि इकट्ठे किये गये तृण आदि को जला डालती है उसी प्रकार मिथ्यादर्शनादि से इकट्ठे किये गये कर्मों को यह तप भी नष्ट कर देता है। इसलिये इसे तप कहते हैं। तथा—

"देहेन्द्रियतापाद्वा" ॥२१॥

अथवा यह तप शरीर और इन्द्रियों को तपाता है इसलिये अनशनादि को तप कहते हैं। उन शरीर और इन्द्रियों के तप जाने से इन्द्रियों को सुगम रीति से वश में किया जा सकता है।

शरीर-मोह का त्याग

ज्ञानी को ऐसा विचारना चाहिये कि ये शरीर अनादिकाल से आत्मा के साथ मित्र के नाते रहते हुए मित्र के नाते से यह जीव उसी के रंग में रंगने से उसीको मानकर अपने सत स्वरूप को भूल बैठा है, इस शरीर के निमित्त होने वाले अनेक इष्ट मित्र कुटुम्ब इत्यादि को अपना मान कर जन्म मरण के आधीन हुआ है और हमेशा चारों गतियोंका दुःख सहता रहा है इसलिये इनको इस संसार से अलग होने के लिये कोई निमित्त का विचार नहीं करता है गुणभद्राचार्य ने अपने आत्मानुशासन में कहा है कि—

प्रसुप्तो मरणशङ्को प्रबुद्धो जीवितोत्सवम् ।
प्रत्यहं जनयत्येप तिष्ठेत् काये कियच्चिरम् ॥७२॥

जब जीव सो जाता है तब तो मरा हुआ सा दीखता है और जाग उठता है तब जीने की खूब चेष्टा करने लगता है। ऐसा हाल किसी एक दिन का नहीं है किन्तु प्रति दिन ऐसा ही हुआ करता है जोकि इस तरह प्रतिदिन अंत होने का सा अभ्यास किया करता है वह कहां तक इस शरीर में ठहरेगा। बहुत ही शीघ्र कभी न कभी सचमुच ही निकल जायगा। अथवा जो सदा ऐसा धोखा देता है उसका कहां तक विश्वास किया जा सकता है कि यह कभी सचमुच ही न निकल जायगा ? वह तो कभी न कभी अवश्य नकलेगा। इसलिये उसके रहते रहते जो करना हो वह कर लेना

चाहिये । करना यही है कि विषयों से प्रीति हटा कर तपश्चरण द्वारा परभव का सुधार कर लिया जाय। इस प्रकार शरीर से आत्मा के हित की आशा रखना सर्वथा निर्मूल है।

इस प्रकार विचार कर ज्ञानी जीवों को शरीर से मोह को हटाना चाहिये और अपने सत् स्वरूप की तरफ रुचि को बढ़ाना चाहिये। ज्ञानी जीवों को इस प्रकार जिन वाणी में गमन—हमेशा भगवान के कहे हुये वचनों में तथा उनके तत्वों में उपयोग पूर्वक गमन—करना चाहिए। वे जिनवाणी से ऐसी प्रार्थना करें कि—

यन्मात्रापदवाक्यवाच्यविकलं किंचिन्मया भाषितम्।
बालस्यास्य कषायदर्पविषयव्यामोहसक्तात्मनः ॥
वाग्देवी जिनवक्त्रपद्मनिलया तन्मे क्षमित्वाखिलं।
दत्वा ज्ञानविशुद्धिमूर्जिततमां देयादनिंद्यं पदं ॥१४॥

यहां पर आचार्य ने दिखलाया है कि जिनवाणी को शुद्ध ही पढ़ना चाहिये और शुद्ध ही उसका अर्थ समझना चाहिये; फिर भी यदि कभी प्रमाद से कुछ भूल हो गई हो, किसी वचन को कम बढ़ कह दिया हो तो उसके कारण जो पाप बंध हुआ हो उसको दूर करने के हेतु से यह भव्य जीव प्रतिक्रमण या पश्चात्ताप करता है कि जिनवाणी मुझ पर क्षमा करे। यह मात्र भक्ति करनेका, उच्च भावना भाने का एक प्रकार है जिससे भावों में यह बात आजावे कि मुझे शुद्ध ही पढ़ना चाहिये। फिर वह जिनवाणी को हृदय में धार कर यह विचारता है कि मैं बिलकुल अज्ञानी हूँ इसीसे

क्रोध, मान, माया, लोभ कपायों के वशीभूत हो जाता हूँ या पांचों इंद्रियों के चिपयों में आशक्त हो जाता हूँ जिससे मेरे भावों में अशुद्धि हो जाती है और मैं कर्मोंका बंध कर लेना हूँ। अत्र मैं यह प्रार्थना करता हूँ जिनवाणी के निरंतर मनन से यह मेरी कल्पना मिटे और परम शुद्धता मेरे आत्मा को प्राप्त हो अर्थात् शुद्धोपयोग रहा करे जिससे मैं अविनाशी निज पद को पा सकूं, जहां कोई कर्म का संबंध नहीं रहता है और यह आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टी व ज्ञानी जीव को वीतराग भाव की ही प्राप्ति का यत्न करना चाहिये। यह वीतरागता उसी समय प्राप्त होती है जब विपय कपायों से ग्लानि हो जावे और शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा से प्रीति बढ़ जावें। क्योंकि आत्माका स्वभाव ही परम वीतरागमय हैं। इसलिये आत्मा के ध्यान से स्वयं वीतरागता झलक जाती है और तव सुख शांति की प्राप्ति होती है, पिछला कर्म कटता है। असल में आत्मा की भूमि में चलना ही जीव का परम हित है।

तत्वभावनामें कहा भी है कि विरक्ति भी चाहिये:—

> एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता।
> गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते ॥
> तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम्।
> का शक्रेण नृपश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम् ॥४३॥

यहां यह आचार्य ने दिखलाया है कि ममता ही दुःखों को

बढ़ाने वाली है व ममता का त्याग ही मुक्ति रूपी लक्ष्मी को प्राप्त कराने वाला है। इस संसार में इस जीव ने अनन्त काल से भ्रमण करते हुये अनन्त शरीर प्राप्त किये व छोड़ दिये तथा प्रत्येक शरीर में रहकर उसी में लिप्त होकर बहुत से कर्मों का बंधन किया, जिस कर्म बन्ध के कारण संसार में भ्रमण करता रहा। अब यह मानव जन्म पाया है। यदि फिर भी इस शरीर में व शरीर के भीतर इन्द्रियों में ममता की जावेगी तो ऐसा कर्म का बन्ध होगा कि जिससे इस जीव को नरक निगोद आदि गतियों में जाकर दुःखों की परिपाटी को बढ़ा देना होगा। फिर मानव जन्म का मिलना ही दुष्कर होजायगा। और यदि यह मानव बुद्धिमान होकर इस क्षणभंगुर व अपवित्र शरीर पर ममत्त्व न करे और अपने आत्मा के स्वरूप को पहचान कर उसका ध्यान करे तो यदि शरीर उच्च स्थिति का हो व मोक्ष पाने योग्य सामग्री हो तो उसी जन्म से मोक्ष की अनुपम सम्पदा को पा सकता है और यदि शरीर मोक्ष के पुरुषार्थ के योग्य न हो तब भी उत्तम संयोगों के पाने का पात्र होता हुआ परम्परा से मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। मोक्ष की सम्पदा अनुपम है। वह आत्मिक है, पराधीन नहीं है। वह आत्मा ही अनन्त ज्ञान, सुख वीर्य आदि है। इस मुक्तिकी सम्पत्तिको इन्द्र, चक्रवर्ती व नारायण आदि भी नहीं पासकते हैं। वास्तव में आत्मज्ञानी ही आत्मध्यानी ही ऐसे सुख के अधिकारी हैं। जो शरीर के दास हैं वेही संसार के दास हैं, वेही अनन्तकाल भ्रमण करने वाले हैं। इसलिए ज्ञानी जीव को इस क्षणिक

शरीर में मोह न करके नित्य निरंजन निजात्मा में ही प्रेम बढ़ाना उचित है।

संसार से विरक्त पुरुष अगर संसार से अलग होना चाहता है तो वह पहले क्या करे इस बातको बता देते हैं:—

जो जीव मुनि होना चाहता है, वह पहले ही अपने कुटुम्बके लोगों से पूछकर अपनेको उनसे छुड़ावे। छुड़ाने की रीति इस तरह है—भो इस जन्मके शरीर के भाई बन्धुओ! इस जन का (मेरा) आत्मा तुम्हारा नहीं है, ऐसा तुम निश्चय करके समझो। इसलिये तुम से पूछता हूँ, कि यह मेरी आत्मा में ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है, इस कारण अपना आत्मस्वरूप ही अनादि भाई बन्धु को प्राप्त होता है।

अहो इस जन के माता पिताओ! इस जन का आत्मा तुमने उत्पन्न नहीं किया, यह तुम निश्चय से समझो, इसलिये तुम इस मेरे आत्मा के विषय में ममता भाव छोड़ो। यह आत्मा ज्ञान ज्योति से प्रगट हुआ है, सो अपने आत्मस्वरूप ही माता पिता को प्राप्त होता है।

हे इस जन के शरीर का मन हरने वाली स्त्री! तू इस जन के आत्मा को नहीं रमण कराती, (प्रसन्न नहीं करती) यह निश्चय से जान। इस कारण इस आत्मा से ममत्व भाव छोड़दे। यह आत्मा ज्ञान-ज्योति से प्रगट हुआ है, इसलिये अपनी अनुभूति रूप स्त्री के साथ रमण-स्वभावी है।

हे इस जन के शरीर का पुत्र ! तू इस जन के आत्मा से नहीं उत्पन्न हुआ, यह निश्चय से समझ। इस कारण इसमें ममता भाव छोड़, यह आत्मा ज्ञान-ज्योति से प्रगट हुआ है, इसलिये अपने आत्मा का यह आत्मा ही अनादि पुत्र है और वह उसको प्राप्त होता है।

इस प्रकार माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि कुटुम्ब से अपना पीछा छुड़ावे अथवा जो कोई जीव मुनि होना चाहता है वह तो सब तरह कुटुम्ब से विरक्त ही है, उसको कुटुम्ब से पूछने का कुछ कार्य ही नहीं रहा, परन्तु यदि कुटुम्ब से विरक्त होवे और जब कुछ कहना पड़े तब वैराग्य के कारण कुटुम्ब के समझाने को इस तरह के वचन निकलते हैं।

यहां पर ऐसा नहीं समझना कि जो विरक्त होवे वह कुटुम्ब को राजी करके ही होवे। कुटुम्ब यदि किसी तरह राजी न होवे तब कुटुम्ब के भरोसे रहने से विरक्त कभी हो ही नहीं सकता। इस कारण कुटुम्ब के पूछने का नियम नहीं है। जो कभी किसी जीवको मुनि-दशा धारण के समय कुछ कहना ही होवे, तो पूर्वोक्त प्रकार उपदेश रूप वचन निकलते हैं।

इस तरह के वैराग्य रूप वचनों को सुनकर जो निकट-संसारी जीव कुटुम्ब में हों वे भी विरक्त हो सकते हैं। तथा इसके बाद सम्यग्दृष्टी जीव अपने स्वरूप को देखता है, जानता है, अनुभव

करता है, अन्य समस्त व्यवहार भावों से अपने को भिन्न मानता है, पर भाव रूप सभी शुभाशुभ क्रियाओं को हेयरूप जानता है तथा अंगीकार नहीं करता; लेकिन वही सम्यग्दृष्टी जीव पूर्व बंधे हुये कर्मों के उदय से अनेक प्रकार के विभाव (विकार) भावों स्वरूप परिणमता है, तो भी उन भावों से विरक्त है। वह यह जानता है कि जब तक इस अशुद्ध परिणति की स्थिति है तब तक यह अवश्य रहती है। इस कारण आकुलता रूप भावों को भी नहीं प्राप्त होता है। यह सम्यग्दृष्टी जीव तो सकल द्रव्य भाव रूप विभाव भावों का तभी त्याग कर चुका, जब इसके स्व पर विवेक रूप भेद विज्ञान प्रगट हुआ था और तभी टंकोत्कीर्ण निजभाव भी अंगीकार किये। इसलिये सम्यग्दृष्टी को न तो कुछ त्यागने को रहा है और न स्वीकार करने को ही है परन्तु वही सम्यग्दृष्टी जीव चारित्र मोह के उदय से शुभ भावों रूप परिणमन करता है, उस परिणमन की अपेक्षा त्यागता है और निवृत्ति अंगीकार करता है।

यही कथन दिखलाते हैं—प्रथम ही गुण स्थानों की परिपाटी के क्रम से अशुभ परिणति की हानि होती है, उसके बाद धीरे २ शुभ परिणति भी छूटती जाती है। इस कारण पहले तो वह गृहवास कुटुम्ब का त्यागी होता है, पीछे शुभ राग के उदय से व्यवहार रत्नत्रय रूप पंचाचारों को अंगीकार करता है। यद्यपि ज्ञानभाव से समस्त शुभाशुभ क्रियाओं का त्यागी है,

परन्तु शुभ राग के उदय से ही पंचाचारों को ग्रहण करता है। उसकी रीति बतलाते हैं—

हे काल, विनय, उपाधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यञ्जन, तदुभय रूप आठ प्रकार का ज्ञानाचार ! मैं तुमको जानता हूँ कि तू शुद्धात्म स्वरूप का निश्चय करके स्वभाव नहीं है, तो भी मैं तब तक अंगीकार करता हूँ, जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को प्राप्त हो जाऊं।

इस प्रकार जो भव्य ज्ञानी जीव अपने आत्मा के अंदर विचार करते हुए शत्रु मित्र काँच कंचन महल, मशान निंदा स्तुति इत्यादि में एक समान दृष्टि रखता है और अपने आत्म-स्वरूप में रहता है वही मनुष्य इस संसार में धन्य गिना जाता है और अन्य कौन उसके समान सुखी है ? अर्थात और कोई नहीं है ॥१४॥

ग्रंथकार अगले श्लोक में यह कहते हैं कि जब तक अज्ञानी मानव प्राणीका शरीर पर मोह रहता है तब तक यह आत्मा कर्म रूपी यमराज के हाथका पक्षी है—

मैंय्योळगेन्नेगं ममतेयुं टवनन्नेगमुग्रकालना।
कैंय्योळगिर्द पक्कि विषयंगळ मेच्चिदवं विषाग्नियोळ् ॥
चुय्पने वेंदवं बहुकषायमनोत्ति कळञ्चदातन-
य्यय्यो ! मुळुंगिदं नरकदोळ्फलवेनपराजितेश्वरा ! ॥१५

अपराजितेश्वर ! जब तक शरीर में ममत्वभाव है तब तक आत्मा क्रूर यमराजके हाथमें रहनेवाले पक्षीके समान है। भोगोपभोग विषयोंमें रत हुआ यह संसारी आत्मा उन विषयरूपी विषाग्नि में जला हुआ है और तीव्र क्रोधादि कषायों को तप और शांतिके द्वारा दूर करने का प्रयत्न न करते हुए, यह आत्मा, ओह ! नरकमें डूब गया है। ऐसे मनुष्य भव प्राप्त करने का क्या प्रयोजन ?

15. Aparajiteshwar ! Till there is any attachment in the soul with the body, it is a bird in the hands of the Death. This mundane soul absorbed in the Sense-objects is burning in the fire of sensuality, taking no effort on its part to pacify the passions of anger etc through the (water of) penances, alas ! it has submerged itself into the Hell. What is ihe use of attaining human life (for him) ?

विवेचनः—ग्रन्थकारने इस श्लोकमें यह बताया है कि हे संसारी जीवात्मन् ! जब तक तेरा मोह इस शरीर पर है तब तक तू यमराज के अपने हाथ में रखे हुए पक्षीके समान अर्थात् इस कर्म तथा शरीर रूपी यमराज के हाथ के पक्षीके समान है अतः तुम्हें दुःख भोगना ही पड़ेगा। जब तक यह जीवात्मा विषय भोगोंमें रत है और उस विषयरूपी अग्निमें निशिवासर जलता हुआ ऐसा दुःख पाता है कि जैसे तपी हुई तैलकी कड़ाही में पड़ी हुई मछली तड़फड़ाती हुई भुनकर

उसी में मर जाती है उसी तरह विषयासक्त जीव विषयरूपी अग्नि से तपी हुई कड़ाही में पड़कर भुन जाता है और अंतमें महान् डूब जाता है। अगर तू क्रोधादि कषायों से दूर होता और विषय-नरकरूपी कुंडमें पड़कर वासनाओं को कम करके अपने निजात्म स्वरूपमें रमण करने की चेष्टा करता तो इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ता ? ओ हो ! विषय वासना में लिपटा हुआ तथा फँसा हुआ यह संसारी जीवात्मा नरक में डूब गया, परन्तु उसको ऐसा उत्तम नर जन्म प्राप्त करने से क्या प्रयोजन ? शरीर का मोह ही संकट का कारण है:—

यहां एक मदालसा नामकी रानी अपने पुत्र को जो छ महीने का उसकी गोद में रोने लगा तब पुत्र को संबोधन देकर समझाती है कि:—

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम।
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव ॥
पंचात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति।
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ॥

हे तात ! तू तो शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पांच भूतों का पिंड है तथा विनाशवान है, न यह तेरा है, न तू इसका है। फिर किसलिये रोरहा है ?

नवा भवान् रोदिति वै स्वजन्मा
शब्दोऽयमासाद्य महीशसूनुम् ॥
विकल्प्यमाना विविधा गुणास्ते-
ऽ गुणाश्च भौताः सकलेंद्रियेषु ॥

अथवा तू रोता है यह शब्द तो राजकुमार के पास पहुँचकर अपने आप ही प्रकट होता है यह जड़ तथा पुद्गलमय है। तेरी संपूर्ण इन्द्रियों में जो भांति-भांति के गुण-अवगुणों की कल्पना होती है, वह भी शुभाशुभ कर्म का निमित्त है।

भूतानि भूतैः परिदुर्बलानि-
वृद्धिं समायान्ति यथेह पुंसः।
अन्नांबुदानादिभिरेव कस्य
न तेऽस्ति वृद्धिर्न च तेऽस्ति हानिः ॥

जैसे इस जगत में अत्यन्त दुर्बल भूत अन्य भूतों के सहयोग से वृद्धिको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अन्न और जल आदि भौतिक पदार्थों को देने से पुरुष के पंच भौतिक शरीर की ही पुष्टि होती है। इससे तेरे शुद्ध आत्मा की न तो वृद्धि होती है और न हानि ही होती है।

एवं कंचुके शीर्यमाणे निजेऽस्मि—
स्तमिंश्च देहे मूढतां मा व्रजेथाः।

शुभाशुभैः कर्मभिर्देहमेत—
न्मदादिमूढैः कंचुकस्ते पिनद्धः ॥

तू अपने इस चोले तथा देहरूपी चोले के जीर्ण शीर्ण होने पर मोह न करना। शुभाशुभ कर्मों के अनुसार यह देह प्राप्त हुआ है। तेरा यह चोला मद आदि से बंधा हुआ है। (तू तो सर्वथा इससे मुक्त है)।

तातेति किंचित् तनयेति किंचि—
दम्बेति किंचिद्दयिते तिकिंचित् ॥
ममेति किंचिन्न ममेति किंचित्।
त्वं भूतसङ्गं बहुमानयेथाः ॥

कोई जीव पिता के रूप में प्रसिद्ध है, कोई पुत्र कहलाता है, किसी को माता और किसी को प्यारी स्त्री कहते हैं; कोई 'यह मेरा है, कहकर अपनाया जाता है और कोई, मेरा नहीं है, इस भाव से पराया माना जाता है। इस प्रकार ये भूत समुदाय के ही नाना रूप हैं, ऐसा तुझे मानना चाहिये।

दुःखानि दुःखोपगमाय भोगान्
सुखाय जानाति विमूढचेताः।
तान्येव दुःखानि पुनः सुखानि
जानाति विद्वानविमूढचेताः ॥

यद्यपि समस्त भोग दुःख रूप हैं; तथापि मूढ़चित्त मानव उन्हें दुःख दूर करनेवाला तथा सुख की प्राप्ति करानेवाला समझता है, किन्तु जो विद्वान् हैं, जिनका चित्त मोह से आच्छन्न नहीं हुआ है, वे उन भोग जनित सुखों को भी दुःख ही मानते हैं।

हासोऽस्थि संदर्शनमक्षियुग्म-
　　मत्युज्ज्वलं यत्कलुषं वसायाः ।
कुचादिपीनं पिशितं घनं तत् ।
　　स्थानं रतेः किं नरकं न योषित् ॥

स्त्रियों की हंसी क्या है, हड्डियों का प्रदर्शन। जिसे हम अत्यन्त सुन्दर नेत्र कहते हैं, वह मज्जा की कलुषता है और मोटे मोटे कुच आदि घने मांस की ग्रंथियां हैं, अतः पुरुष जिस पर अनुराग करता है, वह युवती स्त्री क्या नरक की जीती-जागती मूर्ति नहीं है?

इसलिये हे जीवात्मन्! क्यों तू शरीरादि पर वस्तुके नाशपर अपने को वेदना मानता है, रोता है और आर्त्त रौद्र परिणाम को प्राप्त होता है, तथा कर्म बंध करके संसार में वारवार भ्रमण करता है। इसलिये हे जीवात्मन्! अगर तुझको सच्चा हित करना है तो इन शरीरादि के साथ मोहको त्याग कर देना ही सुखकर है। पद्मनंदी आचार्य ने भी कहा है;—

वपुरादिपरित्यक्ते मज्जत्यानंद सागरे मनसि ।
　　प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योतिः ॥३॥

जब मनका मोह शरीरादि से छूट जाता है और यह मन आनंदसागर में डूब जाता है तब मनमें जो कुछ प्रतिभास होता है वही एक परम चैतन्यमय ज्योति है वह जयवंत रहो। तत्त्वभावना में भी यही बताया है कि—

ये भावाः परिवर्धिता विदधते कायोपकारं पुन-
स्ते संसारपयोधिमज्जनपरा जीवापकारं सदा ॥
जीवानुग्रहकारिणो विदधते कायापकारं पुन-
र्निश्चित्येति विमुच्यतेऽनघधिया कायोपकारि त्रिधा ४४।

यहां पर यह बताया है कि शरीर का दासपना करोगे तो बुरा होगा और जो आत्मा का हित करोगे तो शरीर का दासपना छूटेगा। वास्तव में जो मानव, स्त्री, पुत्र अनादि संपदा में मोही हो जाते हैं अथवा अपनी आत्मा के भीतर कर्मों के उदय से पैदा होने वाले रागादि भावों में तन्मय रहते हैं वे मोही जीव रातदिन अनादि सामग्री के एकत्र करने में, रक्षण करने में व विषय भोगों में लगे रहते हैं। इन कामों से शरीर की रातदिन नौकरी करते । उसको बड़े अराम से रखते है। वे किंचित् भी कष्ट सहकर ने आत्मा के हित की तरफ ध्यान नहीं देते हैं। उनसे न जप , न तप होता है, न व्रत पाला जाता है, न भगवान की न पूजा स्वाध्याय करते हैं, न उनको पात्रों को दान देने का भाव होता है या देने का कष्ट उठाते हैं, न वे सामायिक करते न संयम पालते न शुद्ध भोजन करते है। वे हिंसादि पापों को स्वच्छं

वृत्तिसे करते हुए व तीव्र विषय वासना में लिप्त होते हुए ऐसे पाप कर्मोंको बांध लेते हैं कि जिनसे इस आत्मा को दुर्गति में जाकर घोर संकट भुगतना पड़ता है तथा जो बुद्धिमान् इस मानव देह को धर्मसाधन में लगाते, जप, तप शील, संयम पालते, ध्यान स्वाध्याय करते वे अपने आत्मा का सच्चा हित करते हैं उसे सच्चे सुखका भोग कराते उसे मुक्तिके मार्ग पर चलाते हैं। यद्यपि इस तरह वर्तन करते हुए शरीर को क़ाबू में रखना पड़ता हैं तब शरीर अवश्य पहले की अपेक्षा कुछ सूखता है। इतना हो नहीं ये सभी कार्य जो मोक्षमार्ग के साधक हैं वे वास्तव में शरीर के नाशके ही उपाय हैं। इन साधनों से कुछ कालके पीछे शरीर का संबंध बिलकुल भी न रहेगा और यह शरीर ऐसा छूट जायेगा कि फिर इसको यह आत्मा कभी भी ग्रहण नहीं करेगा। ऐसी अवस्था है तब ज्ञानी को यही करना उचित है कि शरीर जो पर-पदार्थ है, उसके पीछे अपना बुरा न कर डाले। उसे शरीर के मोहमें नहीं पड़ना चाहिये, और शरीर का संबंध ही न मिले ऐसा ही उपाय करना चाहिये अर्थात् आत्मा के हित के लिये तप आदि आत्मध्यानको बड़े भावसे करना चाहिये। यही शरीर का उपायोग है।

आगे के श्लोक में ग्रंथकार बताते हैं कि शरीर को शत्रु समझकर उससे आत्मसाधन कर लेना सुखकारक है:—

ननुपगेयेंबुवं व्रतयुतं विषयं विषमेंदुबिट्टुवं ।
बिनुततपश्चि कोपविडिदिर्द कषायके दूरनाद शां—

त्तने सकलात्मरत्तकनिनितुं गुणसंतति गूडि तत्त्व भा–
वनेयोळे वाळ्वने शिवनवंगेणेयारपराजितेश्वरा ! ॥ १६ ॥

अर्थः—अपराजितेश्वर ! इस शरीर को शत्रुके समान समझकर, विषयों को विषरूप समझने वाला व्रतयुक्त तपस्वी श्रेष्ठ तपस्वी है। क्रोधादि कषायोंसे दूर हुआ, शांत स्वभावी, सम्पूर्ण प्राणीमात्र का रक्षक है, वस्तु स्वरूप की भावना में हमेशा जगने वाला ही शुद्धात्मा है, उसके समान अन्य कौन है ? ॥ १६ ॥

Aparajiteshawar ! Tha ascetic is great who considers the body as enemy, and passions as poison. One, away from the passions of anger etc, peaceful in nature, saviour of every creature and awake in absorbing himself, into the meditation is the pure soul. Who is else like him ?

इस श्लोक में ग्रन्थकारने यह बताया है कि इस शरीर को शत्रु के समान समझकर जो इसको वश रखता हुआ व्रत नियमादिकों को धारण करता है तथा विषयों को विष समझ कर उन्हें दूरसे ही त्याग देता है वही श्रेष्ठ व्रती या तपस्वी है। क्रोध से उत्पन्न कषायके द्वारा जब कर्मबन्ध होने की संभावना दिखाई दे तब उससे दूर रहकर जो शांत स्वभाव में स्थिर रहता है वही समस्त प्राणियों की रक्षा व उन पर दया का पात्र बन सकता है। अर्थात् उपर्युक्त प्रशस्त गुणोंसे युक्त होकर जो सर्वदा अपने स्वस्वभाव में स्थिर

रहकर जागरण किया करता है उसके समान ज्ञानी कौन है ? कोई नहीं।

प्रश्नः—व्रती का लक्षण क्या है ?

उत्तरः—जो माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों का त्याग करता है और संसार से विरक्त रहकर अपनी आत्मामें रुचि रखता है तथा संसार के शरीर इन्द्रिय आदिक से जनित सुखाभासों में अरुचि रखता है उसे व्रती कहते हैं।

चारित्र दो प्रकार का होता है,—पहला मुनि-चारित्र व दूसरा गृहस्थ-चारित्र। हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह इन पांचों पापों का सर्वथा त्याग करना महाव्रत या मुनि का चारित्र कहलाता है। यह चारित्र अतिशय निर्मल और श्रेष्ठ होने से शीघ्र ही मोक्ष पद प्राप्त कराने में समर्थ होता है। मुनि पंच महाव्रत, पंच समिति तथा तीन गुप्ति के धारी होते हैं।

यह चारित्र तीनों लोकमें प्रसिद्ध है। मन वचन और कायको अशुभ प्रवृत्तियों से हटाने को मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा काय-गुप्ति कहते हैं।

सूर्योदय होने के बाद दिन में चार या पाँच हाथ जमीन देख-कर चलना ईर्यासमिति कहलाती है। आगमके अनुसार हितमित वचन बोलने को भाषा समिति कहते हैं। आहार सम्बन्धी ४६ दोषों को हटाकर अन्तराय को पालन करके आहार ग्रहण करना

एषणा समिति कहलाती है। पीछी, कमंडलु शास्त्र आदि को देख-भाल कर रखना उठाना आदान निक्षेपण समिति तथा जिस स्थान में जीव जन्तु न हों ऐसे स्थानमें मल-मूत्र त्याग करना व्युत्सर्ग समिति कहलाती है। इस प्रकार ये तेरह तरह के चारित्र हैं।

उत्तम क्षमादि दश धर्म पालना, बाईस परीषह सहन करना, अट्ठाईस मूल गुण धारण करना और ८४००००० (चौरासी लाख) उत्तर गुण भी यथाशक्ति पालना मुनिका चारित्र है। इस प्रकारके मुनिधर्मसे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा इस धर्म की स्तुति पूजा देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि भी करते हैं।

गृहस्थ चारित्र का वर्णनः—

हिंसादि पाँचों पापों का एक देश त्याग करना अणुव्रत है तथा इसे गृहस्थ चारित्र भी कहते हैं। हिंसादि पांचों पापों के त्याग करने की प्रक्रिया इस प्रकार है:—

अष्टमूलगुणः—

सबसे पहले गृहस्थ को सम्यग्दर्शन पूर्वक आठ मूलगुण धारण करना चाहिये। इसमें मद्य, मांस मधु तथा पांच प्रकार के उदम्बर फलों को त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि विना इनके त्याग किये गृहस्थ को श्रावक नहीं कहा जा सकता तथा उसके विना धारण किये उत्तर गुण धारण करने की योग्यता नहीं आ सकती। ये उपर्युक्त आठ मूलगुण गृहस्थ धर्मरूपी घर के मूल (जड़) है।

जिस वंश या घर में मद्य मांस तथा मधु को खाना तो दूर रहा, पर किसी ने स्वप्न में स्पर्श तक नहीं किया हो, वह वंश घर तथा मनुष्य तीनों लोक में परम पवित्र रहता है और मद्य मांस को खानेवाला मनुष्य इस लोक में कष्ट प्राप्त करके अन्तमें दुःसह नरक में पड़कर चिरकाल पर्यन्त दुःख उठाता है। इसी प्रकार पांच उदम्बर फलों को खाने वाले भी मनुष्य निश्चय से हिंसा के मार्ग हैं क्योंकि इनके सेवक से हिंसा होकर विशेष राग भाव रूप पाप लगता है। इसलिये उपर्युक्त तीनों मकार और पांच उदम्बर फलों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये। ये वस्तुयें मनुष्य के लिये सर्वथा हेय हैं। वहुत से लोग मधु को पवित्र मानकर उसका सेवन करते हैं, परन्तु मधु (शहद) असंख्य जंतुओं के घात से उत्पन्न होता है। मधु मक्खियों के छत्ते को तोड़ते ही उसकी पोल में भरे हुये सूक्ष्म जीवों का घात तत्काल ही हो जाता है और उसके स्पर्श मात्र करने से भी सात गांवों को जलाने के बरावर पाप लगता है। अतएव धर्मात्मा दयालु पुरुषों को शहद का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

चमड़े के वर्तन में रक्खे हुये पदार्थों को भी नहीं खाना पीना चाहिये:—जिन्होंने, मद्य मांस का त्याग किया है उनको उस व्रत की शुद्धि के लिये चमड़े के वर्तन में रक्खे गये घी, तेल, पानी, हींग इत्यादि पदार्थों को त्याग देना चाहिये। क्योंकि इनका सेवन करने से त्याग में अतिचार लगता है। कहा भी है कि:—

शौचाय कर्मणे नेष्टं कथं स्नानादि हेतवे ।
चर्मवारिपिबन्नेष व्रती न जिनशासने ॥२॥
घियतेल्लहिंगुसलिलं चम्मगयं वयजुदाण णहुजुत्तं ।
सुहुमतसुप्पत्ति जदो मसंवरा दूसणं जादो ॥३॥

चमड़े के पात्र में रक्खा हुआ पानी, शौच यानी टट्टी पेशाव के काम में भी नही लाना चाहिये, तो फिर उसे पीने, कपड़ा धोने तथा स्नान करने के उपयोग में कैसे लाया जा सकता है ? चमड़े के वर्तन में रक्खे हुये पानी को पीने तथा पदार्थों को खाने वाले को जैनी नहीं कह सकते । क्योंकि इन वस्तुओं में चमड़े के संसर्ग से सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है और इसीलिये इनके खाने पीने से मांस भक्षण का अतिचार लगता है । इसलिये दयालु जैनी श्रावकों को ऐसी वस्तु दूर से ही त्याग देनी चाहिये । और भी कहा है कि:—

चर्मस्थमंभः स्नेहश्च हिंगुसंहृतचर्म च ।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नंदोपःस्यादमिषव्रते ॥८४॥

इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार ऊपर चर्मपात्र की वस्तु निषिद्ध मानी गई है उसी प्रकार सड़ा हुआ विगड़ा हुआ तथा दूर से लाया हुआ पदार्थ भी यदि खाया पीया जाय तो मांस त्याग किये हुये व्रत में अतिचार लगता है । इसलिये बुद्धिमान् व्रती श्रावकों को उसका त्याग कर देना चाहिये ।

सप्तव्यसन का त्यागः—

द्यूत (जुंआ) मांस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी तथा परस्त्री सेवन ये सात व्यसन कहलाते हैं। इन सप्तव्यसनों का सेवन करने से महान् दुःख उठाना पड़ता है। देखो रावण जैसे विद्वान् एवं पराक्रमी को इसके सेवन से अपना तन धन नष्ट करके अनन्त काल तक अपयश उठाना पड़ा। इसलिये जिन्होंने पूर्णरूप से इन सप्तव्यसनों का त्याग किया है वे लोग प्रामाणिक गिने जाते हैं। अतः बुद्धिमान मनुष्य को सप्तव्यसनों को महा पातक समझकर पूर्णरूप से त्याग कर देना चाहिये।

अहिंसा व्रतः—

पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत ये बारह व्रत श्रावकों के लिये कहे गये हैं। धर्मात्मा श्रावकों को त्रस जीवों तथा संकल्पी हिंसा को सर्वदा के लिये त्याग देना चाहिये। मन में मारने या प्राण हरण करने की भावना निश्चित करके जो प्राण-घात किया जाता है उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। ऐसी हिंसा किसी गृहस्थ को कभी नहीं करनी चाहिये और खेती वारी लड़ाई तथा और आकस्मिक हिंसा जो गृहस्थाश्रम में रहते हुये अनायास अर्थात् बिना करने की भावना से ही हो जाती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। इस हिंसा को गृहस्थ त्याग नहीं सकता, क्योंकि उसे प्रतिदिन आरंभ आरम्भ करने पड़ते हैं। परन्तु इनमें से

संकल्पी हिंसा गृहस्थ को मन वचन काय से सर्वथा त्याग देना चाहिये, क्योंकि बिना इसके त्याग किये वह अणुव्रती नहीं हो सकता। देवता मंत्र तंत्र सिद्धि के लिये जो हिंसा की जाती है उसे एक दम त्याग देना चाहिये।

सत्याणुव्रतः—

सत्यवादी धर्मात्मा श्रावक स्थूल असत्य वचन नहीं बोलते हैं। उनका यह दूसरा सत्याणुव्रत है। श्रावकों को सदा सत्य तथा हितमित वचन बोलना चाहिये। जिस वाणी के बोलने से दूसरे को अच्छा लगे ऐसा मधुर वचन बोलना चाहिये; क्योंकि अमृत के समान मधुर वचन बोलने से तीनों लोक में निर्मल कीर्ति की वृद्धि तथा उत्कृष्ट लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। सत्य भाषण करने से अग्नि शीतल हो जाती है, समुद्र जमीन के समान हो जाता है तथा हजारों विघ्न बाधायें स्वयं नष्ट हो जाती हैं। इसलिये प्रत्येक प्राणियों को सदा सत्य बोलना चाहिये।

अचौर्याणुव्रतः—

रक्खी हुई, गिरी हुई, भूली हुई तथा रास्ते में पड़ी हुई किसी की वस्तु या द्रव्य बिना उसके दिये स्वयं उठाना चोरी कहलाता है तथा इसको त्याग करना अचौर्यव्रत कहा जाता है। चोरी करना पाप को बढ़ाने वाला होता है इसलिये सत्पुरुषों को उसका त्याग कर देना चाहिये। चोरी का त्याग करने से क्या क्या प्राप्त होता है? सो नीचे लिखा जाता है:—

स्तेयं पापशतप्रदं धनहरं लज्जाकरं दुष्करं ।
कीर्तिस्फीतिहरं कुलक्षयकरं निर्वाणसंपत्करं ।
ये भव्याः परिवर्जयन्ति नितरां संतोषलक्ष्मीरता-
स्ते प्राप्य त्रिदशादिसौख्यमतुलं नित्यं लभंते शिवं ॥१०४

चोरी का त्याग करने वाला मनुष्य, लक्ष्मी का अधिपति बन कर चक्रवर्ती पद प्राप्त कर लेता है। धन, लोगों का बाह्य प्राण है। इसलिये इस द्रव्य का अपहरण करने की भावना कभी नहीं करनी चाहिये। जो लोग दूसरों का द्रव्य हरण करते हैं उन्हें दूसरों का प्राण हरण करने वाला समझना चाहिये। चोरी से अनेक पाप उत्पन्न होते हैं तथा जन्म मरण के दुःख दिन प्रति दिन बढ़ते जाते हैं। इसलिये भव्य जीवों को चोरी का सर्वथा त्याग करके अचौर्य व्रतको धारण करना चाहिये; क्योंकि यह व्रत इस लोक व परलोक के सुख को प्रदान करके अन्त में अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त करा देता है।

परस्त्रीत्याग वर्णनः—

जो सज्जन मन वचन और काय से पर स्त्री को त्याग कर अपनी विवाहिता स्त्री से संतुष्ट रहते हैं वे परस्त्री-त्यागी नामक अणुव्रती कहलाते हैं। परन्तु जो पापी अपनी विवेक बुद्धि पर पानी डालकर पर-स्त्री में आसक्त रहते हैं वे इस लोक और परलोक में निरन्तर दुःख उठाया करते हैं। यदि कदाचित् पर-

स्त्री अपनी इच्छा न होते हुये भी स्वयं पास में आजाय तो सर्पिणी समझकर व्रतधारी पुरुष को दूर से ही त्याग देना चाहिये। क्योंकि अपने धर्म में स्थिर रहने से ही स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार शीलवती कुलीन स्त्रियों को भी चाहिये कि यदि अपना पति रोगी अंधा पंगु अथवा कुरूपवान् हो तो भी उसे छोड़कर यदि कामदेव के समान सुन्दर तथा प्रशस्त गुणों से युक्त पर पुरुष हो तो उसके ऊपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये और यदि कदाचित् दृष्टि पड़ भी जाय तो उसे भाई बन्धुके समान समझना चाहिये; क्योंकि शीलव्रत ही स्त्रियों का सबसे उत्तम अलङ्कार है तथा शीलव्रत के अभाव से यशस्वी संतान उत्पन्न होकर कुल की कीर्ति बढ़ाती है। शीलव्रत को पालने वाला अपनी अभीष्ट लक्ष्मी को प्राप्त करके दोनों लोकों का सुख भोग कर अन्त में मोक्ष पद प्राप्त करके सुखी हो जाता है। इसलिये भव्य ज्ञानी जीवों को, भगवान् जिनेश्वर के द्वारा प्रतिपादित शील व्रत का पालन मन वचन व काय से सदा करते रहना चाहिये।

परिग्रहपरिमाण अणुव्रतः—

दश प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करना श्रावकों का पांचवाँ परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत कहलाता है।

परिग्रहों की मर्यादा किये बिना मनुष्य के हृदय में कभी नहीं संतोष हो सकता और संतोष के बिना तीनों लोकों का राज्य पाने

पर भी कभी नहीं सुख-शांति प्राप्त कर सकता। जिस प्रकार बिना सूर्योदय हुये कमल नहीं खिलता और सूर्यकी किरणें निकलते ही वह विकसित हो जाता है, उसी प्रकार जब तक परिग्रह का परिमाण नहीं किया जायगा तब तक हृदय कमल नहीं खिल सकता और उसके परिमाण कर लेने से आत्मा में संतोष होने के कारण हृदय रूपी कमल विकसित हो जाता है। और उसके बाद मन की शांति बढ़ जाती है। इसलिये आत्म-कल्याण करने वाले भव्य पुरुषोंको, धन-धान्य, दास-दासी, दुकान-मकान तथा रुपये-पैसे आदिक परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिये क्योंकि यह परिग्रह, रत्नत्रय की प्राप्ति कराकर अन्त में स्वर्ग मोक्ष पद प्राप्त कराने में पूर्ण साधक होता है।

रात्रिभोजन त्यागः—

आचार्यों ने जिस प्रकार श्रावकों के लिये पंचाणुव्रत बतलाया है उसी प्रकार रात्रि भोजन त्याग नामक छठा अणुव्रत भी है। रात्रि के समय भोजन करते समय रसोई में बहुत से सूक्ष्म कायिक जीव पतंगादि आकर पड़ जाते हैं और इससे मांस त्यागी को पाप भोगना पड़ता है तथा इसके अतिरिक्त कुछ कीड़े ऐसे भी होते हैं जो कि पेट में आकर बहुत भयंकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। इसलिये धर्मात्मा श्रावक को रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिये। सूर्योदय से दो घड़ी बाद में और सूर्यास्त के दो घड़ी

पहले जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश में श्रद्धा रखने वाले श्रावकों को भोजन ग्रहण करना चाहिये।

पानी छान कर पीनाः—

पानी छानकर पीने से पुण्य बंध होता है, यह बात जगत में प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार और भी कहा है:—

षट् त्रिंशदंगुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतं।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत् ॥१२३॥
अगालितस्य तोयस्य जीवसंख्या न विद्यते।
अगालितं ततो नीरं पिवन्पापपरो भवेत् ॥१२४॥
दृष्टि पूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिवेज्जलम्।
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥१२५॥

पानी छानने का कपड़ा छत्तीस अंगुल लम्बा और चौवीस अंगुल चौड़ा होना चाहिये। तत्पश्चात् उसको दोहरा करके उससे पानी छानना चाहिये। क्योंकि विना छने जल में असंख्यात सूक्ष्म त्रस जीव रहते हैं और ऐसा पानी पीनेवाले मनुष्य हिंसा के भागी होते हैं। श्री मद्भागवत में भी लिखा है कि मार्ग में चलते समय जमीन पर रहने वाले छोटे छोटे जीव हमारे पैर के नीचे पड़कर मर न जांय इसलिये दृष्टि से पवित्र अर्थात् जमीन को देखकर के पैर रखना चाहिये, वस्त्र से पवित्र करके (छान करके)

पानी पीना चाहिये, सत्य से पवित्र करके वचन बोलना चाहिये तथा मन पवित्र करके प्रत्येक के साथ सद् व्यवहार करना चाहिये।

त्याज्य पदार्थः—

कंद मूल, लहसुन, प्याज, आलू, मूली, सूरन कंद आचार, फूल तथा दो मुहूर्त से अधिक समय का निकाला हुआ मक्खन नहीं खाना चाहिये। कहा भी है किः—

अमिससरिसउ भासियउ सो अंधो जो खाइ।
दोह मुहुत्तह उप्परिहिं लोणिउ संमुच्छाइ ॥१२०॥

दो मुहूर्त के पश्चात् मक्खन में अनेक संमूर्च्छंत जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये मांस के समान ऐसे मक्खन खानेवाला मनुष्य को नेत्रहीन ही समझना चाहिये।

मौनव्रतः—

श्रावकों को मौनव्रत धारण करने का भी अभ्यास करना चाहिये। भोजन करते समय, मैथुन करते समय, दंत धावन करते समय, स्नान करते समय, भगवान्की स्तुति करते समय तथा जिन पूजा के समय मौनव्रत धारण करना नितान्त आवश्यक है। कहा भी है कि—

मज्जने मलमूत्रे च भोजने सुरते स्तवे।
मौनं जिनेन्द्रपूजायां कर्तव्यं श्रावकोत्तमः ॥१२१॥

मौनव्रतप्रसादेन भव्यानां शर्मदायिनी ।
सरस्वती समायाति भानुमेव तमश्छिदे ॥१३३॥

स्नान, मलमूत्र, मैथुन, भगवान् की स्तुति पूजादि कार्यों में श्रेष्ठ श्रावकों को मौनव्रत धारण करना चाहिये, क्योंकि इसके प्रभाव से सुखदायक सरस्वती अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये भव्य जीवों के पास सूर्य के प्रकाश के समान स्वयं आती है, मन की एकाग्रता बढ़ती है तथा उभयत्र कल्याण होता है।

भोजन करते समय श्रावकों के टालने योग्य अंतराय—

तथार्द्रचर्म पूयास्थिमद्यमांसमृतांगिनां ।
दर्शने भोजनं त्याज्यं प्रत्याख्यानान्न सेवनात् ॥१३४॥
इत्यादिकं जिनेन्द्रोक्ते धर्मे सद्गृहिणां सदा ।
यत्प्रोक्तं सूरिभिस्तच्च पालनीयं बुधोत्तमैः ॥१३५॥
श्री मज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्ते व्रतादौ सादरः सतां ।
स्वर्गापवर्गयोर्हेतुः संभवेत् परमार्थतः ॥१३६॥

धर्मात्मा श्रावकों को भोजन के समय भोजन की थाली में चमड़े का टुकड़ा, मद्य, मांस, मरे हुये त्रस जीव रुधिर राध आदि यदि दृष्टि गोचर हो जांय तो भोजन का त्याग कर देना

चाहिये। क्योंकि ये सब त्यक्त और त्याज्य पदार्थ हैं। इस प्रकार जिनेश्वर भगवान् के द्वारा जैन धर्म में जो जो नियम प्रतिपादित किये गये हैं उन्हें उत्तम श्रावकों को मन वचन काय पूर्वक नित्य नियमित रूप से पालन करना चाहिये। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुये व्रतादि नियमों को जो गृहस्थ भक्ति व श्रद्धा पूर्वक धारण करते हैं वे नियम से स्वर्ग व मोक्ष पद प्राप्त करते है व्रत धारण करने से समस्त मनः कामनाओं की पूर्ति तथा पुण्य की प्राप्ति होती है तथा व्रतधारी मनुष्य उत्तम देव गति की प्राप्ति करके वहां के समस्त सुखों को भोग कर इस कर्म भूमि में आकर उतम कुल में जन्म लेता है तथा अन्य साधनों से जिसके निमित्त से उसको उत्तरोत्तर आत्मोन्नति करने योग्य साधन मिलते रहते हैं उससे अन्त में दुर्लभ मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

गुणव्रतः—

जिस व्रत को धारण करने से अणुव्रत की अधिक निर्मलता होती है उसे गुणव्रत कहते हैं। गुण व्रत धारण करने से हिंसादि पापों की अधिक हानि होती है तथा जैसे जैसे पापों की हानि होती जाती है वैसे वैसे गुण व्रत निर्दोष होकर विकसित होते रहते हैं। क्रोध लोभादिक की कमी तथा आत्मशुद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यह गुणव्रत-दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थ दंड, इस प्रकार तीन तरह का है। इसे ज्ञानी जीवों को श्रद्धा पूर्वक पालन करना चाहिये।

दिग्व्रतः—

दिशा की मर्यादा करना अर्थात् दयावान् श्रावकों को अपना लोभ कषाय कम करने के लिये जितनी भी दिशाओं में आवश्यक कार्य हो उतना परिमाण रखकर शेष सभी दिशाओं की मर्यादा कर लेना दिग्व्रत कहलाता है। ऐसा करने से लोभ को बढ़ाने वाला क्षेत्र कम हो जाता है तथा मर्यादा कर लेने से सूक्ष्म व स्थूल दोनों प्रकार के पापों का बन्ध नहीं होता है। इसलिये श्रावक अधिक हिंसा का पात्र नहीं होता है।

देशव्रतः—

देशव्रत का काल-मर्यादा से या आजन्म का नियम होने के कारण प्रतिदिन उसका उपयोग अधिक लोभ कषाय में नहीं होता है। इसकी मर्यादा के अंदर ही पुनः श्रावक एक दूसरी छोटी सी मर्यादा करके लोभादि विकारों पर प्रतिबन्ध करके पापों का त्याग करता है। इस प्रकार की मर्यादा को देशव्रत कहते हैं। जहां जाने से स्वधर्म में बाधा आती हो तथा जिस स्थान में अपने नियमों के पालन का साधन न होने के कारण शिथिलाचार आता हो ऐसे पाप-प्रदेश में नहीं जानेवाले श्रावक देशव्रती होते हैं।

अनर्थदंडव्रतः—

पापोपदेशनं हिंसा हेतुदानं च दुःश्रुतिः।
दुश्चिंतनं प्रमादस्य चर्यानर्थादिदंडनम्॥ १४० ॥

व्रती श्रावक का मर्यादा किये हुये क्षेत्र में अनावश्यक बोलना, निरर्थक प्रवृत्ति करना या ज़मीन खोदना अनर्थदंड कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं:—

पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, दुर्श्चितन तथा प्रमादचर्या।

१–दूसरे को पाप का उपदेश देकर फँसाना पापोपदेश कहलाता है।

२–विष, शस्त्र, अस्त्र, कुदाली, बेड़ी, अग्नि तथा तलवार आदि हिंसा कारक उपकरण दूसरे को देना हिंसादान कहलाता है।

३–मिथ्या, मान, कषाय तथा कामविकार को बढ़ाने वाले शास्त्रों का अध्ययन दुःश्रुति कहलाता है।

४–द्वेष भाव से शत्रु के नाश होने तथा कामातुर होकर पर-स्त्री से संयोग करने की चिन्ता करना दुर्श्चितन कहलाता है।

५–बिना प्रयोजन के ज़मीन खोदना, अग्नि जलाना, पानी गिराना तथा वृक्ष तोड़ना आदि प्रमादचर्या कहलाती है। अतः इन तीनों गुणों को पालने वाले श्रावकों को उपर्युक्त अनावश्यक कार्य कदापि नहीं करना चाहिये।

चार शिक्षाव्रतः—

सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभाग ये चार प्रकार के शिक्षाव्रत हैं।

सामायिक व्रतः—

सामायिक आरंभ करने के पूर्व प्रत्येक जीवों पर समता भाव रखकर आत्मा के प्रति निवृत्ति मार्ग को बढ़ानेवाले तथा आर्त्त रौद्र ध्यान को त्याग करानेवाले वैराग्य की चिन्ता करते हुये इस प्रकार की भावना करनी चाहिये कि हे भगवन्! मैं मुनि पद धारण करके कब आत्म-ध्यान में प्रवृत्त होऊँगा? तथा सामायिक करते समय सुखासन, पद्मासन, अर्धपद्मासन या खड़े होकर चैत्यभक्ति, पंच गुरु भक्ति तथा बारह भावना का पठन मनन करते रहना चाहिये। व्रती श्रावक को प्रातः मध्याह्न तथा सायंकाल इन तीनों समय में मन की एकाग्रता के साथ सामायिक करना चाहिये।

प्रोषधोपवासः—

कर्म की निर्जरा करने के लिये अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास करके आत्मा के निकट वास करना तथा यह उपवास इस लोक व परलोक के सुख को देनेवाला है ऐसा भावपूर्वक व्रत करना प्रोषधोपवास नामक उत्कृष्ट शिक्षाव्रत कहलाता है। कषाय, विषय और आहार के त्याग का नाम उपवास है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रतः—

भोगोपभोग पदार्थों की मर्यादा कर लेना तीसरा शिक्षाव्रत है। यह अनन्त सुख को प्राप्त करा देनेवाला है। स्त्री, वस्त्र, आभू-

पणादि भोगोपभोग सामग्री का परिमाण करके अर्थात् हम इतनी वस्तु का भोग इतनी वार करेंगे, यह संकल्प करके शेष सभी वस्तुओं को त्याग देने का नियम लेना भोगोपभोगपरिमाण व्रत कहलाता है। जो चीज एक ही वार में सेवन की जासके उसका नाम भोग तथा जिसे वार २ भोगा जा सके वह उपभोग है।

अतिथिसंविभाग व्रतः—

तीन प्रकार के पात्रों को आहार दान, औषधि दान, शास्त्र दान तथा अभय दान देना चौथा शिक्षाव्रत कहलाता है।

रत्नत्रयधारी मुनि को उत्तम पात्र, श्रावकों को मध्यम पात्र तथा सम्यग्दृष्टी गृहस्थ को जघन्य पात्र कहते हैं। भव्य धर्मात्मा श्रावकों को आत्महित की प्राप्ति तथा स्वर्ग मोक्ष पद प्राप्त करनेकी भावना रखकर उपर्युक्त पात्रोंके लिये चार प्रकार का दान अपनी शक्तिके अनुसार सर्वदा देना चाहिये।

पूजाः—

पूजा करना, दान देना श्रावकों का सर्व प्रथम कर्त्तव्य है। इसलिये इसे नित्य नियमित रीति से श्रद्धापूर्वक सदा करना चाहिये।

सूर्योदये पुनः स्नात्वा त्रिधा पावित्र्यसंस्थितः।
पुष्पादिभिः स्वयं देवं समुपासीत सर्वदा ॥ २२१ ॥

(प्रबोधसार)

धर्मात्मा श्रावक को सूर्योदय होने पर स्नान करना चाहिये और पुनः मन, वचन, कायसे शुद्ध होकर पुष्पादि द्रव्यों से प्रति दिन स्वयं भगवान् अरहन्त देव की पूजा करनी चाहिये।

भावार्थ—सूर्योदयसे पहले सामायिक कर लेना चाहिये और फिर सूर्योदय होने के पश्चात् स्नान करके पूजन करना चाहिये।

तीर्थेशासन्निधानेपि प्रतिमा धर्महेतवे।
वैनतेयस्य मुद्रापि विषं हन्ति न संशयः ॥ २२२ ॥
(प्रबोधसार)

यदि उस समय तीर्थंकर परमदेव स्वयं विद्यमान हों तो उनकी पूजा करनी चाहिये और यदि उनका संयोग न हो तो फिर उनकी प्रतिमा का पूजन करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार गरुड़ की मुद्रा भी निःसंदेह विषको दूर कर देती है, उसी प्रकार भगवान् अरहन्त देव की प्रतिमा से भी धर्म ही की वृद्धि होती है।

प्रतिमा पूजन करने के लिये शुद्धता का वर्णन करते हैं:—

मध्यशुद्धिं बहिःशुद्धिं विदध्यात्तदुपासने।
पूर्वा स्यात् स्वान्तनैर्मल्यात् परा स्नानाद्यथाविधि ॥२२३॥
(प्रबोधसार)

भगवान् अरहन्तदेव की पूजा करने के लिये अंतरंग शुद्धि और बहिरंग शुद्धि दोनों प्रकार की शुद्धि कर लेनी चाहिये।

इनमें से मनके बुरे भावों को छोड़कर निर्मल करना अंतरंग शुद्धि और विधिपूर्वक स्नान करना वहिरंग शुद्धि कहलाती है।

कहा भी है किः—

स्नात्वा देवं स्पृशेन्नित्यं ब्रह्मव्रतविलोपने ।
स्नानाद्विना सदारस्य निष्फलो दैवतो विधिः ॥२२४॥
(प्रबोधसार)

गृहस्थों को सदा स्नान करके ही अरहन्तदेव की प्रतिमा का स्पर्श करना चाहिये। इसका कारण यह है कि गृहस्थों का ब्रह्मचर्य अखंड नहीं रहता। स्त्री सहित रहनेवाले गृहस्थों को विना स्नान किये अरहंतदेव की पूजा आराधना करना सब व्यर्थ है।

संयमियों की शुद्धि बतलाते हैं:—

ब्रह्मव्रतोपपन्नस्य सर्वारम्भबहिर्मतेः ।
तोयस्नानं विना शुद्धिर्मन्त्रशुद्धो हि संयमी ॥२२५॥
(प्रबोधसार)

जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत को पालन करते हैं और जिन्होंने समस्त आरंभों का त्याग कर दिया है ऐसे संयमी को विना जल स्नान के भी शुद्धि हो जाती है। क्योंकि संयमी पुरुप सदा मंत्र से शुद्ध ही रहते हैं।

देव पूजन के लिये शुद्धि बतलाते हैं:—

मौंनसंयमसम्पन्नैर्देवोपास्तिर्विधीयताम् ।
दन्तधावनशुद्धास्यैर्धौतवस्त्रपवित्रितैः ॥२२६ ॥
(प्रबोधसार)

शौचादिक से निवृत्त होकर दंतशुद्धि करना चाहिये । दंतशुद्धि करके मुख की शुद्धि कुरलों द्वारा करनी चाहिये । फिर स्नान करके धुले हुये पवित्र वस्त्र पहिन कर मौन व्रत और संयम दोनों को धारण करके भगवान् अरहन्तदेव की पूजा उपासना करनी चाहिये ।

भावार्थः—मुखशुद्धि शरीर की शुद्धि के साथ है। मुखशुद्धि करनेसे किसी व्रत में अंतर नहीं पड़ता; क्योंकि उसमें सिवाय कुल्ला करके मुख को शुद्ध कर लेनेके अतिरिक्त और कोई दूसरा अभिप्राय नहीं रहता । जिस प्रकार शरीर पर पानी डालकर स्नान कर लेने से व्रत का भंग नहीं होता इसी प्रकार व्रती श्रावक को अपनी अंतरंग व वहिरंग दोनों प्रकार की शुद्धि करके देवाधिदेव अरहंत भगवान् की पूजा अभिषेक नित्य-नियमितरूप से करना चाहिये, क्योंकि यह श्रावकों का मुख्य कर्त्तव्य है ।

कहा भी है कि;—

कृत्वा पंचामृतैर्नित्यमभिषेकं जिनेशिनां ।
ये पूजयन्ति भव्यास्ते संपूज्यन्ते सुरादिभिः ॥ १५६ ॥
पूजया सिद्धचक्रस्य भव्यात्मा सत्सुखं भजेत् ।
श्रीपालराजवन्नित्यं जरामरणवर्जितम् ॥ १५७ ॥

तथा देवस्तथा जैनी वाणी सन्मार्गदर्शिनी ।
गुरूणां चरणाम्भोजद्वयं पूज्यं सुखार्थिभिः ॥ १५८ ॥
पूज्यपूजाक्रमेणोच्चैर्भव्यः पूज्यतमो भवेत् ।
तस्माद् भव्यजनैर्नित्यं पूज्यपूज्या न लंघ्यते ॥ १५९ ॥

जो भव्य जीव जिन मन्दिर का जीर्णोद्धार व पाप नाशक जिनेन्द्र देव की प्रतिमा भक्तिके साथ बनवाते हैं या मरम्मत कराते हैं उन्हें सम्यग्दृष्टी समझना चाहिये। जो भगवान् जिनेश्वर का सदा पंचामृताभिषेक द्वारा पूजा करते हैं वे भव्य जीव इन्द्रादिक देवताओं के द्वारा पूजनीय होते हैं तथा जो लोग सिद्धचक्र की पूजा श्रद्धा के साथ करते हैं वे उत्तम सुख को प्राप्त करके अन्त में जरा-मरण से रहित हो जाते हैं। अर्थात् सिद्धचक्र की पूजा के प्रसाद से अन्त में मोक्ष रूपी लक्ष्मी, पूजा करने वालों के गले में मुक्ताफल रूपी माला पहनाती है।

जिस प्रकार अर्हन्त भगवान् भव्य जीवों को सच्चा मार्ग बतलाते हैं, उसी प्रकार उनकी वाणी द्वारा कहे हुये शास्त्र और श्री गुरु के चरण कमल भी वही सच्चा मार्ग दिखलाते हैं। इस-लिये सुख की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को भक्ति पूर्वक सदा सर्वदा देव गुरु व शास्त्र की पूजा करनी चाहिये। क्योंकि इस प्रकार की पूजा करने वाले भव्यजीव भगवान् के समान अतिशय को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार भगवान् जिनेश्वर के द्वारा बताये हुये व्यवहार मार्ग का अनुकरण करते हुये सांसारिक बाह्य वस्तुओं से अपने मन को हटाकर क्रोधादिक राग भाव को उत्पन्न करने वाले लोभ कषाय को कम करना चाहिये। क्योंकि ऐसा अभ्यास करने से आत्मा के अन्दर एक अलौकिक शान्ति उत्पन्न होती है, शान्ति उत्पन्न होने से आत्म स्वरूप में रुचि हो जाती है, और तब रागादि को उत्पन्न करने वाले पर पदार्थ से ममत्व बुद्धि क्रमशः हटकर प्राणी मात्र पर दया का भाव उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार अनेक गुणोंसे युक्त होने पर आत्म स्वभावमें रुचि उत्पन्न हो जाती है और जैसे २ रुचि उत्पन्न होती जाती है वैसे २ शरीर से मोह कम होता जाता है। इस प्रकार भव्य जीव की सांसारिक वासना घट जाने से शुद्धात्मा में रुचि बढ़ जाती है और अंतमें सल्लेखना के साथ शरीर त्याग कर वह शुभ गति को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार क्रम से अभ्यास पूर्वक शुद्धात्मा में रत होनेवाले भव्यात्मा के समान और दूसरा कौन है ?

उंबुनितर्कं कोट्टु पगेयोळ् पलवुं तेरदिंदे सेवेयं ।
कोंब विवेकियन्ते विरसात्समने तनुविंगे लोकेयिं ॥
तुंबि जपं तपं परमशास्त्ररहस्यदोळात्मकार्यसं ।
चेंबिडदावगं नेगळ् वंगेणेयारपराजितेश्वरा ! ॥ १७ ॥

अपराजितेश्वर! शत्रु को प्रयोजन के अनुसार भोजन देकर अनेक रीति से सेवा लेने वाले विवेकी के समान, अपने शरीर को प्रयोजन के अनुसार नीरस भोजन देकर, इस शरीर के द्वारा श्रेष्ठ आत्म कल्याण करने योग्य जप, तप, तथा शास्त्र के रहस्य में हमेशा मन लगा कर करने वाले भव्यात्मा जीव के समान अन्य कौन होंगे। अर्थात् नहीं हैं॥ १७॥

17. Aparajites'iwar ! Who else would be equal to that Promising soul (Jiva) who gives tasteless food to the body, as to a enemy and takes from it the noble service of spiritual salvation by performing penances and studying the mystics of scriptures ?

विवेचनः—

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि जिस प्रकार घर में रक्खे हुये नौकर को रूखा-सूखा भोजन देकर बिना विश्रांति दिये हुये उससे काम लेते हैं तथा थोड़ी देर के लिये भी यदि वह विश्रान्ति करने लग जाता है तो उसे नींद से जगाकर डांट फटकार कर पुनः काम पर लगा देते हैं उसी प्रकार इस शरीर रूपी नौकर को रूखा-सूखा हितमित शुद्ध आहार देकर इसे ध्यान अध्ययन यम नियम जप तप तथा स्वाध्याय आदिक आत्म-साधन कार्य में लगाकर अन्त में मोक्ष रूपी फल प्राप्त कर लेना बुद्धिमान् ज्ञानी जीव का परम कर्तव्य है।

जिस प्रकार चतुर मनुष्य अपने घर में रक्खे हुये नौकर को खाने-पीने का सामान देकर, समझा बुझा कर तथा किसी न किसी तरह से उसके पीछे पड़कर अपना काम थोड़े ही समय में कई गुना अधिक कराकर सदा के लिये निश्चिन्त होकर सुखी हो जाता है, उसी प्रकार हे संसारी प्राणी ! तुम भी इस शरीर रूपी नौकर से समझा बुझाकर धर्म ध्यान पूर्वक आत्म-साधन करके सदा सुख देने वाले स्वर्ग व मोक्ष पद प्राप्त कर लो, क्योंकि इस नर रत्न के समाप्त हो जाने पर पुनः आत्म-साधन करना बड़ा कठिन है।

अभी तक तुम इस दुष्ट शरीर के मोह में पड़कर इसको सुखी बनाने के निमित्त से व्रत, नियम दान पूजा परोपकार तथा सत्संग आदि धार्मिक कार्य न करके इसके विपरीत अधर्मादि करते रहे; किन्तु तुम्हें दुःख के अतिरिक्त लेश मात्र भी सुख न मिल सका और तुम जैसे मुट्ठी बांधकर आये थे वैसे ही हाथ फैला कर संसार की जीवन यात्रा समाप्त करके चारों गतियों का चक्कर लगाते रहे। सौभाग्यवश तुम्हें चिंतामणि के समान मनुष्य रत्न मिल गया; परन्तु प्रमादवश उसको हथेली में रखकर खेल खेलते हुये तुमने अगाध संसार सागर में गिरा दिया यह कितने आश्चर्य की की बात है।

जब तुम्हारे हाथ में अमूल्य मनुष्यरूपी रत्न था तब तो तुमने कुछ नहीं किया, किन्तु उसके नष्ट हो जाने पर व्यर्थ में पश्चात्ताप

करने से क्या हो सकता है ? इनके विषय में शुभचंद्राचार्य अपनी वैराग्यमाला में कहते हैं कि:—

सुप्पह भणइ रे धम्मियहु खसहु भणियाणि ।
जे सूणमि धवल हरि ते अंघव मसाण ॥

हे धर्म प्रेमी धार्मिक सज्जनो ! उत्तम क्षमादिक दश धर्मोंसे अपनी प्रवृत्ति को कभी भी चलायमान न करो । मरण पर्यन्त इन धर्मों से अपनी समस्त प्रकार की प्रवृत्ति को संयुक्त रक्खो और संसार से निवृत्ति प्राप्त करो । न मालूम यह शरीर कब छूट जाय; क्योंकि प्रातःकाल जिस प्राणी को स्वस्थ देखते हैं उसी को सायंकाल श्मशान में जलता हुआ और उसके कुटुम्बियों द्वारा जलाया जाता हुआ देखा जाता है । इसलिये सदैव धर्म का पालन करो ।

सुप्पह भणइ मा परिहरहु पर उपकारंतु ।
सीस सूर दुहु अंथवणि अण्णह कवणाथिरंतु ॥

श्री सुप्रभाचार्य कहते हैं कि हे भव्य ! तू परोपकार करना मत छोड़ो । समस्त जीवन पर्यन्त ऐसा धर्म करते रहो जिससे किसी प्राणी को कष्ट न हो और सभी का भला हो; क्योंकि इस जीवनका क्या पता जब कि चन्द्रमा और सूर्य भी अस्त होते रहते हैं ।

धनवंता सुप्पह भणिइं धनुदइ विलसिमभूलि ।
अज्जुजिदिसहिं के विणरमुवति स्र महिकलि ॥ ४ ॥

हे धनिक ! त्वया सप्तक्षेत्रेपु धनदानेन जिनधर्मस्या स्वरूपं विस्मृतं परं त्वं जिनधर्मं मा विस्मर। अत्र दृष्टांतमाह ये लोकाः मया अर्धे दिने स्वस्था अवलोकिताः ते लोकाः अपरे दिने मृताः श्रुताः।

हे धनवान ! सात क्षेत्रमें धन दान करो यही कहते हुये तुम जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित धर्मका पालन करना भूल गये। परन्तु यहां पर दृष्टान्त कहते हैं कि मैंने जिनको आधे दिन में भला चंगा देखा था वे लोग दूसरे दिनमें मरे हुये सुनाई दिये।

अह घर करि दाणेण सहु अहतउ करिणि गंथु।
विहचुक्कउ सुप्पउ भणइ रे जीय इत्थण उत्थ ॥५॥

हे जीवात्मन् ! यदि चेत् त्वं गृहवासं करिष्यसि तर्हि दान पूजाद्यैः सह गृहवासं कुरु। यदि गृहे धनं नास्ति तर्हि निर्ग्रंथजिन-दीक्षां धर। यदि त्वं दान पूजाद्यैर्विना गृहे तिष्ठसि; जिनदीक्षां न पालयसि वा निर्ग्रंथाय दीक्षां गृहीत्वा अपि पश्चात् परिग्रहसंगं करोपि तर्हि ऐहिक आमुत्रिकश्च द्वौ हारितौ तेन मूर्ख जीवने स्वजन्म वृथा हारितम्।

हे जीव ! यदि तुम गृहवास करना चाहते हो, तो दान पूजा-दिक धर्म कार्य के साथ गृहवास करो। यदि दान पूजादिक धर्म कार्य संपादन करने के लिये घर में धन न हो तो निर्ग्रंथ जिन दीक्षा धारण करो। किन्तु यदि तुम दान पूजादिक के विना किये

ही घरमें रहते हो, रहकर जिनदीक्षा का पालन नहीं करते हो तथा निर्ग्रंथ जिनदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भी परिग्रह का संग करते हो तो इस लोक व परलोक दोनों गँवाकर तुमने अपना अमूल्य नर रत्न व्यर्थ कर दिया।

सुप्पउ भणइं रे धम्मियहु पडहु में इंदियजाल।
जसुमंगलसुरग्गमे तसु खंकृणउ वियालि ॥ ६ ॥

भो भव्य! इन्द्रिय जालविषये मापत; यतः अत्र संसारे यस्य गृहे सूर्योदये मंगलादिकं भवति तस्यैवगृहे अपराण्हे अकस्मात्, शोकरवा उत्पद्यंते, एतत् सांप्रतं प्रत्यक्षं दृश्यते।

हे भव्य जीवात्मन! तुम इन्द्रियोंके विषयरूपी जाल में मत पड़ो; क्योंकि इस संसार में सूर्योदय होने पर जिसके घर मंगलादिक कार्य होता है उसी के घर अकस्मात् (यकायक) दूसरे समय में शोक प्राप्त हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

इसलिये हे जीव! तू इस शरीर को आवश्यकता के अनुसार अन्न देकर इससे समय समय पर ध्यान, अध्ययन, जप, तप, और श्रेष्ठ शास्त्र का रहस्य इत्यादि आत्म कार्य को बराबर करता जायगा तो तेरे समान इस संसार में और अन्य कौन है?

गुणभद्र आचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है कि:—

उत्पन्नोऽस्यति दोषधातुमलवद् होति कोपादिमान्।
साधिव्याधिरसि प्रहीण चरितोऽस्यऽस्यात्मनो वंचकः ॥

मृत्युव्यात्तमुखांतरोऽसि जरसा ग्रस्तोऽसि जन्मिन् वृथा।
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारि रहितो किं वासि बद्धस्पृहः ५४

अरे जीव तूने अनादि काल से लेकर आजतक सदा ही जन्म मरण करने के कष्ट सहे हैं। अत्यंत अपवित्र तथा दुर्गंध, दुःख-दायक रुधिरादि धातुओं और मूत्र विष्टा आदि मलों से पूरित, तेरा देह है। क्रोध मान माया लोभ आदि दुर्गुणों से तू लिप्त हो रहा है। मानसिक सैकड़ों चिंताओं से तथा वात पित्तादि जन्म शरीर संबंधी रोगों से तू सदा पीड़ित बना रहता है। तेरी प्रवृत्ति सर्व निकृष्ट हो रही है। अपने कर्तव्यों से पराङ मुख होकर आत्मस्वरूप को भूलकर तूने वंचना कर रक्खी है। काल ने मुख फाड़ रक्खा है, उसके बीच में तू पड़ा हुआ है। बूढ़ेपने से तू बचा नहीं है, जिससे कि इंद्रियां शिथिल हो जाती हैं, शक्ति अत्यंत क्षीण हो जाती है, विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है, यौवनका सर्व सौंदर्य विलीन हो जाता है, कमर झुक जाती है, अनेक रोग आकर घेर लेते हैं। भूख घट जाती है, परंतु तृष्णा बढ़ जाती है। तू यह भी याद रख कि यहां तू अनादि नहीं है जिससे कि अपना नाश होना असंभवसा समझ रहा है। किंतु यहां भी कहीं से आकर ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये यहां से भी तुझे जाना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्था में भी तू आत्मकल्याण से पराङ्मुख क्यों हो रहा है? जलदी ही इस शरीर से आगे की साधना करने की योजना सोचना ही तेरे को इष्ट है। इसका भरोसा नहीं है। आज या कल घंटा

मिनिट इत्यादिक में तेरे को छोड़कर चले जायगा, इसलिये जितना बने उतना शीघ्र साधन करले।

अगले श्लोक में इस शरीर से किस तरह काम लेना चाहिये सो बताते हैं।

उंबुदु नीरसं पोरेवुदोंदोडलिपुंदु गूढवासना।
दुंबोलनेळुतत्वमोळवातु सरस्वति योळ्निरंतरं॥
हर्षलघप्रणाश दोळगीक्षणमात्मनोळागि बाळ्व धी।
रं बहूकर्ममं क्षणके खंडिसने अपराजितेश्वरा! ॥१८॥

हे अपराजितेश्वर! इस शरीर को नौकर के समान आज्ञा कारी रखने के लिए सदैव नीरस आहार ही देना, इस शरीर से आत्मसाधनका काम लेना, सात तत्वों के विचार में मनको लगाने सदैव शास्त्र चर्चा, जिनागम में निरंतर रुचि इस प्रकार प्रवृति करने वाले विवेकी के क्षण क्षण में संचित कर्मोंका नाश नहीं होगा. क्या ॥१८॥

O' Aparajiteshwar! To keep this body obedient like a servant, it should be given always tasteless (non appetising food and the work of Soul Devotion should be taken from it. Would not the Karmic aggregate of one, concentrating the mind in Seven Elements, always immersed in the high deliberation of scriptures, having

regular taste in them and keeping eye towards Soul (element) only, destroy at every moment.

जिस प्रकार सौभाग्य से गड़रिया के हाथ में कीमती मणि आ जाने पर भी उसका मूल्य व पहिचान न जानने के कारण वह गड़रिया उसे कंकड़ पत्थर समझकर चिड़िया उड़ाने में फेंक देता है उसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कराकर अनन्त सुख को प्राप्त करानेवाले इस अमूल्य नर रत्न को परम सौभाग्य से प्राप्त करके भी अज्ञानी जीव इससे आत्म-साधन का लाभ न उठाकर क्षणिक इन्द्रिय सुख की वासनाओं की पूर्ति के लिये रात दिन पाप संचय किया करते हैं और अन्त में जन्म मरण के अधीन होकर चारों गतियों में दुःख उठाया करते हैं। अर्थात् उन्हें कभी सुख नहीं मिलता।

विपद्भव पदावर्ते, पदिकेवाति वाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥इष्टो०॥

पैर से चलाये जानेवाले घटी यंत्र को पदावर्त कहते हैं, क्योंकि उसमें वारंवार परिवर्तन होता रहता है। सो जैसे उसमें पैर से दबाई गई लकड़ी या पटली के व्यतीत हो जाने के बाद दूसरी पटलियाँ आ उपस्थित होती हैं, उसी प्रकार संसार रूपी पदावर्त में एक विपत्ति के बाद दूसरी बहुत सी विपत्तियां जीव के सामने आ खड़ी होती हैं। परन्तु ज्ञानी जीव इनके आने पर भी समता भाव

धारण करके अपना आत्म-कल्याण कर लेते हैं और अज्ञानी पर पदार्थों को अपना मानकर चतुर्गतियों में भ्रमण किया करते हैं।

जब तक आत्माराम चतुर्गति रूपी चक्कर में फंसा हुआ है तब तक इसे स्थिर स्थान व सुख शान्ति कभी नहीं मिल सकता।

यदि घूमते हुये इस संसार रूपी चक्र को रोकना चाहते हो तो उसके लिये एक धर्म मात्र ही डाट है। बिना धर्म रूपी डाट लगाने से संसार चक्र कभी नहीं रुक सकता। धर्मोपार्जन करने के लिये शरीर साधन है। कहा भी है:—

"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" धर्म साधन करने के लिये शरीर ही मुख्य कारण है और पाप साधन भी शरीर से ही किया जाता है। परन्तु इसका मुख्य अभिप्राय धर्म साधन करके स्वर्ग मोक्ष को प्राप्त करके शाश्वत सुख का लाभ करना ही है। यह मनुष्य रत्न संसार वृद्धि करने के लिये न होकर संसार सागर को पार करके परम पद प्राप्त करानेवाला है, किन्तु अज्ञानी जीव अमूल्य नर-रत्न को प्राप्त करके भी इसकी कीमत व पहचान न जानने के कारण इससे कोई लाभ न उठाकर सदा दरिद्री रहकर दुख ही उठाया करते हैं। इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक राजा बड़ा धर्मात्मा था; परन्तु उसके पास कोई संतान न थी। संतान के अभाव होने से वह अपना धन खूब धर्म में व्यय करने लगा। अन्त में धर्म के प्रभाव से कुछ समय के

पश्चात् राजा के एक बड़ा होनहार पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। काला-तीत के पश्चात् एक होनहार राजपुत्र को प्राप्त करके राजा को अपार हर्ष हुआ तथा संपूर्ण राज्य में आनन्दोत्सव मनाया गया। राजा ने अनेक याचकों को मुँह माँगा वरदान देकर सदा के लिये अयाचक कर दिया तथा अपने राजकर्मचारियों को भी इस हर्षोपलक्ष में विविध प्रकार का पुरस्कार देकर सबको प्रसन्न कर दिया। सभी कर्मचारियों ने तो पुरस्कार प्राप्त कर लिये; किन्तु मल-मूत्र साफ करने वाला भंगी उस दिन किसी कार्यवश राजदरबार में न आ सकने के कारण पुरस्कार नहीं प्राप्त कर सका। दूसरे दिन जब उसे मंगलोत्सव का शुभ समाचार ज्ञात हुआ तब राजदरबार में जाकर दूर से राजा से प्रार्थना करने लगा कि हे स्वामिन्! हम कल अमुक कार्य से आपके पास नहीं आ सके। अतः आज हमें भी कुछ पुरस्कार देने की कृपा कीजिये। राजा की निगाह बड़ी विलक्षण होती है। यदि उनके मन में कोई विशेष बात आगई तो कभी तो वे अपना राज्य या अक्षय संपत्ति दे डालते हैं और कभी फाँसी पर लटका देते हैं। अतः इस भंगी के प्रार्थना करने पर राजा ने विचार किया कि यह बेचारा बहुत दिनों से हमारा मल मूत्र साफ कर रहा है इसलिये आज इसे कोई ऐसा धन देना चाहिये जिससे कि यह कई पुश्त (पीढ़ी) तक बैठे बैठे अपना निर्वाह कर सके। यह सोचकर उन्होंने भंगी को कई करोड़ रुपये का एक रत्नों का टोकरा दे दिया। भंगी ने लेजाकर उसे अपनी

स्त्री को दे दिया। वे दोनों रत्न को नहीं पहचानते थे, अतः उसकी स्त्री जैसे और टोकरों को समझती थी वैसे उसे भी जान-कर उसी में राजा की टट्टी भरभर कर नित्य प्रति फेंकने लगी। कुछ समय के पश्चात् राजा ने सोचा कि इस भंगी का समाचार पूछना चाहिये; क्योंकि यदि इसने उस रत्न खचित टोकरे में से एक रत्न को भी बेचा होगा, तो इसे करोड़ों रुपये प्राप्त हुये होंगे। अतः राजा ने एक दिन उसे बुलाकर पूछा कि कहो क्या समाचार है ? रत्न का टोकरा तो ठीक है ? भंगीने उत्तर दिया कि महाराज ! और तो आप की कृपा से सब समाचार ठीक है; परन्तु उस दिन आप ने जो टोकरा दिया था वह आज तक प्रति दिन टट्टी भरकर फेंकने के कारण गन्दा हो गया है, यदि कोई दूसरा टोकरा दे दीजिये तो उसमें अच्छी तरह से टट्टी भरकर फेंका जाय। इस बात को सुनते ही राजा आश्चर्य चकित होगये तथा इसकी मूर्खता पर धिक्कार करते हुए कहने लगे कि अरे मूढ़ ! हमने तुम्हें रत्न जड़ित टोकरे को क्या टट्टी भरकर फेंकने के लिये दिया था ? यदि उसके एक रत्न को भी तू बेच डालता तो तुम्हें करोड़ों रुपये मिल जाते और तुम्हारी दरिद्रता सदा के लिये दूर हो जाती; परन्तु उसका मूल्य न जानकर तुमने उसमें पाखाना भर कर गंदा करके फेंक दिया और तुम्हारी दरिद्रता जैसी की तैसी बनी रह गई तो तुम्हारे बराबर दूसरा कौन मूर्ख होगा ?

इसी प्रकार पूर्वजन्म के परम सौभाग्य से जीवको उत्तम मनुष्य

रत्न प्राप्त हुआ। यदि इससे व्रत संयम दान पूजा तत्त्व चिंतन तथा शास्त्र स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य किये जाते तो इस लोक व परलोक में सुखी होकर अन्तमें स्वर्ग व मोक्ष पद प्राप्त कर लेना; किन्तु अज्ञान के कारण इस मनुष्य रत्नसे मोक्ष साधन न करके अनेक पापों को उत्पन्न करनेवाले इन्द्रिय के क्षणिक सुखके लिये वासनारूपी मैलको ही उठाया, यह कितने आश्चर्य की बात है!

इस उत्तम मनुष्य रत्न को पहचान करके शरीर को आवश्यक्तानुसार योग्य भोजनादि देकर उससे समयानुसार जप, तप व संयम का साधन करते हुये कर्म की निर्जरा करके शुद्धात्मा में रत रहनेवाले भव्यात्मा के समान और कौन होगा?

आगे आत्मतत्त्वमें रत भव्यज्ञानी पुरुषको पर-पदार्थ पर दृष्टि नहीं रहती है इसका विवेचन करते हैं।

वन्नोळें तन्न नोळ्प ऋषिगन्यर नोटमदेके चिद्गुणो-
त्पन्नसुधान्नभुण्वमुनिगोळ्ळु णिसेंव विवत्तयेके सि-
द्धं नम एंब वाक्यमिरेवेनुडियेके निजात्मरूपदोळ्।
निन्नोडनाडुवंगुळिद गोष्टिगळेकपराजितेश्वरा! ॥ १६ ॥

हे अपराजितेश्वर! अपने में ही अपने को देखने वाले ऋषि को अन्यत्र दृष्टि डालने से क्या प्रयोजन? आत्माके गुणोंसे उत्पन्न अमृतमय आहार का भोजन करनेवाले मुनिके सांसारिक अच्छे

और रुचिकर भोजन की इच्छा क्यों ? सिद्धाय नमः इस प्रकार वाक्य सदैव अपने मुखमें हो तो अन्य प्रकार की गोष्टी से क्या प्रयोजन ? अपने आत्मरूपमें रत होकर अपने ही साथ वार्तालाप करनेवाले को अन्य सभा से क्या प्रयोजन ? ॥ १९ ॥

19. Aparajiteshwar ! what is the necessity of Looking elsewhere for the saint who looks inside himself (to-wards own soul.); Why should there be any desire of mundane (wordly) good and tasteful food for the saint eating food, brought forth by the virtues of the soul. If there be always at the tounge the words of "Siddhaya Namah", what is the necessity of any company for one, concentrated to-wards and talking only to his own soul.

१९ वाँ विवेचनः—इस श्लोकमें ग्रंथकार ने यह बताया है कि अपनेमें आपको देखनेवाले ऋषि अर्थात् मुनिको अन्यत्र दृष्टि की क्या जरूरत ? आत्मरूपी गुणोंसे उत्पन्न हुआ अमृतरूपी आहार का भोजन करनेवाले मुनिको अच्छे अच्छे पुद्गलमय अन्नकी इच्छा क्यों ? सिद्धः नमः यह शब्द जिस मुनि के मुख में या जीभ में है, उनको अन्य पौद्गलिक शब्द की या बातचीत की क्या जरूरत है ? अपने आत्मस्वरूपमें अपने आत्माके साथ खेलने तथा बात करने वाले को अन्य सभा की क्या जरूरत ? अर्थात् जरूरत नहीं है ।

जिस ज्ञानी ने अपने आत्मरूप का पूर्ण रूपसे अभ्यास किया है और व्यवहारसे वाह्य पदार्थोंसे तथा इन्द्रिय वासनाओंसे अरुचि रखता है और मन हमेशा एकाग्र होकर अपने स्वरूपमें स्थित है, उनके लिये वाह्य भोजनादिक अच्छे २ रुचिकर पदार्थोंमें इच्छा नहीं होती है, तथा वाह्य सांसारिक वातों से या वाह्य सभा तथा व्यर्थ वकवादमें उनको घृणा होती है। और हमेशा वह आत्मानंद खेलमें मस्त रहता है। जैसे किसी दरिद्री मनुष्यको निधि मिलने से उसीमें रत होकर अपने को वार २ धन्यवाद मानता है और जो पहले क्षुद्र मनुष्यं के पास जाकर याचना करता था वह सच्ची निधि मिलनेके कारण अपना खाना-पीना तथा वातावरण विलकुल भूल जाता है। और निधिमें रत होकर जैसे पागल मनुष्य अपने को देखकर आप ही हँसता है, आप अपने में वात करता है, उसी तरह ज्ञानी जीव को जिस समय अपने आत्मस्वरूप की असली पहचान हो जाती है, तव वह अपने में रत हो जाता है और आप अपने में मस्त रहकर अपने आत्माके साथ खेल-कूद वोल-चाल करता है और उनकी जितनी क्रिया होती है वह सभी क्रिया पुण्य या शुभदायक होती है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने अपने ज्ञानार्णवमें भी कहा है कि:—

अलौकिकमहोवृत्तं ज्ञानिनः केन वर्ण्यते।
अज्ञानी वध्यते तत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते॥ ३८ ॥

(ज्ञानार्णव)

अहो ! देखो, ज्ञानी पुरुप का यह वड़ा अलौकिक चरित्र किससे वर्णन किया जाय ? क्योंकि जिस आचरण में अज्ञानी कर्म से वँध जाता है उसी आचरण में ज्ञानी वन्ध से छूट जाता है, यह आश्चर्य की वात है।

देशं राष्ट्रं पुराद्यं स्वधनजनकुलं वर्णपत्तं स्वकीय—
ज्ञातिं संबंधिवर्गं कुलपरिजनकं सोदरं पुत्रजाये ।
देहं हृद्वाग्विभावान् विकृतिगुणविधीन् कारकादीनिभित्त्वा ।
शुद्धं चिद्रूपमेकं सहजगुणनिधिं निर्विभागं स्मरामि ॥३॥

(तत्त्वज्ञान)

देश, राष्ट्र, पुर, गाँव, जनसमुदाय, धन, वन, ब्राह्मण वर्णोंका पक्षपाप, जाति, संवंधी, कुल, परिवार, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, हृदय और वाणी ये सारे पदार्थ विकार के करनेवाले हैं। इनको अपना मानकर स्मरण करने से ही चित्त शुद्ध चिद्रूप की ओर से हट जाता है—चंचल हो उठता है, मैं मैं करता है तथा कारण आदि कारकों के स्वीकार करने से भी चित्तमें चल विचलता उत्पन्न हो जाती है, इसलिये स्वाभाविक गुणोंके भंडार शुद्ध चिद्रूप को ही मैं निर्विभागरूपसे—कर्ता कारण का कुछ भो भेद न कर स्मरण मनन तथा ध्यान करता हूँ।

भावार्थः—चित्तमें किसी प्रकार की चंचलता का न आना, परिणामों का आकुलतामय न होना ही परम सुख है। मैं देखता

हूँ जिस देश, राष्ट्र, पुर, कुल, जाति, परिवार आदि का विचार किया जाता है, उनके रहन-सहन पर ध्यान दिया जाता है तो मेरा चित्त आकुलतामय हो जाता है, रंचमात्र भी परिणामों को शांति नहीं मिलती; परन्तु शुद्ध चिद्रूप के स्मरण करने से चित्तमें किसी प्रकार की खटखट नहीं होती, एकदम शांति का संचार होने लग जाता है। इसलिये जगत के समस्त जंजाल को छोड़कर मैं उस शुद्ध चिद्रूप का ही स्मरण करता हूँ; क्योंकि उसीसे मेरा कल्याण होगा।

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत्।
पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥४॥ (तत्त्वज्ञान)

जिस प्रकार क्लेश (पिपासा) की शांति के लिये जल के ऊपर पूरी काई को अलग कर शीतल सुरस निर्मल जल पिया जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान हैं तथा दुःखों से दूर होना चाहते हैं वे समस्त संसार के विकल्प जालों को छोड़ कर आत्मध्यान रूपी अनुपम स्वच्छ अमृत का पान करते हैं तथा अपने चित्तको द्रव्य आदि की चिन्ता की ओर नहीं झुकने देते।

इसीलिये महान् महान् चक्रवर्ती बलभद्र नारायण तथा तीर्थंकरादिकों ने आत्म स्वरूप सच्चे सुख शान्ति की प्राप्ति के लिये अपने चक्रवर्ती पद भोग तथा वैभव को त्याग कर बाह्य शरीरादिक सुख का ध्यान न करके जंगलमें जाकर घोरातिघोर तपश्चर्या करके

आत्मा में रमण किया। तभी वे अखंड सुख प्राप्त करके मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति बन गये ॥१६॥

आगे यह बतलाते हैं कि बिना परीषह सहन किये आत्म सुख की प्राप्ति नहीं होती।

बिडदे कषायमं सुउदे इंद्रियतृष्णेगळं परिषह—
　　वक्कोडनिदिरागि गेल्लदे सुगुप्तिगळ पुगदात्मनं मलं॥
बिडदोर्डालदे वेर्पडिसि नोडदे सुम्मने कर्म शत्रुवे।
　　बिडु बिडु पोगेनल्लुडिगे पोदुपदे अपराजितेश्वरा! ॥२०

हे अपराजितेश्वर! कषाय को छोड़े बिना, इंद्रियों की आशा को बिना नष्ट किये, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन इस प्रकार इन बाईस परिषहों को सहे बिना, उपसर्ग को सहे बिना, मन वचन काय की गुप्ति के बिना, अपनी आत्मा में प्रवेश न कर शरीर रूपी मल को आत्मा से भिन्न देखे बिना जो केवल ऐसे कहता है कि हे कर्म शत्रुओ! मुझे छोड़दो, तो ये कर्म क्या आत्मा को छोड़कर चले जायगें? ॥२०॥ कभी नहीं—

O 'Aparajiteshwar! would the Karmic matter leave the soul by crying only as "Leave me: leave me", without overcoming passions (anger etc) without des-

troying the desires of senses and without bearing the 22 kinds of Sufferings (parishaha), kshudha (Hunger), Trisha (thirst), Shita (Cold), ushana (Heat), Dhansmasak (Insect bites), Nagnya (Nakedness), Arati (Ennui; dissatisfaction), Stri (Women), Charya (Walking onfoot; not to feel fatigue but to bear it), Nishadya (sitting; not to disturb the posture of meditation, even if there is danger of lion or snake etc. etc.), Shayya (Sleeping; resting on the hard earth), Akrosha (Abuse), Vadh (beating), Ycha (begging), to refrain grom begging even in need), Alabh (Failure to get alms), Roga (Diseoae), Trina Sparsh (contact with thorny shrubs), Mal (Dirt, discomfort from dust etc.), Satkar puraskar etc. (respect or disrespect), Pragya (conciet of knowledge), Agyana (Lack of knowledge), Adarsana (Slack belief e g. on failure to attain supernatural powers.); without bearing 'Upsarga' (tortures), without maintaining three kinds of Gupti (preservation) Mana (Mind), Vachan (Speech), & Kaya (Body), without true perception of the soul by discriminating between body and the soul ?

विवेचन—यहां पर ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि आत्मतत्त्व में रुचि रखकर बाह्येन्द्रियादि वासनाओं की लालसा को कम करके आत्म साधन में होनेवाली शारीरिक बाधा, कषाय तृष्णा तथा आशाओं को जब तक व्रतोपवास नियम संयम के

द्वारा नहीं जलाया जायगा; क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डांस, मच्छर नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन परीषहों को नहीं जीता जायगा अर्थात् परम सहिष्णु होकर इनको न सहा जायगा; मन वचन व काय की गुप्ति न की जायगी तथा अनादि काल से लगे हुये कर्म मल दूर नहीं होंगे, तब तक हे कर्म शत्रुओ! "मुझे छोड़ो मुझे छोड़ो" इतना मात्र कहने से क्या वे कर्म छोड़कर स्वयं भाग जांयगें? कदापि नहीं।

इसलिये सब से पहिले कषाय को जीतना चाहिये। कषाय चार प्रकार की होती है:—क्रोध, मान, माया, तथा लोभ। ये चारों आत्मा के लिये महान् शत्रु के समान हैं। इनकी उत्पत्ति पांचों इन्द्रियों से होती है। इन्द्रियां पांच प्रकार की हैं:—कर्णेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रियं। ये पांचों इन्द्रियां संसार को फैलाने के लिये मूल कारण हैं। इनको वश में किये विना आत्म-साधन का कोई दूसरा उपाय नहीं हो सकता। कषाय का भेद मूल में चार प्रकार का बतलाया गया है; किन्तु इन चारों के प्रत्येक में चार चार भेद होने से कुल सोलह प्रकार के होते हैं। हर एक कषाय को पांचों इन्द्रियों के साथ में जोड़ देने से बीस प्रकार के हो जाते हैं। प्रत्येक इन्द्रियों को सोलह से गुणा कर देने पर असी प्रकार के भेद हो जाते हैं। इसके अनेक भेद प्रभेद को

गोम्मटसार कर्मकांड द्वारा जान लेना चाहिये। क्योंकि ग्रन्थ का विस्तार हो जाने के भय से यहां पर उनका वर्णन नहीं किया जाता है।

इसलिये कषायों को जीते विना व्रत नियमादि से काम नहीं चल सकता। गुणभद्राचार्यजी ने आत्मानुशासन में कहा है कि:-

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥११२॥

तुम यदि क्लेशों से डरते हो तो भले ही चिरकाल पर्यन्त घोर तपों को मतकरो; परन्तु कषाय जीतनेमें तो कोई शारीरिक क्लेश नहीं है? अपना मन वश किया कि कषाय वश हुये। इसलिये कषाय शत्रुओंको तुम अवश्य जीतो। यदि कषाय भी तुमसे जीते नहीं गये तो यह तुम्हारी मूर्खता है।

कषाय ही सर्वथा जीव का अपराधी है। देखो:—

हृदयसरसि यावन्निर्मलेप्यत्यगाधे,
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
श्रयति गुणगणोयं तन्न तावद्विशङ्कं।
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्तव ॥२१३॥

(आत्मानुशासन)

अरे जीव ! तेरा हृदय-सरोवर अत्यन्त निर्मल है। तो भी उसके अत्यंत गहरे भागमें कषायरूप मगर जब तक रह रहे हैं तब तक उस सरोवर के पास पवित्र मोक्षके साधन ज्ञानादि गुण निःशंक होकर नहीं आ सकते हैं। इसलिये तू यदि उन पवित्र गुणों को अपने हृदयमें बुलाना चाहता है तो उन कषायों को जीतने का प्रयत्न कर। उनके जीतने का उपाय यही है कि संयम धारण करके परिणामों को शांत बनाओ। प्रशम, संवेग अनुकम्पा तथा इन्द्रिय विजय इत्यादि अनेकों उपाय इन कषायोंके ही जीतनेके लिये बताये जाते हैं।

संसारमें ऐसे जन बहुत मिलते हैं जोकि उपदेश तो करते हैं; परन्तु स्वयं करने में स्खलित होते हैं। ऐसे मनुष्यों की हँसी करते हुये आचार्य कहते हैं कि:—

हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं,
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः।
तेषामाखुबिडालिकेति तदिदं धिग्धिक् कलेः प्राभवं,
येनैतेपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिताः ॥२१४॥

(आत्मानुशासन)

कितने ही जीव आप ज्ञानी बनकर संसार के कारणभूत कषाय व कषायोंके फलभूत विषय सेवन तथा विषयजन्य दुःखों को छोड़ना चाहते हैं और परभवके सुधारने की इच्छा करते हैं। इन सब

के लिये मन को शांत बनाना चाहिये ऐसा उपदेश भी करते हैं, शांत मनकी सदा प्रशंसा करते हैं, परन्तु वास्तविक मोक्ष व मोक्ष के साधनभूत कषाय विजयादि उपायों में उनका मन नहीं लग पाया है इसलिये उसका वह सारा उद्देश्य तथा सर्व चेष्टा केवल लोगोंको फँसाने के लिये समझना चाहिये। जैसे बिल्ली चूहों को चाहे जितना उपदेश दे; परन्तु वह केवल फँसाने के लिये समझना चाहिये। यह सब कलिकाल की महिमा है कि जिसने सत्यहितके ज्ञाता तथा उपदेशकों को भी उस ज्ञान तथा उपदेश के फल से वंचित बना रक्खा है। इस कलि प्रभाव को धिक्कार हो। विचारे वे तपस्वी या पंडित न तो इधर के ही रहते हैं और न उधर के। संसारके वर्तमान विषय भोग सुखों को तो वे परलोक सुख की अभिलाषा के वश होकर छोड़ चुके हैं और सच्चे वीतरागी नहीं बन पाये हैं इसलिये परलोक के सुखों से वंचित रह गये। विचारे वे अज्ञान वश दोनों सुखों से दूर रहकर यों ही मारे मारे फिरते हैं।

कषाय विजय करने में चूकने का स्थल दिखाते हैं:—

उद्युक्तस्त्वं तमस्यस्यस्यधिकमभिभावं त्वामगच्छन् कषाया,
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किंतु दुर्लक्ष्यमन्यैः।
निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग् निम्नदेशेष्ववश्यं,
मात्सर्यं ते स्वतुल्यैर्भवति परवशाद् दुर्जयं तज्जहीहि ॥२१५॥

(आत्मानुशासन)

तू तप करने में तत्पर हो चुका है और तेरे कषाय भी अत्यन्त कृश हो गये हैं। समुद्रमें जैसे अथाह ज्ञान भी प्रगट हो चुका है। कषाय का वेग भी रुक गया है; परन्तु अभी कर्म का उदय जारी रहने से कुछ थोड़ा सा छिपा हुआ कषाय मौजूद है। जैसे किसी सरोवर में से पानी सूख गया हो; परन्तु उसके किसी किसी खड्डे में थोड़ा थोड़ा पानी तो भी रह जाता है। इसी प्रकार तेरे हृदयमें से कषाय का प्रवाह तो निकल गया है; परन्तु अपने समान ज्ञानी व तपस्त्रियों के साथ कुछ मत्सरता शेष रह गई है। परन्तु वह इतनी सूक्ष्म है कि दूसरे उसकी सत्ताको समझ भी नहीं पाते हैं। वह अभी छूटी नहीं है। उसका निकलना कठिन भी है परन्तु इसे दूर करने का प्रयत्न तू अवश्य कर।

आत्मानुशासन में भी कहा है कि—

वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः।
किल जडतया लोलो वालव्रजे विचलं स्थितः॥
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियो जितः,
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः॥११३॥

यहाँ कषायादिक की बुराई करते हुए आचार्य ने कहा कि यह कषाय वैसी है जैसे चमरी नामकी गाय जंगली गाय होती है। उसकी पूंछ के बाल बहुत ही सुन्दर व कोमल होते है। उसे अपनी पूंछपर बड़ा ही प्यार रहता है। यह एक प्रकार का लोभ

है। इस प्रेम या लोभ के वश होकर वह अपने प्राण गँवाती है। शिकारी या हिंसादिक हिंसक प्राणी जब उसे पकड़ने के लिये पीछा करते हैं तब भागकर अपना प्राण बचाना चाहती है। वह उन सबों से भागने में तेज होती है। इसलिये चाहे तो भागकर वह अपने को बचा सकती है। परंतु भागते भागते जहां कहीं उसकी पूँछ के बाल किसी झाड़ी में उलझ गये कि वह मूर्ख वहीं खड़ी रह जाती है। एक पैर भी फिर आगे नहीं धरती। कहीं पूंछके मेरे बाल टूट न जायँ, इस विचार से प्रेम वश वह अपनी सुधबुध बिसर जाती है। बालोंका प्रेम उसके पीछे आने वाले यम दंड को उससे बिसरा देता है। बस अब क्या था? पीछे से वह आकर उसे घेर लेता है और मार डालता है। इसी तरह जिनको किसी भी वस्तुमें आसक्ति बढ़ जाती है वह उनको परिपाक में प्राणांत करने तकके दुःख देने वाली होती है। किसी भी वस्तु की आसक्ति को भला मत समझो। सभी आसक्तियों के दुःख इसी तरह के होते हैं। जिनकी विषय तृष्णा बुझी नहीं है उनको प्रायः ऐसे ही दुःख सहने पड़ते हैं।

इसलिये हे जीव! तू अपना भला चाहते हो तो, अपने को दुख देनेवाले इन कषाय तथ इंद्रियादि वासनाओं को छोड़ दो। वासनादि को उत्पन्न करनेवाले कषाय एक से एक तुमको दुःख देनेवाले हैं। इसलिये इन कषायों को जीतना सबसे पहले महान कर्त्तव्य है। इन कषायोंको जीतना मानो मोक्ष को प्राप्तकर लेना है।

इसी कारण से जो दीर्घ संसारी जीव हैं उनके हाथों से कषायों का विजय नहीं हो पाता। जो कषायोंका विजय करते हैं उन्हें समझना चाहिये कि उनका जहाज संसार समुद्र के तट पर आगया।

इसलिये इस संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिये महान्-महान् तीर्थंकरों को भी लोभादि चारों कषाय इंद्रियों की वासनाओं पर विजय, बाइस परीषहों का सामना करना पड़ा और आनेवाले अनेक शारीरिक कष्ट की परवाह नहीं की तभी उनको अखंड मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हुई। परन्तु विषयादि वासनाओं को त्यागे विना कर्म शत्रु हमें छोड़कर जाने वाले नहीं हैं। और सच्चे सुख की प्राप्ति कभी भी होने वाली नहीं है, ऐसे जानकर तू अपने विषय कषायादि का सामना करो और अपने आत्म स्वरूप का तथा सच्चे स्वरूप का पता लगाओ ॥२०॥

आगे ग्रंथकार बतलाते हैं कि श्री वृषभादि तीर्थंकरों ने भी जब इन कषायादि को तथा परिषहादि को छोड़ा, सहन किया तभी उन्हें सच्चासुख प्राप्त हुआ ऐसा कहते हैं।

पुरुपरमेशनादियेने तीर्थकर्मोंदलागि काननां-
तरदोळ् गद्रियोळ् चळियोळ् तपदोळ् मळेयोळ् क्षुदातृषा ॥
मरमनडर्तु गेल्लदे जिनेश्वररादरे कोडि वाडि जो-
कारिपेनगेत्त निर्जरेय मातु जंडगपराजितेश्वरा ! ॥२१॥

हे अपराजितेश्वर ! परमेश्वर प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव

भगवान् आदि ने गहन जंगल में, पर्वत की चोटी पर, सर्दी गर्मी बरसात आदि में अत्यन्त भूख प्यास इत्यादि तीव्र बाधाओं पर भी कोई ध्यान न देकर ही जिनेश्वर पद प्राप्त किया। तो मुझ समान अज्ञानी को क्या यह अरहंतपद, विना कष्ट किये हुए, बाह्य आभ्यंतर परिग्रह को छोड़े विना, संयमादि संबंधी बाधाओं के सहन किये विना एवं संसार से विरक्ति के विना प्राप्त हो सकता है ? मुझ जैसे अज्ञानी जड़ बुद्धिवाले के लिये निर्जरा की बुद्धि कहाँ ? ॥२१॥

O, Aparajiteshwar , Even the Tirthkaras like Lord Rishabhdeva etc., attained the 'Jineshwar pad' (Emancipation by conquering senses and destroying karmas) after long austerities in dense forests, on the peak of the mountains, during cold, summer and rainy times, overcoming hunger and thirst, then how could this 'Arhantpad' be attained by a person af little intelligence like me, without renouncing the external and internal attachments, without practising Sense Control and without detachment from the worldly objects. Where do I, the man of low intelligence, posses the inclination to shed the Karmas ?

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि श्री वृषभादि महान् तीर्थंकरादि को भी अपने तीर्थंकर चक्रवर्ती पद, बाह्येन्द्रियादि अनेक सांसारिक भोगोपभोग संपत्ति को तृणके माफिक समझकर

त्याग किये विना, दिगम्बर जैन दीक्षा धरकर जंगलमें या पर्वत की चोटी पर बैठकर ध्यान किये विना, उसमें होनेवाले परीषह, उपसर्ग और काय-क्लेश को सहे विना, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह त्याग किये विना तथा भूख-प्यास की बाधा को सहे विना जिनेश्वर पद या अरहंत सिद्ध भगवान् का पद क्या प्राप्त हुआ ? नहीं ! उनको भी राज्य पद और तीर्थंकर पद छोड़कर दिगम्बर वेष धारण करके काय-क्लेश तथा शरीर को होनेवाले महान् कष्ट सहन करने पड़े तभी वह ईश्वर पद या जिनेन्द्र पद प्राप्त हुआ, परन्तु तप विना, संयम विना, इन्द्रियोंकी वासनाओं को कम किये विना नहीं प्राप्त हुआ। तब तू विचार कर कि अज्ञानी तथा छद्मस्थ प्राणी इंद्रिय लालसा को कम करे नहीं, सांसारिक भोगादि विषयोंको कम करना चाहे नहीं, कषाय को छोड़ने की इच्छा करे नहीं, तप या व्रत का नाम सुनते ही घवड़ाकर रोने लगता है और फिर भी आत्मिक सुखकी कामना करता है और इन्द्रियादि कषाय तथा वासनाओं को त्यागना नहीं चाहता है, तो तेरे समान मूर्खको विना कष्ट किये यह पद मिलना कोई खेल तमाशे की बात नहीं है। वह आत्मिक सुख रास्ते, बाजार तथा किसी दुकान पर रुपया देने से नहीं मिल सकता। अरे भाई ! सुगमता से तो वह बहुत दूर है।

देखो ! तपस्या करके आत्म-कल्याण करनेवाले भगवान् तक को कितना कष्ट उठाना पड़ा। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति सुलभ—मत

समझो। उसके लिये तपस्या करनी पड़ेगी। आत्मानुशासनमें कहा भी गया है कि:—

समस्तं सम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्,
तपस्यन्निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान्।
किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिरं,
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्य वशतः ॥११८॥
(आत्मानुशासन)

समय पाकर नाभिराजा के पुत्र आदीश्वर ने संपूर्ण विशाल राज्यसंपदा को तिनके की तरह त्याग दिया और संसारसे मुक्त होने की कामना से तप करने लगे। जब भूख लगी तब मान छोड़ कर दीनों की भाँति पर घरों में फिरे। बहुत दिनों तक कहीं भोजन मिला ही नहीं; लेकिन तो भी तपसे भ्रष्ट न होकर तपस्या को साधते हुये भी भिक्षाके लिये फिरते ही रहे।

उन्होंने इतना कष्ट उठाया तो भी तपको नहीं छोड़ा। तप की वृद्धि करते हुए ही शरीर रक्षा के लिये प्रयत्न किया। यदि वे चाहते कि हम विषयसुख भोगें; इतना कष्ट उठाकर तप करने में क्या लाभ है? तो उनके लिये तीनों लोक की संपदा उपस्थित थी, किन्तु तो भी उन्होंने तप को छोड़ना नहीं चाहा। तप के सामने विषय सुखको तुच्छ व हेय समझा। इसीलिये उन्होंने तपको रखकर शरीर का निर्वाह करना पसन्द किया। यदि वे शरीर सुखको मुख्य

समझकर विषयोंमें प्रवृत्त होते तो आत्मकल्याण से वंचित रह जाते; परन्तु उन्होंने तो आत्मकल्याण को मुख्य कार्य समझा था। इसीलिये दुस्सह कष्ट भोगने के लिये कायर नहीं हुये; किन्तु आत्म-कल्याण की सिद्धि पूर्ण की।

जिन्हें जो काम पूरा करना होता है वे उसके लिये चाहे जैसे दीर्घ दुःखों को सहते हैं; पर मतलब को हाथ से नहीं जाने देते हैं। अपने प्रारंभ किये कार्य की सिद्धि के लिये श्रेष्ठ मनुष्य क्या क्या सहन नहीं करते? जो श्रेष्ठ कार्य का प्रारंभ करके भी विघ्न आने पर हट जाते हैं—कार्यको छोड़ देते हैं वे क्षुद्र मनुष्य होते हैं। अच्छे कामोंके बीचमें विघ्न आना तो निश्चित ही है। इसलिये जो विघ्नों से डरते हैं वे कभी अच्छे कार्यको पूरा नहीं कर सकते हैं। इसलिये अपने कार्य को अन्त तक पहुंचानेके लिये बीचमें आया हुआ विघ्न चाहे कैसा भी भारी हो, पर क्या सहना न चाहिये? अवश्य सहना चाहिये।

अहो! कर्म के उदयके अनुसार फल तो प्राप्त होता ही है। जिस कर्म ने संसारके सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों को भी कष्ट देने से छोड़ा नहीं, वह क्या साधारण मनुष्यों से रोका जा सकता है? नहीं। तो भी अपने कार्य को छोड़ना नहीं चाहिये। कहा भी है कि:—

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव,
स्वयं सृष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।

क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती,-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हत विधेः ॥११६॥

(आत्मानुशासन)

इन्द्र सरीखे, गर्भ में आने के पहिले ही से सेवक के समान जिनके लिये हाथ जोड़कर खड़े होने लगे, जिन्होंने संपूर्ण संसार को उद्योग धंधा आदि प्रवृत्ति मार्ग सिखाकर उचित पथ पर चलाने का क्रम प्रारंभ किया, जिनका पुत्र भरत चक्री निधियों का स्वामी हो चुका था, इन्द्रादि सभी महापुरुषोंके पूज्य होनेके कारण जो 'पुरु' इस नाम को पा चुके थे वे भी जब कि कर्मके तीव्र उदय वश हुये तब भूखे प्यासे छह महीने तक निरन्तर भोजन के लिये पृथ्वी पर भटकते फिरे; पर क्षुधा की निवृत्ति का यथोचित्त कहीं प्रबन्ध एक जगह भी नहीं हो पाया। अहो इस संसारमें कोई कैसा ही बड़ा पुरुष हो, पर दुष्ट पापी दैव की चेष्टा को रोक नहीं सकता है।

भावार्थः—संसारमें जब तक रहना है तब तक दैव पीछे लगा ही हुआ है। उसकी गति को कोई भी रोक नहीं सकता है। इन्द्र जिनका सेवक ऐसे तीर्थंकर को ही जिसने छोड़ा नहीं उससे दूसरे तो बच ही क्या सकते हैं? इसलिये जब तक संसार में रहना है तब तक सुख दुःखका संपूर्ण दारोमदार दैव के आधीन है-अर्थात् पराधीन है। इसकी सत्ता रहते हुये दुःख तो दुःख है ही, पर सुख

भी दुःख ही है । क्योंकि दैवाधीन सुखके आगे-पीछे चिन्ता, इच्छा, आकुलता इत्यादि दुःख लगे ही रहते हैं। सुख के साथ में भी अनेक तरहके दूसरे दुःख रहते हैं । सिवा इसके, संसार दशा में पूर्णज्ञान कभी भी प्रकाशमान न रहने से उस अज्ञानवश जो एक प्रकार की धुंधीसी बनी रहती है वह सब आनन्द किरकिरा करती रहती है । इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो संसार में रहकर कभी किसी को सुख नहीं मिल सकता है। इसीलिये भगवान् आदीश्वर ने कर्मों का निर्मूल नाशकर अविचलित आनन्ददायक मोक्षपद की प्राप्तिका सराहनीय उद्योग प्रारंभ किया। उसी कार्य को सिद्धिके लिये जब शरीर रक्षा की जरूरत पड़ी तो इष्ट कार्यमें बाधा न करके भोजन की तलाश में इधर उधर भटके। विघ्न कर्म का तीव्र उदय होनेसे भोजन जब न मिला तो भी अपने आरंभ किये हुये कार्यसे पराङ्मुख न हुये और उस दुःख की कुछ परवाह भी नहीं की । इस प्रकार जब कि वे भगवान् अपने कार्य के साधन में आसक्त हुये तो अन्तमें उस शाश्वत स्वाधीन सुखको पा ही लिया ।

आगे ग्रंथकार बतलाते हैं कि बिना परीषह सहन किये या इन्द्रिय लालसाओं को कम किये बिना सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है,

ओदिद तत्त्वमिल्ल परिदिट्टपरिग्रहमिल्ल तग्गि तं-
पाद कषायमिल्ल नेरे गेल्द परीषहमिल्लसद्गुणा-॥

मोद्तेयिन्ल-माडिदुरु धर्मविकासतेयिन्ल निम्मोळ ।
त्यादरभक्तियिन्ल सुखियागुनेंतपराजितेश्वरा ! ॥२२॥

हे अपराजितेश्वर ! वस्तुस्वरूपको मैंने जाना नहीं, न उसे जानने के लिए शास्त्राध्ययन किया, न परिग्रह का त्याग किया, न कषाय का त्याग किया, न कषाय की मंदता हुई, न परीषहों को जीता, न अच्छे गुणों में संतोष व्यक्त किया, मन पूर्वक धर्म-प्रभावना नहीं की और आपके चरणों में आदरपूर्वक मेरी भक्ति भी नहीं है तथापि मैं सुखी होना चाहता हूँ। ऐसी अवस्था में मैं कैसे सुखी होऊंगा ? ॥२२॥

Aparajiteshwar ! I did not know the Nature of the substance; neither I ever read scriptures to know it nor I renounced external possessions (attachments) and the passions (of anger etc.), nor I won over the Sufferings (Parishaha of 22 kinds enumerated previously), nor did I express satisfaction in good virtues; also I do not have keen devotion in you. Still I wish to become happy, but in this manner how shall I become ?

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि अरे अज्ञानी जीव ! तैंने वस्तु स्वरूप का ठीक ज्ञान करनेके लिये किसी सच्चे शास्त्र का अवलोकन तथा अध्ययन करने का यत्न नहीं किया, धन धान्य, दास, दासी, रुपया, सोना, चांदी, जमीन, बरतन

मकान और मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसक वेद इन चौबीस प्रकार के बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रहों तथा क्रोध, मान, माया लोभ इन चार प्रकार के कषायों को घटाने का प्रयत्न नहीं किया, आत्म स्वरूप की ओर उपयोग लगाने की भावना नहीं की, कषाय के आधीन होकर असंख्य जन्म तक इस संसार वन में परिभ्रमण किया, बाईस परीषहों में से भूख प्यास आदि रसनेन्द्रियों का लालच कम करने तथा परीषहों को सहन करने का अभ्यास नहीं किया और अच्छे गुणों व गुणवानों से भी हमेशा अपना मन अलिप्त और असंतुष्ट वृत्ति कर रहा है अर्थात् मन की उत्सुकता के साथ धर्मप्रभावना करने को भी उत्सुक नहीं रहा और दूसरे धर्मात्माओं द्वारा की हुई धर्मप्रभावना को देखकर मनमें संतोष भी नहीं प्रगट किया, उसे सुनकर भी तैंने उससे द्वेष ही किया, अपने अन्दर धार्मिक कार्य, भगवान् की पूजा आराधना चार प्रकार के दान , तप संयम, स्वाध्याय तथा भगवान् की वाणी पर विश्वास नहीं किया, अतः तू इससे भी वंचित रहा। अरे मूर्ख ! तू फिर भी सच्चे सुख की चाह रखता है, तो क्या सुख यों ही बैठे बैठे विना प्रयत्न से ही तुझे मिल जायगा ? कदापि नहीं। इसलिते जहां तक हो सके वहां तक उपर्युक्त नियमों का पालन करते हुए धर्मोपार्जन करने के लिये पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।

यद्यपि धर्म के ही ऊपर अखिल विश्व स्थित है और धर्म करने के लिये अपने हृदयस्थ विकारों को दूर करके परिग्रह व

कषायों को त्याग कर यम, नियम संयमादि द्वारा तपस्या करना अनेक धर्म शास्त्रों तथा महात्माओं ने प्रतिपादन किया है, तथापि आजकल के कुछ नवयुवकों की यह सलाह है कि:—धर्म साधन करने के लिये कोई तप, यम नियम, संयम, व्रतोपवास, भगवान् की पूजा आराधना करना तथा भक्ष्याभक्ष्य का परित्याग करना व्यर्थ है, क्योंकि जहां हमारी भावना शुद्ध है वहां सभी धर्म हैं। धर्म साधन करने के लिये बाह्याडम्बरों की कोई आवश्यकता नहीं है, इसके लिये केवल अपने आत्मस्वरूप की पहचान होनी चाहिये। जितनी व्यवहार क्रियायें बतलायी गई हैं वे सब व्यर्थ हैं। क्योंकि आत्मा तो अनादिकाल से नित्य और अमूर्तिक है तथा शरीर जड़ है, इसलिये शरीर और आत्मा से कोई मतलब नहीं है। जड़ का काम जड़ और चेतन का काम चेतन करता है, दोनों भिन्न हैं। यदि शरीर से पाप होता है तो शरीर को लगता है आत्मा को नहीं, तो फिर जब शरीर जड़ है तो उसमें पाप लगने से आत्मा का कोई नुकसान नहीं होता। आत्मा सदा अजर अमर है तथा इसे सुख दुःख कुछ नहीं है। आत्मारूपी भगवान् तो सर्वदा अपने हृदय में विराजमान रहते हैं, अतः इनका पुद्गल शरीर से कोई संबंध नहीं है।

आत्म स्वरूप हम कुछ करते धरते नहीं, जो कुछ करता है वह पुद्गल जड़ अर्थात् शरीर ही करता है। हमारा सिद्ध भगवान नित्य, निरंजन परम शुद्ध व शाश्वत है। इसलिये आत्म-साधन

करने के लिये शरीर को कष्ट देकर पुण्य व धर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार मोही जीव कुटुम्बादि के मोह में आसक्त तथा इन्द्रिय सुखों में लालायित होकर विषय वासनाओं को छोड़ नहीं सकता है। इसीलिये इन्द्रिय तथा वासनाओं के अधीन हुआ प्राणी अपने मानसिक विचारों की पुष्टी करने के लिये आत्मिक सुख के मार्ग को भी सुलभ समझ लेता है और मन गढ़ंत कल्पनाओंके वशवर्ती होकर कुविचारों का प्रचार यत्र तत्र करने लगता है।

आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक लोगों की यह विचार-धारा है कि कोई भगवान् या धर्म नहीं है। भक्ति पूजा आदि करना यह सभी मूर्खता है। धर्म शास्त्र और पुराणोंके रचयिता भी पाखंडी और ढोंगी थे। मुक्ति या सिद्धगति यह सभी कल्पना मात्र है-कुछ नहीं है। शुद्ध खाना पीना छुआ-छूत का भेद-भाव करना, व्रत-नियम रखना तथा संयम वगैरह धारण करना यह सब शरीर को कष्ट देने के अलावा और कुछ नहीं है अर्थात् व्यर्थ है। वर्ण भेद जन्म से नहीं केवल कर्म से है। शास्त्र न मानने में कोई हानि नहीं है। पूर्वकाल के लोग आजकल के समान उन्नति शील नहीं थे। आज तो संसार की क्रमशः उन्नति हो रही है। अवतार उन्नत विचार के महात्माओं का ही नामांतर है। माता पिता की आज्ञा मानना आवश्यक नहीं है। स्त्री को पति के परित्याग करने और नवीन पति निर्वाचन करने का अधिकार

होना चाहिये। परलोक और पुनर्जन्म किसने देखा है? पुण्य, पाप, नरक और स्वर्गादि केवल कल्पना मात्र हैं। ऋपि, मुनिगण स्वार्थी थे इसलिये अपने मतलब के वास्ते ग्रंथों की रचना कर गये हैं। पुरुप जाति ने स्त्रियों को पददलित बनाये रखने के लिये ही पातिव्रत्य और सतीत्व की महिमा गायी है। उच्च वर्णों ने नीच वर्णों के साथ सदा अत्याचार किया। विवाह के पहले लड़के-लड़कियोंका अश्लील रहन सहन व्यभिचार नहीं माना जाता है। प्रत्येक प्राणी को अपने मन की इच्छानुसार सब कुछ करने का अधिकार है। इत्यादि ऐसी बातें आजकल इस ढंग से फैलायी जा रही हैं कि जिससे भोली भाली जनता इन बातों को बिना आगा पीछा सोचे विचारे तथा बहकावे में आकर धर्म से च्युत होकर अधोगति को गमन कर रही है। ऐसी कुविचार प्रथा को त्यागकर बुद्धिमान् धर्मात्मा जीव को भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुये सच्चे मार्ग पर विश्वास करके अपने सच्चे हितकारी पथ का अवलंबन करना चाहिये।

मिथ्या विश्वासः—

इसी के साथ साथ यह भी सत्य है कि समाज में अभी तक नाना प्रकार के मिथ्या विश्वास और वहम फैले हुये हैं। भूत प्रेत योनि है, परन्तु आजकल के अधिकांश नर नारी तो बात बात में भूत प्रेत की आशंका करते रहते हैं। हिस्टीरिया की बीमारी हुई तो प्रेत बाधा, मृगी या उन्माद हो गया तो प्रेत का संदेह और

इसी प्रकार छोटी छोटी बातों पर तमाम वहम भरे हुये हैं। इसी लिये ठग और धूर्त झाड़, फूंक, टोना, जादू यंत्र, मंत्र तथा तंत्र के नाम पर नाना प्रकारसे लोगोंको ठगते फिरते हैं। पीर-पूजा, कब्र, पूजा, ताजिया के नीचे से बच्चों को निकालना तथा देवता की मनौती आदि पाखंड इसी वहम के आधार पर चले आ रहे हैं। इन मिथ्यात्ववर्धक कार्यों को हटाने के लिये भी प्रयत्न करना तथा आत्महित कर देने वाले सच्चे मार्ग पर चलना यही जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का पालन करना है।

व्यापार के नाम पर जुआः—

जीवन अधिक खर्चीला तथा आडंबर पूर्ण हो जाने से समाज में धन की लालसा बहुत बढ़ गयी है, धर्म से रुचि कम हो गयी है तथा ज्यादा लोभ कषाय की मात्रा बढ़ती चली जा रही है। धन एक साथ प्रचुर मात्रा में प्राप्त होने के लिये सट्टा ही एक मात्र साधन सूझता है। इसलिये आजकल रुई, पाट, हेसियन, सोना चाँदी आदि पदार्थों का सट्टा खूब चल रहा है। माल डिलेवर न लेकर जहाँ केवल भाव ही पटाया जाता है वह सब एक प्रकार का जुवा ही है। इसलिये इसे पाप का मूल समझकर छोड़ देना चाहिये। और न्याय पूर्वक अपने शरीर और बाहुओं के परिश्रम से कमाना तथा उससे जो प्राप्त हो उसमें संतोष रखना यही जीवन में एक शान्ति का सच्चा मार्ग है। ऐसे मार्ग के अवलंबन से गृहस्थ जीवन में उत्तम क्षमा अंशतः प्राप्त

हो सकती है और इसीसे कीर्ति तथा उत्तम गति की प्राप्ति हो सकती है।

वर्षा का सौदा, आँक फरक लगाना, बाजी लगाकर तास, चौपड़, शतरंज खेलना, घुड़दौड़ पर बाजी लगाना, लाटरी डालना, चिट्ठी खेल करना आदि कार्य जुवे रूपमें प्रसिद्ध हैं। इस व्यसन में पड़कर लोग बरबाद हो जाते हैं। घाटा लगने पर बाप दादों की जगह, जमीन दूकान, मकान, तथा स्त्रियों के आभूषणादि बंधक रखकर तबाह हो जाते हैं, रात दिन चिन्ता में जलते रहते हैं और आर्त्त रौद्र परिणाम करते हुये पाप बंध तथा खोटे विचार मन में करके धर्म को डुबो देते हैं। इतना ही नहीं, कहीं कहीं पर लोग घाटा होने से आत्म हत्या करने के लिये तैयार हो जाते हैं, परन्तु नफा होते ही प्रमाद वश भोग आलस्य और व्यर्थ व्यय आदि बढ़ाकर आत्म पतन की ओर झुक जाते हैं। यह व्यसन अधिकतर बुद्धि, स्वास्थ्य, समाज और धर्म के लिये घातक होता है। बड़े बड़े लोग इसके फेर में पड़कर बर्बाद हो चुके हैं और इसके सेवन से यह लोक तथा परलोक दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये शास्त्रकारों ने सजीव और निर्जीव पदार्थों को लेकर किसी प्रकार का जुवा खेलना बड़ा भारी पाप और देश के लिये घातक बतलाया है। अतः धर्मात्मा ज्ञानी जीव को इसका त्याग कर सच्चे आत्मोन्नति का मार्ग ग्रहण करना चाहिये। ऐसा ही सार समुच्चय में कहा है कि:—

इन्द्रियाणां शमे लाभं रागद्वेषजयेन च ।
आत्मानं योजयेत् सम्यक् संसृतिच्छेदकारणम् ॥८४॥

इन्द्रियों को जो अपने वश में नहीं रख सकता है, राग द्वेष की तीव्रता से विषयों में फँसा रहता है, विषय भोग के उपकारकों में बड़ा राग करता है तथा जो विषय भोग के विरोधी हैं उनसे द्वेष करता है वह तीव्र कर्म बाँधकर संसार सागर से कभी पार नहीं हो सकता। इसलिये जो इस असार संसार का अन्त करना चाहते हैं उनका परम कर्तव्य है कि वे इन्द्रियों की वासनाओं को शान्त करके सादा जीवन व्यतीत करें, प्राप्त वस्तु में संतोष रक्खें, यथा शक्ति मन, वचन काय को संवर में रखकर महाव्रत या अणुव्रत का पालन करें और अंतरंग में आत्मिक रस का स्वाद लेते रहे तो नवीन कर्म का बन्ध रुक जायगा या बहुत ही स्वल्प होगा और पुरातन संचित कर्म की प्रचुर निर्जरा होगी। वीतराग का अभ्यास उसी क्षण सुख का अनुभव करायेगा व संसार को छेद करता चला जायगा।

आगे कहते हैं कि मनकी चंचलता को स्थिर किये बिना आत्म सिद्धि नहीं हो सकती है:—

बोधिपेनेंबेनेल्लरु मनागमपद्धति बारदायतु व-
ल्साधेयनांतु सैरिसुतमात्मनळिर्द मलीमसंगळं ॥

सोदिपेनेंवेनळ्ळेदेत्तनं विडदायतु निजात्म दृष्टियं ।
सांधपेनेंवेनेंदोडे मनं चळमायतपराजितेश्वरा ! ॥ २३ ॥

हे अपराजितेश्वर ! मैं सभी जीवों को शास्त्र का ज्ञान कराना चाहता हूँ परन्तु शास्त्र की प्रणाली अथवा ज्ञान मुझे ज्ञात नहीं जिससे मैं स्वयं शास्त्रज्ञान से वंचित हूँ। मैं अनेक बाधाओं को सहन कर आत्मामें लगी हुई मलिनता को दूर करना चाहता हूँ परन्तु अधैर्य मुझे नहीं छोड़ता। मैं यह अवश्य कहता हूं कि मैं अपने आत्मस्वरूप को साध रहा हूँ परन्तु भगवन् ! मेरा मन तो चंचल है। बतलाइये मैं इस संसार को कैसे पार करूँ ? ॥२३॥

23, Aparajiteshwar ! I wish for every creature to get knowledge, of scriptures but I am, myself, ignorant of that knowledge. I wish to get rid of the dirt (of Karmas) soiling the soul, inspite of many obstacles; but impatience does not leave me. I say that I am devoting myself to the soul but O' God ! my mind is unsteady; how may I go beyond this world ?

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि यह अज्ञानी जीव सभी को मैं उपदेश देता हूँ—इस तरह की विद्वत्ता सभी के समक्ष प्रकट करता है; परन्तु ऐसे अज्ञानी मूढ़ प्राणी को शास्त्र पद्धति तथा सच्चे शास्त्र का ज्ञान तिल मात्र भी नहीं होता

है; क्योंकि मनोकल्पित शास्त्र को शास्त्र मानकर अपने मन के अनुसार भोले जीवों को अनुकूल करके उन्हें सच्चे धर्म मार्ग से पतित कर देता है और उसके बाद स्वयं अधोगति में उतर जाता है। सच्चे शास्त्र का ज्ञान न होने के कारण आत्मा के अन्दर लगा हुआ अनादि काल का कर्म मल न छूटने से तथा उसी कर्म रूपी मल में फंसे रहने से इस जीव को उससे निकलने का कोई सच्चा उपाय नहीं मिला और न इसने उसे प्राप्त करने का कोई यत्न ही किया। पास में धैर्य, सद्बुद्धि तथा उपयोग की स्थिरता न रहने के कारण वह प्राणी निज कल्पना से ही आत्मस्वरूप का अवलोकन मैं करता हूँ तथा सच्चे आत्मस्वरूप का दर्शन मुझे हुआ है ऐसा स्वयं मानता है तथा दूसरोंको भी बताता है। आत्म-दर्शन करने के लिये चित्त की एकाग्रता ही प्रधान कारण मानी गई है। वह अज्ञानी के पास होती नहीं है।

ऐसे भी कई प्राणी हैं जो निश्चय और व्यवहार की एकान्तता को मान्यता देकर अपने अपने मन्तव्य की पुष्टी करते हैं। परन्तु वे जिन सिद्धान्त के बहिर्भूत माने गये हैं। वस्तु का स्वरूप उभय नय सापेक्ष है। इसलिये निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षामें मोक्ष तत्त्व व उसकी क्रियायें आदि सफलीभूत मानी गई हैं। इस विषयमें स्याद्वादी को विवाद नहीं होता है। इसीलिये जितने भी क्रियावादी अक्रियावादी, ब्रह्मवादी, शून्यवादी, ज्ञानवादी तथा जड़वादी आदि मतमतान्तर हैं वे एकांत विवेचन के कारण इस मोक्ष तत्त्व के बहिर्भूत हैं। इस विषय में संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है:—

"नित्यकर्महेतुकं निर्वाणमिति" अर्थात् नित्य कर्म करने से मोक्ष प्राप्त हो जाती है "ऐसा मीमांसकों का मत है"। मीमांसक सिद्धान्त में कर्म के दो भेद माने गये हैं। एक गुण कर्म और दूसरा अर्थ कर्म। इनमें से उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति ये चार भेद गुण कर्म के होते हैं और नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म तथा काम्यकर्म ये तीन भेद अर्थ कर्म के होते हैं। यावज्जीव अर्थात् जब तक जीवन है तब तक प्रातःकाल व सायंकाल नित्य-प्रति अग्नि होत्र करना नित्य कर्म है। दर्शपूर्णमासादि नैमित्तिक (किसी निमित्त से होनेवाले) यज्ञों का करना नैमित्तिक कर्म है। इस लोक व परलोक के किसी खास फल की इच्छा से दर्शपूर्ण-मासादि यज्ञ करना काम्य कर्म है। "नित्यनैमित्तकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयं" इस वचन के अनुसार उन्होंने पापों का क्षय होना ही नित्य नैमित्तिक का फल बताया है। इसी नित्य कर्म को मीमांसकों ने मोक्ष का कारण माना है।

इस प्रकार अलग अलग कल्पना करने के कारण मोक्ष के विषय में भी तो वादियों का परस्पर में झगड़ा लगा है। एक ने जो मोक्ष का स्वरूप मान रक्खा है दूसरा उसे न स्वीकार कर अलग ही मोक्ष का स्वरूप मानता है। बौद्धों का कहना है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांचों स्कंधों का जिस समय निरोध पूर्वक सर्वथा अभाव हो जाता है, उसी का नाम मोक्ष है। सांख्य मत के अनुयायी कहते हैं कि जिस प्रकार

सोते समय विवेक ज्ञान के नष्ट हो जाने के कारण "मैं यहां पड़ा हूँ तथा क्या कर रहा हूँ ? इस बात का कुछ भी ख्याल नहीं रहता; किन्तु आत्मा में चैतन्य शक्ति विद्यमान रहती है, चैतन्य शक्ति उससे पृथक् नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के सर्वथा भेद हो जाने पर "यह घड़ा यह घर तथा यह पुत्र है" इस प्रकार का भेद विज्ञान दूर हो जाने पर केवल चैतन्यस्वरूप जो अवस्था प्रकट होती है उसी का नाम मोक्ष है। नैयायिक और वैशेषिकों का कहना है कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा; द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार इन नौ विशेष गुणों की जिस अवस्था में आत्मा से सर्वथा जुदाई हो जाती है उसी का नाम मोक्ष है। इस प्रकार मोक्ष के स्वरूप में भी लोगों की भिन्न भिन्न मान्यता पाई जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है। अपने अपने मत के अनुसार मोक्ष के मानने में चाहें विशेषता सिद्ध करें, किन्तु सामान्य रूप से सर्व कर्मों का सर्वथा नाश रूप मोक्ष सभी को स्वीकार है।

मोक्ष कोई पदार्थ नहीं है "यह कोई भी भाववादी नहीं कह सकता है" तो जब यह बात है हमारे सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं आता है और मोक्ष सामान्य में किसी का झगड़ा भी नहीं है, यह प्रसिद्ध ही है।

वादी यह कहते हैं कि जैसे जैन सिद्धान्त में यह बतलाया गया है कि जब तक आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध रहता है

तब तक उसे संसार में ही घूमना पड़ता है, किन्तु जिस समय कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है उस समय वह आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार बौद्ध सिद्धान्त का भी कथन है कि जब तक आत्मा के साथ रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कंधों का सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा को संसार में ही रुलना तड़ता है और जिस समय इन पाँचों इन्द्रियों की आत्मामें जुदाई हो जाती है उस समय यह आत्मा मुक्तात्मा बन जाता है।

सांख्य मतमें वैसे तो २६ (छब्बीस) पदार्थ माने गये हैं; परन्तु मुख्य पदार्थ प्रकृति (गुण) और पुरुष दो ही माने गये हैं। जिस प्रकार जैन सिद्धांतमें कर्म पदार्थ माना गया है और उसके संबंध से आत्मा को संसार में रुलना बताया है; उसी प्रकार सांख्य सिद्धांतमें सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुणरूप प्रकृति पदार्थ माना गया है और उसके संबंधसे पुरुष संसार में रुलता रहता है, यह बतलाया गया है। प्रकृति पदार्थों को ही उन्होंने जगत् का कर्ता माना है। बुद्धि, सुख-दुःख, अभिमानादि गुणोंको धारण करने वाली प्रकृति ही है। पुरुष तो चैतन्यमात्र है और वह जिसप्रकार कमल-पत्र पानी में रहते हुए उससे निर्लेप रहता है, पानी का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि, सुख-दुःखादि गुणोंसे निलप रहता है। प्रकृति संबंधसे ही "मैं ज्ञाता, दृष्टा, सुखी तथा दुःखी हूँ" आदि भावनायें पुरुषके आत्मामें उत्पन्न होती

रहती हैं और जब तक ये भावनायें उदित होती रहती हैं तभी तक पुरुष संसारमें फँसा रहता है; किन्तु जिस समय स्वप्नावस्था के समान यह घर है कि वह कपड़ा है इस प्रकार विवेकज्ञान नष्ट हो कर केवल चैतन्यमात्र अवस्था रहती है उसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष अवस्था में सांख्य मतके अनुसार आत्मा किसी भी पदार्थ को जान देख नहीं सकता किन्तु सोया हुआ पुरुष जिस प्रकार विवेक ज्ञान शून्य चैतन्यमात्र शक्तिका धारक रहता है वैसी ही दशा मोक्ष में रहनेवाली आत्मा की होती है। वैशेपिक सिद्धांतके अनुसार बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं संस्कार इन नौ आत्मगुणों का अत्यंत उच्छेद होना मोक्ष बतलाया गया है। नैयायिक सिद्धांत में दुःखका जिसप्रकार अत्यन्त उच्छेद माना है उसी प्रकार सुख का भी उच्छेद बतलाया गया है। मतलब मोक्ष के स्वरूप में भिन्न २ प्रवादियों की भिन्न २ मान्यताएँ हैं। ये सब मान्यताएँ जैन सम्मत मुक्ति की मान्यताके समक्ष नहीं ठहरती हैं। कारण विवेक रहित चैतन्य चैतन्य ही नहीं माना गया है। सांख्य की यह मान्यता जैन मान्यता मानता से कथंचित् मिल भी जाती है कि आत्मा पुरुप कर्म मलसे रहित है—फिर भी जैन मान्यता इस तरह की एकांतरूपसे नहीं है। वह आत्मा को संसार दशामें मलिन भी मानता है।

नैयायिक वैशेपिक आदि मन्तव्य भी इसीप्रकार हैं। क्षायिक बुद्धि का नाश मोक्ष में नहीं माना गया है। केवल क्षायोपशमिक

वुद्धि का ही नाश माना गया है। अतः मोक्षमें आत्मा अपने शुद्ध-ज्ञानादिरूपमें अवस्थित हो जाता है ऐसी ही मान्यता उत्तम है। इस मान्यताके वल पर ही जीवात्मा अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करता है इससे विपरीत मान्यता के वल पर नहीं। आत्मा का ही जव मतलव चैतन्य पदार्थ है तो उसे सामान्यरूपमें वुद्धि या विवेक से विकल माना भी कैसे जा सकता है? इसलिये इस असद् कल्पना का परित्याग कर जो सच्चे आत्मस्वरूप को प्राप्ति में सावधान रहते हैं वे कर्मोंका अभाव कर अपने आप को निष्कलंक वना लेते हैं। और इस तरह मुक्तिधाममें विराजमान हो जाते हैं।

इस तरह की मान्यताएँ जैन मान्यता से कतई मेल नहीं खाती हैं।

सारसमुच्चयमें ऐसा ही कहा है। आगे वताते हैं कि मिथ्यात्व वड़ा जवर्दस्त है:—

अहो मोहस्य माहात्म्यं विद्वांसो येऽपि मानवाः।
मुह्यन्ते तेऽपि संसारे कामार्थरतितत्पराः॥ २१॥

शास्त्रज्ञान रहित होकर विषयों की इच्छाओं व कुटुम्वमें मोहित होकर आत्महित न करे तो कुछ खेद व आश्चर्य की वात नहीं मानी जा सकती है; परन्तु जो मानव विद्वान् हैं, शास्त्रज्ञ हैं, तथा तत्त्वज्ञानी हैं वे यदि गृहस्थमें मोही होकर रात दिन धन कमानेमें तथा इन्द्रियों की इच्छा पूर्ण करनेमें लगे रहें तो वड़े खेद व

आश्चर्य की बात है। मिथ्यात्व का अंधेरा जब तक दूर नहीं होता है तबतक सच्चाज्ञान व वैराग्य नहीं होता है। अतएव इस मिथ्यात्वको दूर करना योग्य है।

छित्वा स्नेहमयान् पाशान् भित्वा मोहमहार्गलाम्।
सच्चारित्रसमायुक्तः शूरो मोक्षपथे स्थितः ॥२०॥

(सारसमुच्चय)

जैसे बन्द किवाड़ों में भीतर की वस्तु नहीं दीखती है वैसे ही मिथ्यात्व की आड़ जब तक रहती है तब तक अपने आत्मा का दर्शन नहीं होता है। इसलिये वही वीर योद्धा है जो इस मिथ्यात्व की आड़ को तोड़कर आत्मदर्शी सम्यक्दृष्टी हो जाता है और जगत्के स्नेहके फन्दे को छेदकर वैराग्यवान हो जाता है। ज्ञान वैराग्य से पूर्ण होकर जो सम्यक्चारित्र को पालता हुआ व्यवहार रत्नत्रय के अवलम्बनसे स्वात्मानुभवरूपी निश्चय रत्नत्रय में दृढ़तासे जमा रहता है वही सच्चा वीर है।

आगे के श्लोकमें यह बात बतलाते हैं कि इन सभी मतों को जानने के पहले भगवान् के द्वारा कहे हुये मार्ग का अनुकरण करना चाहिये:—

भूरिमतंगळं तिळिवुदुं पलरं मतिदोरि धर्मदोळ्।
सेरिपुदुं महोग्रतपदोळ् पडुवप्पुदुमात्मनं मनो—
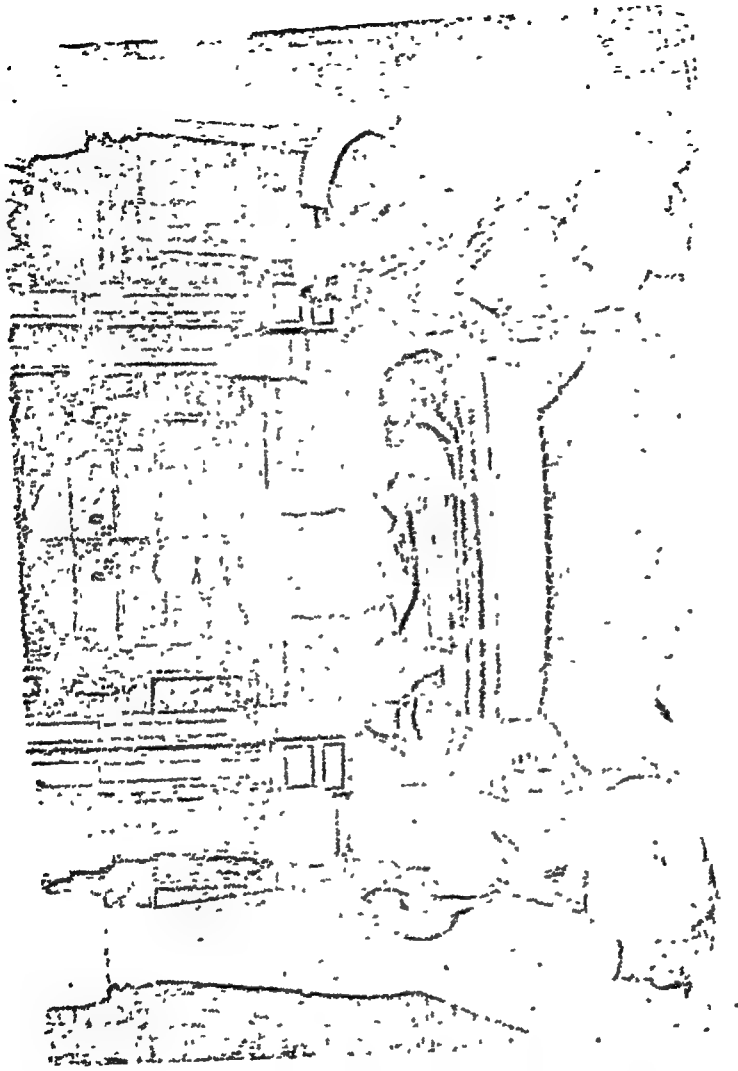
श्री १०८ आचार्य देशभूषणजी महाराज

रागदोळीव्ळसुत्ते भववंधमनिक्कुव बुद्धि सुम्मने।
वारददर्के निम्म करुणोन्नति वेकपराजितेश्वरा ! ॥२४॥

हे अपराजितेश्वर ! अनेक मत मतांतरों को जानकर उनका ज्ञान प्राप्त करना और उसके द्वारा सांसारिक अनेक जीवों को धर्म मार्ग में लगाना, अत्यंत कठिन तपस्या में उत्तीर्ण होना, आत्मा को प्रेमपूर्वक अपने ही अंदर देखते हुए भववंधन को नष्ट करने की सद्‌बुद्धि होना, क्या ये सब चीजें अपने आप आजाती हैं या इनका हो जाना तमाशा या खेल ही है ? भगवन् मैं तो समझता हूँ कि इन सब चीजों की प्राप्ति के लिए आपकी विशेष कृपा की आवश्यकता है ॥२४॥

Aparajiteshwar ! Is it a joke to obtain the know-ledge of several philosiphies and thereby to show the path of true religion to the mundane jivas, to succeed in the hard austerities, having true perception of the soul and to gain the intelligence to destroy the worldly bounds ? I think, your kindnees necessary for attaining all this.

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह वतलाया है कि अधिक मत मंतान्तरों को जानना, ज्ञान की प्राप्ति करके अनेक जीवों को उपदेश देकर सच्चे मार्ग में लगाना, अत्यन्त कठिन

तपस्या करने में चतुर होना आत्मा में दृढ़ता रखना और प्रेम पूर्वक आत्मा का वारंवार अपने अन्दर अवलोकन करते हुये संसार के मध वन्धन को नाश करने की वुद्धि प्राप्त करना आदि गुण मनुष्य में स्वयं नहीं आ जाते हैं। इन गुणों को प्राप्त करने के लिये पूर्व कर्म का उपशम तथा पुण्य कर्म के उदय की जरूरत है और दयामय धर्म ऊपर श्रद्धाभक्ति के साथ जिनेन्द्र भगवान् के वतलाये हुये मार्ग पर चलने तथा सांसारिक विषय वासनाओं को एक तरफ करके अपने मन में ज्ञान का अभ्यास करने की आवश्यकता है।

प्रश्नः—मनुष्य जीवन में सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति करने की लगन क्यों नहीं होती ?

उत्तरः—यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण मोह में इतना फंसा हुआ है कि इसका मन सर्वदा क्षणिक पर-पदार्थों में संचार किया करता है तथा मन बंदर की भांति इतना चंचल रहता है कि एक पल भी अपने सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में नहीं ठहरता, इसलिये आत्मा के अन्दर घुसे हुये पारा रूपी मिथ्यात्व को जब तक मन से निकाल कर वाहर नहीं किया जायगा तव तक सच्चे ज्ञान की प्राप्ति करके स्वपर का उपकार करना वहुत असंभव है। सार समुच्चय में कहा भी है कि:—

आत्मतत्त्वं न जानन्ति मिथ्यामोहेन मोहिताः।
मनुजा येन मानस्था विप्रलुब्धाः कुशासनैः ॥५२॥

एक तो मानवों के भीतर अनादिकाल का अगृहीत मिथ्यात्व होता ही है जिससे वे शरीरासक्त बने ही रहते हैं। दूसरे उनको विपरीत मार्ग का उपदेश मिल जाता है। एकान्त व असत्य धर्म के उपदेशों से लुभाकर वे कुदेवादिक की भक्ति में, सरागक्रियाओं में तथा हिंसाकारक आचरणों में सुख के लोभी हो तल्लीन हो जाते हैं। उनको वैराग्यमयी आत्मतत्व का उपदेश नहीं सुहाता है अतएव वे आत्मज्ञान को कभी भी नहीं जान पाते हैं। रात दिन मैं ऐसा मैं ऐसा, इस अहंकार में ग्रसित रहते हैं। मैं शुद्धात्मा हूँ यह ज्ञान उनमें कभी जागृत नहीं होता है।

प्राणी को अपना मन स्थिर करने के लिये इस प्रकार की भावना करनी चाहिये कि:—

यत्पश्यामि कलेवरं बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम् ।
तन्मे किंचिदचेतनं न कुरुते मित्रस्य वा विद्विपः ॥
आत्मा यः सुख दुःखकर्मजनको नासौ मया दृश्यते ।
कस्याहं वत सर्वसंगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च ।४१।तत्व०

यहां पर आचार्य ने राग द्वेष तथा मन की चंचलता मिटाने की एक रीति समझाई है। यह संसारी प्राणी उन मित्रों से प्रेम करता है, जो अपने वचनों से हमारे हित की बातें करते हैं व अपने आचरण से हमारी तरफ अपना हित दिखलाते हैं तथा उनको शत्रु समझकर द्वेष करता है जो हमारे अहित की बातें करते हैं व अपने व्यवहार से हमारी कुछ हानि करते हैं। सामा-

यिक करते हुये प्राणी के मन से राग द्वेष हटाने के लिये आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! तू किस पर राग व किस पर द्वेष करेगा जरा तुझे विचारना चाहिये।

यदि तू मित्र के शरीर से राग व शत्रु के शरीर से द्वेष करे तो यह तेरी मूर्खता ही होगी; क्योंकि शरीर बेचारा जड़ अचेतन है, वह न किसी का विगाड़ करता है और न सुधार ही। शरीर के अतिरिक्त उनका आत्मा है। उसको यदि सुख तथा दुःख का देनेवाला माने तो वह आत्मा बिलकुल नहीं दिखाई देता। उसका भाव यह हो गया है कि इन्द्रियों के भोगों से आत्मा को सुखशांति नहीं होती है। किन्तु उलटा राग-द्वेष की मात्रायें बढ़कर मोक्ष-मार्ग में विघ्न आता है। उसकी लालसा खाने पीने देखने आदि से हट गई हो तथा आत्मसुख का अनुभव होने लग गया हो और यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्री अपनी यात्रा में भिन्न भिन्न स्थानों में विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक यात्री है जिसकी यात्रा का ध्येय मोक्ष द्वीप है सो जब तक मोक्ष न पहुँचे तब तक यह भिन्न भिन्न शरीर में वास करता हुआ यात्रा करता रहता है तथा यह अविनाशी है।

शरीर के विगड़ने से आत्मा नहीं विगड़ता है। यह अनादि से अनन्त तक अपनी सत्ता रखनेवाला है। इस तरह जिसका लक्ष्य शरीर रूपी ठहरने के स्थान पर नहीं रहता है, किन्तु मुक्ति द्वीप में पहुँचना है यह लक्ष्य रहता है तथा जिस किसी शरीर में

कुछ काल के लिये ठहरता है उसे मात्र एक धर्मशाला जानता है उस शरीर में व उसके सम्बन्धी चेतन व अचेतन न जाने तब तक उस पर राग व द्वेप किस तरह किया जा सकता है ? तथा मेरा स्वभाव भी राग-द्वेप करने का नहीं है। मैं सर्वसंग से रहित हूँ। न मेरे में कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं, न शरीरादि नो कर्म हैं और न रागद्वेपादि भाव कर्म हैं। मैं निश्चय से सबसे निराला सिद्ध के समान ज्ञाता द्रष्टा अविनाशी पदार्थ हूँ। इसलिये मुझे उचित है कि समताभाव में रमण कर आत्मिक सुख का अनुभव करूँ। जगत में न कोई मेरा शत्रु और न कोई मेरा मित्र है।

इस प्रकार की भावना करने से आत्मा के अन्दर आत्मतत्व की रुचि तथा सांसारिक क्षणिक पदार्थों में अरुचि हो जाती है और तब यह आत्माराम वाह्य इन्द्रिय भोगों में रमण करना बन्द करके अपने आत्मतत्त्व में ही स्थिर होकर रमण करता है।

दूध व स्तन का परिज्ञान न होने के कारण इधर उधर भटकने वाले गाय या भैंस के नवजात बछड़े के मुंह को पकड़कर जैसे ग्वाला स्तन में पहले दो एक बार लगा देता है और उसके बाद दूध के स्वाद का परिज्ञान होते ही वह बछड़ा जिस प्रकार बंधन से मुक्त होते ही दौड़कर माता के स्तन को पकड़ कर मीठा दूध पीने लगता है; उसी प्रकार अज्ञान के कारण आत्मस्वरूप सुधामृत को छोड़कर क्षणिक-वासनाओं में रत रहकर इधर उधर भटकनेवाले अज्ञानी जीव को जब सद्गुरु रूपी ग्वाल पकड़कर उसके मुंह को

धर्मरूपी आत्मतत्व में लगाते हैं तव उसकी आदत धीरे धीरे सच्चे धर्म पर लग जाती है और इसीलिये उसके मन की चंच-लता दूर होकर आत्मतत्व में गाढ़ रुचि हो जाती है तथा थोड़ा भी समय पाते ही वह जीव धर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

पहले पहल अपने चंचल मन को स्थिर करके धर्म में आदत डालने में संसारी अज्ञानी जीव डरते हैं। कहा भी है कि:—

दुःखस्य भीरवोऽप्येते सद्धर्मं न हि कुर्वते।
कर्मणा मोहनीयेन मोहिता बहवोजनाः ॥५४ सारसमु०॥

जगत में सभी प्राणी दुःखों से डरते हैं और सदा सुख-शांति चाहते हैं, तथापि वहुत से मानव दुःख के कारण अधर्म को नहीं छोड़ते और सच्चे सुखके कारण सद्धर्म को नहीं पालते। जैसे कोई रोगी निरोग रहना चाहे, परन्तु रोगके कारणोंको नहीं त्यागे और यथार्थ औषधि का सेवन नहीं करे तो वह अधिकतर रोगी होकर क्लेश ही भोगेगा। इसी तरह अज्ञानी मानव स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब के मोह के भीतर ऐसे अन्धे हो जाते हैं कि कभी न तो सचे धर्मको समझने का प्रयत्न करते हैं और यदि समझ भी लेते हैं तो उसका आचरण नहीं करते हैं। अतएव दुःखों से भयभीत होने पर भी दुःख ही पाते हैं। उनको सुख का मार्ग कभी नहीं प्राप्त होसकता।

अब आगे कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग को छोड़ कर किसी अन्य मार्ग पर दृष्टि डालने योग्य नहीं है।

कुडुव समर्थरारखिळलोंकके नीं पोहगागि मानवं ।
पडेच पदंगळावुवु तपं श्रुतमुं पोरगागि चल्लवं ॥
पिडिव सुवस्तुवावुदु मणित्रियं तपं पोरगागिं सोल्तु क ।
ण्णिडुवेडेयावुदात्मविभवं पोरगागपराजितेश्वर ! ।२५।

हे अपराजितेश्वर ! आपके अतिरिक्त संसारी लोगों को सुख का मार्ग बतलाने के लिए कौन समर्थ है ? शास्त्रज्ञान और तपस्या के अतिरिक्त मनुष्यको सुख प्राप्त करने के लिए क्या और भी कोई साधन है ? सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के बिना ज्ञानीको धारण करने योग्य और कौन अन्य वस्तु है ? आत्म-स्वरूप की संपत्तिके बिना मनुष्य को दृष्टि लगानेके लिए क्या अन्य भी कोई सम्पत्ति या स्थान है ? ॥२५॥

Aparajiteshwar ! Who except you is capable of showing the way to happiness to the mundane jivas ? Is there any other way of obtaining happiness, than penances and the knowledge of scriptures ? What else is worthy to be obtained for a knower, than Right Belief, knowledge and Conduct ? Is there any other object to concentrate upon, than the treasures of the soul ?

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बात बतलायी है इस संपूर्ण जगत् के प्राणियों को सुख देनेवाला कोन है ?

उत्तरः—भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय मार्ग की आराधना करनेवाला भव्य प्राणी ही संसारी जीवों को सुख देनेवाला है।

रत्नत्रय मार्ग दो प्रकार का है। एक व्यवहार और दूसरा निश्चय। व्यवहार मार्ग साधक और निश्चय मार्ग साध्य है। गृहस्थाश्रम का अवलंबन व्यवहार-धर्म पर है और मुनिधर्म निश्चय पर अवलंबित है। सर्व प्रथम गृहस्थ व्यवहार धर्म को ग्रहण करता है तत्पश्चात् निश्चय धर्म का आश्रय लेता है।

पहले चौथे श्लोक के विवेचनमें पच्चीस मल दोष रहित तथा शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थों के श्रद्धान रूप सराग सम्यक्त्व नामक व्यवहार सम्यक्त्व का निरूपण किया गया है और इसी प्रकार उस व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा परम्परा से साधने योग्य उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद रूप सुखामृत रस का आस्वादना ही उपादेय है। इन्द्रिय जन्य सुखादिक हेय हैं ऐसी रुचिरूप तथा वीतराग चारित्र के विना न होनेवाला वीतराग सम्यक्त्व नामक निश्चय-सम्यक्त्व जानना चाहिये। भगवान के द्वारा कहे हुये मार्ग या उनके तत्त्व पर श्रद्धान रखनेवाले जीव को सम्यग्दृष्टी कहते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टी जीव मर-करके-नीच कुल, स्त्री पर्याय, नपुंसक, ज्योतिष देव तथा दरिद्री आदि नहीं होते हैं और भगवान के द्वारा प्रतिपादित वाणी में विश्वास रख कर जो पुरुष तप व संयम को धारण करके जैसा सुख-शान्ति

का स्थान प्राप्त कर लेता है वैसा स्थान इस जीव को दूसरा कोई नहीं है।

कहने का मतलब यह है कि इस जीव को रत्नत्रय के सिवाय तीनों लोक में ग्रहण करने योग्य और कोई वस्तु नहीं है अर्थात् यह रत्नत्रय संपत्ति उन्हीं को प्राप्त हो सकती है कि जो दर्शन से शुद्ध हैं। वे जीव दीप्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और विभव सहित होते हैं और उत्तम कुलमें जन्म लेनेवाले, विपुल धनशाली तथा श्रेष्ठ होते हैं वे ही सम्यग्ज्ञानी जीव रत्नत्रय संपत्ति को प्राप्त कर सकते हैं अन्य नहीं। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें समंतभद्राचार्यने कहा है कि:—

ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर देवोंमें, नीचे के छह नरकोंके पृथिवियोंमें, मनुष्यमें, स्त्रियोंमें तथा देव स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टी नहीं उत्पन्न होता।

शंका:—औपशमिक वेदक और क्षायिक नामक तीनों सम्यक्त्वोंमें से किस गति में कौन में सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है?

उत्तर:—सौधर्मादि स्वर्गों में असंख्यात वर्ष की आयु के धारक तिर्यंच और मनुष्योंमें अर्थात् भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यंचोंमें तथा रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक की पृथ्वी में जीवोंके उपशम, वेदक और क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व होते हैं और जिसने आयु को बांध लिया है या आयु को प्राप्त कर लिया है ऐसे कर्म-

भूमिके मनुष्य में तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं; परन्तु अपर्याप्त अवस्थामें औपशमिक सम्यक्त्व महर्द्धिक देवोंमें ही होता है।

इसीप्रकार गोम्मटसार के जीवकाण्ड में लिखा है:—

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥१२७॥

(गो० जी०)

द्वितीयादिक छह नरक और ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी ये तीन प्रकार के देव तथा संपूर्ण स्त्रियाँ इनकी अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता और सासादन सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त नारकी नहीं होता।

अब दूसरे रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके अवयवरूप सम्यग्ज्ञानके स्वरूप की प्राप्ति करने का विवेचन करते हैं:—

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयमेयं तु ॥ ४२ ॥

(वृहद्रव्यसंग्रह)

आत्मस्वरूप और अन्य पदार्थ के स्वरूपका जो संशय, विमोह (अनध्यवसाय) और विभ्रम (विपर्यय) रूप कुज्ञान से रहित जानना है वह सम्यग्ज्ञान है। यह आकार (विकल्प) सहित है और अनेक भेदों वाला है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन भेदों से वह सम्यग्ज्ञान पांच प्रकार का है। अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा द्वादशांगरूप अंग और अंगबाह्य इन भेदों से दो प्रकार का है। उनमें द्वादश (१२) अंगों के नाम कहते हैं। आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिक दशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाक सूत्रांग और दृष्टिवाद ये द्वादश अंगों के नाम हैं। अब दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत तथा चूलिका इन भेदों से पांच भेद हैं, उनका वर्णन करते हैं। उनमें चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, सागरप्रज्ञप्ति, और व्याख्याप्रज्ञप्ति इस तरह परिकर्म पांच प्रकार का है। सूत्र एक ही प्रकार का है। प्रथमानुयोग भी एक ही प्रकार का है। पूर्वगत दृष्टिवाद उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व , वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणपूर्व, प्राणानुवादपूर्व, क्रियाविशाल पूर्व और लोकसारपूर्व इन भेदोंसे चौदह प्रकार का है। जलगतचूलिका, स्थलगतचूलिका, आकाशगतचूलिका, हरमेखला आदि माया स्वरुप चूलिका और शाकिन्यादिरूप परावर्त्तन चूलिका इन भेदों से चूलिका पांच प्रकार की है। इस प्रकार संक्षेप से द्वादशांग का व्याख्यान है और जो अंग बाह्यश्रुतज्ञान है वह सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-

व्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक और अशीतिक इन प्रकीर्ण रूप भेदों से चौदह प्रकार का जानना चाहिये।

अथवा श्री ऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थंकर, भरत आदि बारह चक्रवर्ती, विजय आदि नौ बलदेव, त्रिपिष्ट आदि नौ नारायण और सुग्रीव आदि नौ प्रतिनारायण सम्बन्धी तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण हैं उनको प्रथमानुयोग कहा जाता है। उपासकाध्ययनादि श्रावक का धर्म और मूलाचार भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में मुनि-धर्म जहां मुख्यता से कहा गया है वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है। त्रिलोकसार में जिनान्तर (तीर्थंकरों का अन्तरकाल) और लोक विभाग आदि व्याख्यान हैं ऐसे ग्रन्थों को करणानुयोग जानना चाहिये। समयसार आदि प्राभृत और तत्त्वार्थसूत्र तथा सिद्धान्त आदि शास्त्रों में मुख्यता से शुद्ध अशुद्ध जीवादि छह द्रव्य आदि का जो वर्णन किया है वह द्रव्यानुयोग कहलाता है। इस प्रकार उक्त लक्षण के धारक जो चार अनुयोग हैं उनका चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानने योग्य, है। अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और प्रकरण इत्यादि शब्दों का अर्थ एक ही है। अथवा छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थ में निश्चय नय से अपना शुद्ध आत्म द्रव्य अपना शुद्ध जीव अस्तिकाय, निज शुद्ध आत्म पदार्थ केवल उपादेय है। इसके सिवाय शुद्ध अशुद्ध पर-जीव अजीव आदि सभी हेय

हैं। इस प्रकार हेय तथा उपादेय भेदों से व्यवहार ज्ञान दो प्रकार का है।

जो सम्यग्ज्ञानी जीव भगवान् जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुये नैगम संग्रहादि नयों का अवलंबन करके निश्चय तत्त्वको प्राप्त करने के लिये मिथ्यात्वरूपी गाँठ को ढीली करते करते गृहस्थ धर्म पद पर शक्ति के अनुसार क्रम क्रम से आरोहण करते हैं उनकी संपूर्ण मिथ्यात्वरूपी ग्रन्थी जब पूरी नष्ट हो जाती है तब गृहस्थी कार्यबंधन छूट जाता है।

श्रावकोंके भेद उनकी श्रेणियाँ तथा स्वशुद्ध आत्माके अनुभव रूप, शुद्धोपयोग स्वरूप वीतराग चारित्र परम्परा से साधनेवाला जो सराग चारित्र है उसका स्वरूप यह है:—

जो अशुभ कार्य से निवृत्त होकर शुभ कार्य में प्रवृत्त होता है उसका नाम चारित्र है। जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहारनयसे उस चारित्र को पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप कहा है।

मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने पर शुद्धात्म आध्यात्म भावके अनुसार, निज शुद्धात्मके अनुसार, निज शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणाम होने पर शुद्धात्म भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थस्वरूपी अमृत को उपादेय करके संसार शरीर और भोगों से जो हेय बुद्धि है अर्थात् संसार शरीर और भोग त्यागने योग्य हैं ऐसा जिसने समझा है वह सम्यग्दर्शन

शुद्ध चतुर्थ गुण स्थान वाला व्रत रहित दार्शनिक है और जो अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायोंके क्षयोपशम होने पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावरों के वधसे प्रवृत्त हो तो भी अपनी शक्ति के अनुसार त्रस जीवों के वध से रहित होता है अर्थात् यथाशक्ति त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता है उसको पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक कहते हैं।

उन पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकोंके ग्यारह भेद हैं। पहले सम्यग्दर्शन को धारण करके जो सोलहवें श्लोक के विवेचन में मद्य-मांसादि तथा पांच उदम्बरों का वर्णन किया है उन्हीं का त्यागरूप आठ मूलगुण है। इन गुणों को पालता हुआ जो मनुष्य युद्ध आदि में प्रवृत्त होने पर भी किसी को मारने का संकल्प करके शिकार आदि द्वारा जीवघात नहीं करता है उसे दार्शनिक श्रावक कहते हैं।

वही दार्शनिक श्रावक जब त्रस जीव की हिंसा से सर्वथा रहित होकर पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का आचरण करता है तब दूसरा व्रती नामक श्रावक होता है। जब त्रिकाल सामायिक में प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमा का धारी होता है। प्रोषध उपवास में जब प्रवृत्त होता है तब चतुर्थ प्रतिमाधारी होता है। सचित्त के त्यागने से पंचम प्रतिमाधारी होता है। दिन में ब्रह्मचर्य धारण करने से छठी प्रतिमाधारी होता है। सर्वदा ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने से सप्तम प्रतिमा धारी होता

होता है। आरंभादि संपूर्ण व्यापारों का त्यागी अष्टम प्रतिमाधारी कहलाता है। पहनने ओढ़ने वाले वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण परिग्रहों को त्याग देने से नवम प्रतिमाधारी होता है। गृह संबंधी व्यापार आदि समस्त सावद्य पाप जननकार्यों में जब सम्मति देने का भी त्याग करता है तब दशवीं प्रतिमा धारी होता है तथा अपने निमित्त बनाये हुये आहार का त्याग करनेवाला ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है। इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों में जो पहली छह प्रतिमा वाले हैं वे जघन्य श्रावक कहलाते हैं, सातवीं, आठवीं और नवमी इन तीन प्रतिमाओं के धारी मध्यम श्रावक तथा दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करनेवाले उत्तम श्रावक होते हैं। इस प्रकार जो श्रावकों की ग्यारह श्रेणियां पालन करता हुआ जिनेन्द्र भगवान् के अखंड आत्म संपत्ति की तरफ एकाग्रतापूर्वक ध्यान लगाता है उसे अखंड संपत्ति मिलती है और इसके विपरीत दृष्टि रखनेवाले महामूढ़ मिथ्यादृष्टी को कभी नहीं मिलती है। जिन्होंने अपने प्रयत्नके साथ भगवान्की संपत्तिमें दृष्टि डाली है उन्हें अन्य क्षणिक दुःखदायी बाह्य पदार्थों में दृष्टि डालने की क्या आवश्यकता है? कुछ भी नहीं।

अब आगे यह बतलाते हैं कि आत्मस्वरूप भगवान् की संपत्ति, तप या भगवान् के मार्ग से घबड़ाने से नहीं प्राप्त हो सकती।

पुटविड्डवल्लि किच्चिनुरिगंजिदोडा कनकक्के कूडिदा।
कुटिलते पोकुमे मलकलंकमनूदि कळल्चि कांति स—

पुट दोळगात्मनं निलिसि निर्मलनागुवनेंब भव्वनु-
त्कट तपदुव्वेगळ् किडोडे सिद्धिपुदे अपराजितेश्वरा ! ।२६।

हे अपराजितेश्वर ! सुवर्णके कालिमादि मलको दूर करनेके लिए तपानेको अग्निमें रक्खा जाय और यदि वह अग्नि ही बुझजाय तो सुवर्ण में लगी हुई कीट कालिमा नष्ट हो जायगी क्या ? इसी प्रकार आत्मा में लगे हुये कर्मरूपी मल को दूर करने के लिए ध्यान या तपरूपी अग्नि में कर्मरूपी कीटक को रख दिया जाय और यदि वह तप रूप अग्नि ही मंद पड़ जाय या शांत हो जाय तो कर्मरूपी मल नष्ट होकर शुद्धात्माकी प्राप्ति होगी क्या ? अर्थात् तप और कठिन परिषह उपसर्गों से घबराने से शुद्धात्मा की सिद्धि नहीं हो सकती ॥२६॥

Aparajiteshwar ! If gold is placed in fire for the purpose of purification and the fire gets extinguished, would the gold get purified ? In the same way, would the Karmic dust get removed and the pure soul be attained if the fire of "Meditation & Penances" gets extinguished ? That is, pure soul cannot be attained by fearing the penances and hard austerities (Sufferings & Tortures).

विवेचनः—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने बताया है कि जैसे सोने के भीतर के मल को निकालने के लिये सोने को अग्नि में डाला

जाता है तभी वह शुद्ध होता है। अगर अग्नि से ही सोना डरे तो उसका भीतरी मल कैसे हटेगा और किस तरह साफ होगा? उसी तरह आत्मा में लगे हुये कर्मरूपी मल को दूर करने के लिये तप तथा आत्मध्यान रूपी अग्नि की आवश्यकता है। यदि यह आत्मा ही कठिन तप रूपी ताप से भयभीत हो जाय तो क्या विशुद्ध हो सकता है? कदापि नहीं।

जैसे योद्धा, शत्रु का सामना करते समय यदि वह शत्रु को सामने देखते ही घबड़ा जाय तो उसे कैसे जीत सकता है? उसी प्रकार आत्माराम के पीछे लगे हुये कर्मरूपी शत्रु का नाश करने के लिये यह आत्मा तप, व्रत, नियम व संयमादि पालने में यदि कायर बन जाय तो क्या वह कर्म निर्जरा कर सकता है? कभी नहीं।

इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे सांसारिक भोगादि विषयों से अपने मुख को मोड़कर निराकुल आत्मस्वरूप का अभ्यास करते हुये उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहें। कहा भी है कि:—

वैराग्यं त्रिविधं निधाय हृदये हित्वा च संगं त्रिधा।
श्रित्वा सद्गुरुमागमं च विमलं धृत्वा च रत्नत्रयं॥
त्यक्त्वान्यैः सह संगतिं च सकलं रागादिकं स्थानके।
स्थातव्यं निरुपद्रवेऽपि विजने स्वात्मोत्थसौख्याप्तये॥

॥तत्वज्ञान० १७-३॥

जो पुरुष आत्मिक शांतिमय सुख के अभिलाषी हैं या उसे हस्तगत करना चाहते हैं तो उन्हें चाहिये कि वे संसार, शरीर और भोगों का त्याग रूप तीन प्रकार का वैराग्य धारण कर, चेतन अचेतन और मिश्र तीनों प्रकार का परिग्रह छोड़कर, निर्ग्रन्थगुरु, निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय का आश्रय कर, दूसरे जीवों का सहवास और रागद्वेष आदि का सर्वथा त्यागकर सब उपद्रवों से रहित एकांत स्थान में निवास कर अपने स्व स्वरूप का चिंतवन करें। इसी प्रकार सार समुच्चय में भी कहा है कि:—

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन ।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ॥१३॥
अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम् ।
प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः ॥१४॥

आत्मा अनात्मा का भेदविज्ञान सहित सम्यग्ज्ञान का पाना बड़ा ही दुर्लभ है। असैनी पंचेन्द्रिय पर्यंत के तो योग्यता ही नहीं है। सैनी पंचेन्द्रिय होकर भी अनंतवार सम्यग्ज्ञान के पाने का निमित्त ही नहीं बना। बड़े पुण्यके उदय से आर्यखंड उत्तम कुलमें मनुष्य जन्म मिला, इन्द्रियों की पूर्णता हुई, बुद्धि प्रबल पाई, जिन धर्मके उपदेश का समागम मिला, सात तत्त्वों को जाना, उनका मनन किया, परिणामों की शुद्धता हुई, करणलब्धिका लाभ हुआ, अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम हुआ,

तब कहीं प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का लाभ हुआ। सम्यग्दर्शन के प्रकाश बिना शास्त्रों के द्वारा तत्त्वों का ठीक ठीक ज्ञान होने पर भी अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं होती है। सम्यग्दर्शन के प्रकाश होते ही सर्वज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आचार्य कहते हैं कि जिस सम्यग्ज्ञानरूपी महान् रत्न को अनादिकाल से अबतक नहीं पाया था, वह अब बड़े भारी शुभ योग से मिल गया है। इस सम्यग्ज्ञानको महारत्न की उपमा इसलिये दी गई है कि तीनों लोक की सम्पत्ति भी इसके सामने तुच्छ है। तथा यह रत्न ऐसा प्रकाशवान् है कि इसके उजाले में अपना शुद्धात्मा भिन्न दिखाई देता है और रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म तथा शरीरादि नौकर्म अपने आत्मासे बाहर के चेतन व अचेतन पदार्थ भिन्न दीखते हैं। इसी के प्रकाशसे स्वानुभवरूपी सीधे मार्ग का पता लगता है, जिस पर चलने से बहुत शीघ्र निराकुल मोक्षधाम में पहुँच सकता है और भयानक संसार के जन्म मरण इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगजनित तृष्णा की दाह से प्राप्त असहनीय दुःखों से छूट सकता है। ऐसे अपूर्व सम्यग्ज्ञान को पाकर हे भाई! यदि तू फिर प्रमाद करेगा, निश्चय तथा व्यवहार सम्यक्चारित्र का पालन न करेगा और पाँचों इन्द्रियोंके भोगोंमें लुभाकर जीवन व्यर्थ बिता देगा तो अंतमें पछताएगा तथा भव भवमें कष्ट उठाएगा और जब मनुष्य जन्म की याद आजायगी तब हा! मैंने उत्तम अवसर को वृथा खो दिया, कांच खंड के समान विषय सुख के लाभ में रत्न

समान आत्मानन्द को फेंक दिया इस प्रकार पश्चात्ताप करेगा।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने इष्टोपदेश में कहा है कि:—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
　जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥
आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतं ।
　न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

जो व्यवहार प्रपंच से बाहर होकर आत्मा के ध्यान में तन्मय होता है उस योगी को योगबलसे कोई अपूर्व परमानंद अनुभवमें आता है। वही आनंद निरंतर कर्मरूपी ईंधन को जलाता है, आनंदभोगी योगी बाहरी परीषह उपसर्गों के पड़ने पर भी उनकी तरफ ध्यान न लगाता हुआ किंचित् भी क्लेश को नहीं प्राप्त होता है। अतएव जो अपना हित करना चाहें उनको व्यवहार मोक्ष मार्ग पर चलकर निश्चय मोक्षमार्ग का लाभ कर लेना चाहिये। प्रमाद से इस नर जन्म के समय को न खोना चाहिये।

आगे कहते हैं कि स्त्री आदि इष्ट वस्तु ही दुःख के लिये कारण है।

रागके रोपकागि ललनादिवियोगदोळुग्रयुद्धदोळ् ।
　नीगि देनंगकोटिगळनंतदरिं भवरोगियादेना ॥
रोगद मूलमं सुड्डुव घोरतपंदळ दोंदु कापमं ।
　त्यागिसलंज्ञुतिर्दपनेला भ्रतिदोरपराजितेश्वरा ! ॥२७॥

हे अपराजितेश्वर ! स्त्री आदि इष्ट वस्तुओं के संयोग वियोग में राग द्वेष के वशीभूत होकर भयानक युद्धों में तथा क्रोधादिक कषायों के करने में मैंने अनादिकाल से अनेक जाति के शरीर विताये हैं, इसलिये भवरोगी हुआ मैं उस भवरोग के मूल कारण को जड़ से जलाने के लिये अत्यन्त घोर तथा कठिन तप करके शरीर को छोड़नेके लिये भयभीत हो रहा हूँ। ओहो ! हे भगवन् ! मुझे धैर्य प्रदान करो ॥२७॥

Aparajiteshwar ! Since eternity I have been losting many lives of variou kinds and nature (Gaties) being passionate with anger etc. and in fighting horrible wars, being enslaved by the feelings of Raga Dvesha, causing out of the contact and separation of women etc. and other favourable objects. So being a World-Patient I am fearing in leaving (the attachment of) the body to burn down the soul cause of this World Disease, with austere penances. O' Lord ! Endow me with patience.

विवेचनः—ग्रन्थकारने इस श्लोकमें यह बताया है कि इस जीवात्मा ने स्त्री इत्यादि इष्ट वस्तुओं के वियोगमें, रागद्वेष में, युद्धादि में तथा क्रूर क्रियायोंमें अनेक वार अनेक शरीर धारण किये और छोड़ दिये। परन्तु भवरोगके मूल जड़को नष्ट करनेके

लिये घोर तथा अत्यंत कठिन तप के द्वारा हमेशा के लिये इस शरीरको नष्ट कर संसार या शरीर से मुक्त होनेके लिये प्रयत्न नहीं किया। कितने आश्चर्य की बात है! इस मोहके निमित्त से इस जीवने कौन २ से कष्ट नहीं पाये?

देखो जयकुमार भरत चक्रवर्ति के सेनापति का एक दृष्टांत-यह कथा हरिवंश पुराण में प्रसिद्ध है:—

अनेक स्त्रियोंसे युक्त हस्तिनापुर का स्वामी राजा जयकुमार अपने महल की छत पर बैठा था कि उसी समय एक विद्याधर विद्याधरी के साथ उनके सामने से निकला। जिसे देखते ही वह जयकुमार मूर्छित हो गया। उसकी ऐसी विलक्षण दशा देखकर अंतःपुर की रानियाँ घवड़ा उठीं। सबकी सब उनकी मूर्छा दूर करने का उपाय करने लगीं। जब उन्हें कुछ होश आया तो वे "हाय प्रभावती तू कहाँ चली गई" इत्यादि बार बार कहते हुये उठे और उसी समय उन्हें पूर्व जन्मका स्मरण हो आया। उधर रानी सुलोचना भी महल के छज्जे पर कबूतर को कबूतरी के साथ क्रीड़ा करते देखकर मूर्च्छित हो गई। शीतोपचार आदि से उसकी मूर्च्छा भी दूर की गई। उसे भी अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया और होश में आते ही हिरण्यवर्मा का नाम पुकारने लगी। हिरण्य-वर्मा का नाम सुनते ही जयकुमारने कहा प्रिये मेरा ही नाम हिरण्यवर्मा था। प्रसन्न होकर सुलोचना भी कहने लगी मैं ही पूर्व भव की प्रभावती हूँ। इस प्रकार अपने को पूर्वभव का विद्याधर

जान जयकुमार और सुलोचना को परम आनंद प्राप्त हुआ। वे दोनों आपस में वड़े प्रेम से वार्तालाप करने लगे। अन्य अंतःपुर के लोगों को इनकी विचित्रता को देखकर वड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उसी समय उस हालके जानने की तीव्र अभिलाषा प्रकट की। कौतुक सुनने के लिये इस प्रकार उत्सुक देख रानी सुलोचना ने उनके संदेह को दूर करने के लिये अपने प्राणपति से आज्ञा मांगी। आज्ञा पाते ही वह अपना और अपने प्राणपतिका पहिले चार जन्मों का चरित्र, सुखदुःख, संसार की मोह महिमा की विचित्रता व संयोग वियोग तथा उसके साथ भोग भोग-विलास का वर्णन इस प्रकार करने लगीः—

किसी जगह इसी पृथ्वीपर सुकांत और रतिवेगा नामके दो स्त्री पुरुष निवास करते थे। वहीं पर जिसका दूसरा नाम भवदेव भी था ऐसा कोई उर्ट्टिटिकारी नामका पुरुष भी रहता था। किसी कारण से उर्ट्टिटिकारीका सुकांत और रतिवेगा से वैर पड़ गया। उर्ट्टिटिकारी वड़ा निर्दयी था। इसलिये उस दुष्ट ने उन दोनों स्त्री पुरुषों को अग्नि में जलाकर वड़ी क्रूरता से मार डाला। इधर ये दोनों दंपति तो अपने परिणामानुसार कवूतर कवूतरी हुए और उधर उर्ट्टिटिकारी को राजा शक्तिषेण के सामंत ने अग्नि में जला कर मारा सो मार्जार हुआ। उस दुष्टने वहां पर भी अपना वैर न छोड़ा। दीन कवूतर कवूतरी के जोड़े को निर्दयतासे भक्षण कर डाला जिससे कि उन्हें मरते समय वड़ी पीड़ा सहन करनी

पड़ी। कबूतर कबूतरी के जीवन ने किसी समय मुनिराजके लिये किसी को दान देते समय देख अनुमोदना की थी। इसलिये उस पुण्यके उदय से कबूतर का जीव तो विद्याधरकी परम विभूतिका भोक्ता श्री हिरण्यवर्मा नामका विद्याधर हुआ और कबूतरीका जीव उसकी आज्ञाकारिणी प्रभावती नामकी स्त्री हुई। एवं वह मार्जार विद्युद्वेग नामका चोर हुआ। किसी समय संसार को अनित्य मानकर राजा हिरण्यवर्मा और रानी प्रभावती ने समस्त राज्यका त्याग कर दिया और वनमें जाकर मुनि और आर्यिका होगये। तपस्या करते हुये इन्हें इधर उधर घूमने वाले चोर विद्युद्वेग ने देखा और पूर्व भव के प्रबल वैरके बल से इन्हें वहां भी प्राणों से रहित कर दिया। परिणामोंकी संक्लेशता से मरकर मुनि और आर्यिका प्रथम स्वर्गमें देव और देवांगना हुए। विद्युद्वेगके जीवको राजाने कारावास (कैद) का दंड दिया। वहां पर चांडाल के उपदेश से उसे ज्ञान की प्राप्ति हुई। परन्तु तो भी मुनि आर्यिकाकी प्रबल हत्यासे वह प्रथम नरकमें गया। वहांसे निकलकर ज्ञानकी महिमासे भीम नामका वणिक् पुत्र हुआ और संसारसे उदासीन होकर परम संयमी हो गया। कदाचित् मुनि और आर्यिकाके जीव देव देवांगना मध्यलोक में क्रीड़ार्थ आये थे कि मुनिराज भीमदेवका उन्हें दर्शन हो गया। उनसे देवधर्मका स्वरूप पूछा। मुनिने पूर्वभवके चरित्र के साथ देव धर्म का स्वरूप वर्णन किया। और उस समय से वे मुनि, देव और देवांगना तीनों ईर्षा

रहित निःशल्य होगये। मुनिराज भीमदेव तो उसी भवमें मोक्ष चले गये और हम दोनों स्वर्गमें चयकर यहां पर जयकुमार और सुलोचना नामके राजा रानी हुए। इस प्रकार इस मोही जीवात्माने अपने स्त्री पुत्र आदि के लिये किस किस जीव के साथ वैर नही किया ?

इस प्रकार वैर करके संसार में अनंतवार भ्रमण करते हुए निजात्मसिद्धि की प्राप्तिके लिये इस शरीर के द्वारा कठिन संयम या तप करके आत्मसिद्धि प्राप्त नहीं की। इसलिये ज्ञानी जीव को हमेशा इस प्रकार भावना रखकर हमेशा धर्माचरण की आराधना कर आत्मसाधन की व्यवहार क्रिया को साधनी चाहिये।

चाणक्य नीति में भी कहा है कि:—

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहता।
मित्रेऽवंचकता गुरौ विनयता चित्तेऽतिगंभीरता॥
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञानता।
रूपे सुन्दरता जिने भजनता त्वय्यस्ति भो राघव॥

धर्ममें अभिरुचि रखना, मुखसे हमेशा मधुर वचन बोलना, चारों दानमें हमेशा उत्सुकता रखना, गुरुजनोंके साथ हमेशा नम्रता रखना एवं उनकी आज्ञा मानना, चित्तमें हमेशा गंभीरता या शांति धारण करना, आचरण तथा शील में सदा रत रहकर मलिनता नहीं आने देना, गुणों में हमेशा निर्मलपना तथा रसि-

कता रखना, सच्चे शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना, रूपादिक की सुन्दरता को प्राप्त करना; और जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति रखना यह सभी आत्म-साधना है।

आगे कहते हैं कि इस प्रकार साधन नहीं करेगा तो हे आत्मन् ! तुझे फिर भी बार २ नरकों में डूबना पड़ेगा।

पोगदे पोद पोद भवकोटिगळोळ्बळिसंदु कोंदु तां।
कूगूव मोहराक्षसननुग्रतपोभरधीरनागि नां ॥
तागुवेनेंदु तळ्तरिदु गेल्वेनदेंदु जगक्के मित्रना-
नागूवेनेंदु निन्नेडेयनेय्दुवेनेंदपराजितेश्वरा ! ॥२८॥

हे अपराजितेश्वर ! बीते हुये अनेक भवों में न जाकर मेरे साथ साथ शत्रु के समान पीछा करनेवाले तथा जन्म मरण के अधीन बनाने वाले इस मोहरूपी राक्षस से कठिन तपस्या के द्वारा धीरवीर बनकर मैं कब अलग होऊंगा और कब तीन लोकों का मित्र बनकर आप जैसा हो जाऊंगा ॥२८॥

Aparajiteshwar, When, by means of penances, shall I be devoid of this demon of delusion who like an enemy has persued me birth after birth making me subject to birth & death; and when shall I be like you becoming friend to the three worlds ?

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि

संसारी भव्य जीवात्मा कहता है कि अनेक भवों से शत्रु के समान मेरे पीछे पड़े हुये मोह रूपी राक्षस से कठिन तप के द्वारा धीर वीर बनकर सर्वदा के लिये अलग होकर मैं अखंड मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति कब करूंगा ? मेरा आत्मा इस मोह रूपी पिशाच के अधीन होने के कारण अनेक भव भव में भ्रमण करता हुआ जहां तहां नाना प्रकार के कष्टों को भोगता हुआ चारों गतियों में घूम रहा है।

पंचास्तिकाय में श्री कुंदकुंदाचार्य स्वामी ने कहा है कि—

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ॥१२६ द्वि०॥

चारों गतियों में भ्रमण करनेवाला एक ही जीवात्मा है तथा यह जीवात्मा सर्वदा पारिणामिक दृष्टि से चारों गतियोंको प्राप्त होता है।

जैसे कि देव गतिवाले जीव चार समूह रूप से चार प्रकार हैं, मनूष्य कर्मभूमि और भोगभूमिवाले हैं, तिर्यंच गतिवाले विविध प्रकारके हैं तथा नारकीय पृथ्वी के भेद के प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—देवों के चार समूह हैं, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। मनुष्यों के दो भेद हैं—एक वे जो भोग भूमि में जन्मते हैं और दूसरे वे जो कर्मभूमि में पैदा होते हैं। तिर्यंच अनेक प्रकार के हैं। पृथ्वी आदि पांच एकन्द्रिय तिर्यंच हैं।

शम्बूक आदि दो इन्द्रिय, जूं आदि तीन इन्द्रिय, डांस आदि चार इन्द्रिय ऐसे तीन प्रकार विकलत्रय तिर्यंच हैं। जल में चलनेवाले, भूमि में चलनेवाले तथा आकाश में उड़नेवाले द्विपद, चतुष्पद आदि पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं। रत्न, शर्करा, वालुका, पंक, धूम, तम तथा महातम ये सात पृथ्वी हैं जिनमें सात नरक हैं, उनमें निवासी नारकीय हैं। यहां सूत्र का भाव यह है कि जो जीव सिद्ध गति की भावना से रहित हैं अथवा सिद्ध के समान अपना शुद्धात्मा है, इस भावना से शून्य हैं उन जीवों ने जो नारकादि चार गतिरूप नामकर्म वांधा है, उसके उदय के आधीन ये जीव देवादि गतियों में पैदा होते हैं।

इस गाथा में आचार्यदेव ने यह दिखलाया है कि चार तरह की गति या जीवन की अवस्था जगतभर में पाई जाती है। कर्म वंधन रहित जीव इनमें से किसी अवस्था को धारण करता हुआ संसार के दुःख और सुखों को भोगता है और रागद्वेष मोह के कारण नये कर्मोंको बांधता है। जैन सिद्धांत में चार आयुकर्म और चार ही गतिनाम के नामकर्म वतलाये गये हैं। जब एक जीव किसी शरीर को त्यागता है तब आगे के लिये जैसा आयुकर्म वंधा होता है उसी आयु का व तदनुकूल गति का उदय हो जाता है। इन्हीं के उदय की प्रेरणा से विशेष गति की ओर खिंचा हुआ चला जाता है। आयुके उदयसे किसी गति में बंधा रहना होता है व गति के उदय से किसी आयुमें बंधा रहना होता है एवं गति

के उदय से विशेष अवस्था प्राप्त होती है। एक जीव चार में से एक ही प्रकार की आयु का बंध आगे के लिये करता है। यद्यपि गति में चारों का ही बंध अपने परिणामों के अनुसार करता रहता है तथापि जिस आयु का उदय शुरू होता है—उसी गति का उदय उस आयुके साथ हो जाता है। देवों की अवस्था विशेष पुण्य के उदय से अन्योंसे विलक्षण होती है—अस्थि, मांस, रुधिर रहित दिव्य चमकते हुये आहारक वर्गणाओं का बना हुआ उनका वैक्रियिक शरीर बहुत सुडोल, परम सुंदर, मनुष्य के आकार, पांच इन्द्रिय और मन सहित होता है। हाथ, पग, मुख, नासिका, चक्षु, कर्ण, मस्तिष्क आदि सब मनुष्यके समान आकार के होते हैं। उनके सींग पूंछ आदि बीभत्स व कई हाथ पाँव आदि ऐसा रूप नहीं होता है। उनमें इस जाति का कर्म का उदय होता है जिससे वे अपने शरीरके कई शरीर व चाहे जैसे अच्छे या बुरे शरीर बना सकते हैं—पुण्य के उदयसे उनको श्वास बहुत देर पीछे आता है तथा भूख भी बहुत दिनों पीछे लगती है। यदि एक सागर की आयु हो तो पंद्रह दिन पीछे श्वास होगा व एक हजार वर्ष पीछे भूख लगेगी। उनको बाहर से कोई वस्तु खाने की जरूरत नहीं पड़ती, न उन्हें मुख चलाना पड़ता है। उनके कंठ में ऐसी कुछ शुभ वर्गणायें होती हैं जिनसे अमृत की बूंदें झड़ जाती हैं और तुरन्त भूख मिट जाती है। इनके शरीर में रोग व निगोदिया जीव नहीं होते—काम सेवन की इच्छा भी उच्च देवोंमें कमती २ होती है। सोलह स्वर्ग के ऊपर अहमिन्द्र देवोंमें बिल्कुल इच्छा होती ही नहीं

न वहाँ देवियाँ होती हैं। देवोंमें कोई देव किसी अन्य देव की देवी के साथ कुशीलभाव नहीं करता है न एक दूसरे की सम्पत्ति चुराते हैं—अपने अपने पुण्यके उदय से जो प्राप्त रहता है उसी में संतोप रखते हैं। उनमें जो देव सम्यग्दृष्टी नहीं होते उनके चित्तमें एक दूसरे की सम्पत्ति देखकर ईर्ष्याभाव होता है तथा बड़े देवों की आज्ञानुसार छोटे देवों को सेनावाहन आदि का रूप धारण करना पड़ता है। इस कारण उनके चित्तमें मानसिक दुःख रहता है तथा जब आयुमें छह मास शेप रहते हैं तब उनके आभूपणादि की कांति उनको मंद मालुम पड़ती है। तब वे अवधिज्ञान से अपना मरण होना निश्चय करके यह सब सम्पत्ति छूट जायेगी ऐसा ध्यान में लेकर आर्तध्यान करते हैं तब वे तिर्यंच आयु बांध कर मध्यलोक में आकर पृथ्वी, जल तथा वनस्पतिकायिक जीव हो जाते हैं या पंचेन्द्रिय सैनी पशु हो जाते हैं। देवोंमें इन्द्रियों के भोग की सामग्री बहुत होती है और एक प्रकार का भोग एकेंद्रिय द्वारा एक समय में होता है अतएव उनके इसको छोड़ दूसरेको व दूसरेको छोड़ तीसरेको भोगनेकी बहुत आकुलता रहती है। देवियों की आयु देवोंके मुकाबलेमें थोड़ी होती है। सोलहवें स्वर्गकी देवी की आयु पचपन पल्य की होती है तब वहाँ बाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु देव की होती है और एक सागर दश कोड़ा-कोड़ी पल्य का होता है। इस कारण एक देवको अपनी नियोगिनी बहुतसी देवियोंका मरण पुनः २ देखना पड़ता है जिसका वियोग उनके चित्तमें रहता है।

देवगतिमें भी जो मिथ्यादृष्टी व विषय लम्पटी हैं वे दुःखी हैं। वहाँ भी वे ही सुखी व संतोषी रहते हैं जो सम्यग्दृष्टी व तत्त्वज्ञानी हैं। जैसे देवगति पुण्य के उदय को जीवके साथ अनगिनती वर्षों तक रखती है वैसे ही नरकगति पाप के उदय को अनगिनती वर्षों तक रखती है। नरककी सात पृथ्वियाँ हैं उनमें नारकी महा भयानक शरीर के आकार रखनेवाले पंचेन्द्रिय सैनी पैदा होते हैं। मूलमें उनके भी शरीर का आकार मनुष्य समान होता है परन्तु उनमें अपने ही शरीर को अनेक आकाररूप वदलने की शक्ति है इससे वे इच्छानुसार सिंह स्याल भेड़िया आदि भयानक पशु का रूप रख लेते हैं। नारकी एक दूसरे को देखकर क्रोधित हो जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को नाना प्रकार का दुःख देते हैं। नरक की भूमि वड़ी दुर्गंधमय होती है, पानी महा खारा होता है—वे नारकी निरंतर भूख प्यास की वेदना से व्याकुल रहते हैं, नरक की पृथ्वी की मिट्टी व नदी का खारा जल खाते पीते हैं तथापि उनकी भूख-प्यास मिटती नहीं है। जैसे देवगति में यह संसारी प्राणी दश हजार वर्ष की आयु से लेकर तैतीस सागर की आयु तक सुख भोगता है वैसे नरकगतिमें नारकी दश हजार वर्ष की आयुसे लेकर तेतीस सागर की आयु तक दुःख भोगता है। तिर्यंच गति कुछ कम पापके उदयसे होती है। एकेन्द्रिय पृथ्वी आदिसे लेकर पंचेन्द्रिय सैनी पशु घोड़ा वंदर हाथी आदि सव इस गतिमें हैं। इनकी पराधीन व दुःखमय अवस्था सवको प्रत्यक्ष प्रकट हैं। ये तिर्यंच जो क्षुद्र होते हैं उनको अनेक प्रकार मनुष्यके व्यापारों में

अपने प्राण देने पड़ते हैं। मांस-लोलुपी मनुष्योंके कारण पंचेंद्रिय सैनी बकरे, भैंसे, गाय आदि पशु बड़ी निर्दयता से वध किये जाते हैं। इस गति के अपार दुःख भी विचारने से शरीरमें रोमांच खड़े हो जाते हैं। मनुष्य गति कुछ पुण्य कुछ पाप दोनोंके उदयसे होती है। ये मनुष्य ढ़ाई द्वीपों में पैदा होते हैं। इनमें तीस भोग भूमियाँ हैं जहाँ सदा ही युगल स्त्री पुरुष साथ पैदा होते हैं और एक युगल को जन्म देकर साथ ही मरते हैं। कल्पवृक्षोंसे मनके अनुसार वस्तु प्राप्त हो जाती है। मंद कपाय से संतोप के साथ ये अपने दीर्घ जीवन को विताते हैं इसलिये मरकर देवगति में ही जाते हैं। ढ़ाई द्वीपमें एक सौ साठ विदेह क्षेत्र हैं। जहाँ सदा कर्म भूमि रहती है, जहाँ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या, शिल्प इन छह कर्मोंसे आजीविका हो तथा मोक्षमार्ग के लिये क्रियायें पालना संभव हो वह कर्मभूमि है। भरत तथा ऐरावत ढाई द्वीपमें दस हैं। इनमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका पालन होता रहता है। अवसर्पिणी के पहले दूसरे तीसरे कालमें तथा उत्सर्पिणी के चौथे, पांचवें, छट्ठे काल में भोगभूमि की रचना होती है। शेप तीन तीन कालोंमें कर्मभूमि होती है। ढ़ाई द्वीप के वाहर असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें युगल तिर्यंच पैदा होते हैं इसलिये वहाँ भी भोगभूमि है। अंतके आधे स्वयंभूरमणद्वीप व पूर्ण स्वयंभूरमणसमुद्र में कर्मभूमि है। वहाँ तिर्यंच होते हैं। इस तरह चारों गतियों में जीव कर्म वंध रहित होते हुए पूर्वमें वांधे कर्मों का फल भोगते हुए नये कर्मों को भी हरएक गतिके अनुसार वांधते रहते हैं। जहाँ तक मोहका

उपशम या नाश नहीं होता है, वहाँ तक संसारी जीव हरएक समय बिना किसी अंतरके अपने तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर कषाय के उदयके अधीन राग द्वेषमयी भावोंसे कर्मों का बंध अंतर्मुहूर्त की स्थिति से लेकर सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर तक बांधा करते हैं। चारों ही गतियों में क्रम सहित ज्ञान होता है व विषय वांछा होती है जो कभी तृप्त नहीं होती है। इससे यह संसारी प्राणी सदा दुःखी ही रहता है। श्री कुलभद्राचार्य ने सारसमुच्चय में कहा है:—

अनेकशस्त्वया प्राप्ता विविधा भोगसम्पदः।
अप्सरागणसंकीर्णे दिवि देवविराजते ॥१४१॥

पुनश्च नरके रौद्रे रौरवेऽत्यन्तभीतिदे।
नानाप्रकारदुःखौघैः संस्थितोऽसि विधेर्वशात् ॥१४२॥

तिर्यग्गतौ च यद्दुःखं प्राप्तं छेदनभेदनैः।
न शक्तस्तत् पुमान वक्तुं जिह्वाकोटिशतैरपि ॥१४६॥
संसृतौ नास्ति तत्सौख्यं यन्न प्राप्तमनेकधा।
देवमानवतिर्यक्षु भ्रमता जन्तुनाऽनिशं ॥१४७॥
चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन् संसारेऽत्यन्तभीतिदे।
सुखदुःखान्यवाप्तानि भ्रमता विधियोगतः ॥१४८॥

एवं विधमिदं कष्टं ज्ञात्वात्यन्तविनश्वरम्।
कथं न यासि वैराग्यं धिगस्तु तव जीवितम् ॥१४९॥

जीवितं विद्युतातुल्यं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
सन्ध्यारागसमः स्नेहः शरीरं तृणबिन्दुवत् ॥१५०॥
शक्रचापसमा भोगाः सम्पदो जलदोपमाः ।
यौवनं जलरेखेव सर्वमेतदशाश्वतम् ॥१५१॥

हे आत्मन् ! तूने देव गति में देव और देवियों से भरे हुए स्थानों में नाना प्रकार की भोग सम्पदाएं बार बार पाई हैं तो भी तृप्त नहीं हुआ । अत्यन्त भयानक, क्रूर भाव से पूर्ण नरक में भी कर्मों के उदय से जाकर नाना प्रकार के दुखों में पड़ा है । तिर्यंच गति में छेदन भेदन आदि से जो २ दुःख तूने पाया है, उसको करोड़ों जुबानों से भी कोई मनुष्य नहीं कह सकता है । इस संसार में भ्रमते हुए, इस जीवने देव, मनुष्य व तिर्यंच गति में जो कुछ सुख था वह बार बार पालिया है परन्तु तृप्त न हुआ । कर्मों के उदय से चारों ही गतियों में इस भयानक संसार के भीतर घूमते हुए अनेक सुख तथा दुख पाए हैं ।

इस प्रकार अत्यंत क्षणभंगुर व कष्टमयी संसार की अवस्था को जानकर क्यों नहीं वैराग्यभाव को प्राप्त करता है । यदि वैराग्य न पाएगा तो तेरा जीवन धिक्कार के योग्य है । यह जीवन बिजली के समान चंचल है, पदार्थों का संयोग स्वप्न के समान है, स्नेह संध्या की लाली के समान है तथा शरीर तृण पर पड़े हुए जलबिंद के समान क्षणभंगुर है । ये भोग इन्द्रधनुष के समान

हैं, सम्पत्ति मेघों के समान है, जवानी जल की रेखा के समान है - ये सभी बातें क्षणभंगुर हैं।

इसलिये ज्ञानी जीव को पंचम गति मोक्षको ही उपादेय जान उसी की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना योग्य है।

आगे यह बतलाते हैं कि कल या आज नष्ट होनेवाले शरीरादि में इच्छा न रखकर शीघ्र ही आत्म-साधन करना ही श्रेष्ठ है।

हेवरमं क्षणांतरके तोर्प सुखक्कोलविंदो नाळेयो ।
साव जनंगळोळ्ममते मत्सर वीगळो वेगिनागळो ॥
चेव शरीरदोळ्वदुंकुवासे विरक्ति योळात्मतत्वमं ।
भाविसि मुक्तनागलरिदाय्तकटा ! अपराजितेश्वरा ! ।२९

हे अपराजितेश्वर ! पहले आकृष्ट करनेवाले तथा बाद में ग्लानि उत्पन्न करने वाले ऐसे विषय सुख के लिये सदा जीने की अभिलाषा रखनेवाले, आज या कल मरनेवाले जनों में ममत्व व मत्सर भाव रखनेवाले तथा शीघ्र ही विलीन होनेवाले इस शरीर से विशिष्ट अनुराग रखनेवाले हे आत्मन् ! तेरे अन्दर इससे विरक्त बनकर आत्मस्वरूप की भावना तथा ध्यान करके मुक्त होने की कामना अभी तक नहीं आई, यह कितने दुःख की बात है।

Aparajiteshwar ! This soul has not held the desire uptill now to be liberated by contemplation and medi-

tation but has been having attachment with this transient body and mortal people who are always enamoured of sexual life which gives a temporary pleasure and soon turns into a feeling of disgust. How painful a fact it is ?

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि आज या कल नष्ट होने वाले, जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि उत्पन्न करनेवाले और सुख में प्रेम तथा दुःख में छोड़कर जानेवाले इष्ट मित्र स्त्री पुत्रादि जनोंमें प्रेम करके मैंने इस मोहरूप पिशाच के अधीन होकर उसीमें लगनेकी इच्छा की जिससे मुझे वैराग्यमय आत्मस्वरूपका भाव होकर उन उन दुःखों से मुक्त होने के लिये मुझे सच्चाज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, सो कितने आश्चर्य की बात है ?

ज्ञानार्णवमें भी कहा है कि—

हृषीकार्थ समुत्पन्ने प्रतिक्षणविनश्वरे ।
सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्टं भुवनत्रयं ॥८॥

हे मूढ प्राणी ! क्षण क्षणमें नाश होने वाले इंद्रिय जनित सुख में प्रेम करके तीनों भुवन नाश को प्राप्त हो रहे हैं, इसलिये तू क्यों नहीं देखता ?

भवाब्धिप्रभवाः सर्वे संबंधा विपदास्पदम् ।
संभवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठु नीरसाः ॥६॥

इस संसार रूपी समुद्रमें भ्रमण करने से मनुष्यों के जितने संबंध होते हैं, वे सभी आपदाओंके घर हैं। क्योंकि अन्त में प्राय: सभी संबंध नीरस होते जाते हैं। यह प्राणी उनसे सुख मानता है पर वे भ्रममात्र हैं।

जैसे भर्तृहरिने भी कहा है कि:—

नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्।
विद्धि व्याधिव्यालग्रस्तं लोके शोकहतञ्च समस्तम्॥

जिस प्रकार पद्म पत्र पर पड़ा हुआ जल अतीव चंचल होता है, मनुष्य का जीवन भी उसी तरह अतीव चंचल है। यह सारा संसार रोग-रूपी सर्पों से ग्रसित हो रहा है, इसमें दुःख ही दुःख है।

सदा न फूलै तोरई, सदा न सावन होय।
सदा न जोवन थिर रहे, सदा न जीवे कोय॥

सदा तोरई नहीं फूलती, सदा सावन नहीं रहता, सदा जवानी नहीं रहती और सदा कोई जीता भी नहीं रहता। और भी कहा है:—

रहती है कब बहारें जवानी तमाम उम्र।
मानिन्द बूये गुल, इधर आई उधर गई॥

यौवन अवस्था की बहार उम्र भर थोड़े ही रहती है, यह तो

फूल की सुगन्ध की तरह इधर आई उधर गई।

जो आज जवानी की नशेमें मतवाले हो रहे हैं, जो मलमल कर और साबुन लगा लगाकर अपनी मिट्टी की काया को धोते हैं उसे चंदन कपूर इत्र फुलेलों से सुगंधित करते हैं, भांति भांति के गहने इत्यादि से सजावट करते हैं, अपनी दोनों छातियों को ऊंची उठाकर चलते हैं और जो मूछोंपर वल और ताव देते हैं, वे होश करें और मनमें निश्चयरूपसे समझलें कि उनका यह शरीर सदा उनके साथ न रहेगा, एक दिन यहांका यहां ही पड़ा रह जायगा। काया के नाश होने के पहले ही वृद्ध अवस्था युवावस्था को निगल जायगी। जो दांत आज मोतियों की माला की तरह चमकते हैं वे कल हिल हिल कर नाक में दम कर देंगे और एक एक करके आपका साथ छोड़ देंगे। उस समय आपका मुख पोपला और भद्दा हो जायगा। जिन वालों को हमेशा तेल इत्यादि से सजावट करते हैं वे भी एक दिन सफेद हो जायेंगे। आंखोंमें यह रसीलापन न रहेगा। आज की सी अकड़ तकड़ न रहेगी, लाठी के सहारे चलोगे और वह कांपने लगेगी। जो लोग आज आपको देखकर खुश होते हैं, आपका आदर करते हैं वे ही आपका अनादर करेंगे। आपकी वात भी न पूछेंगे। यह तो आपका शरीर और जवानी का हाल है। जैसा कहा भी है कि—

यौवनं जीवितं चित्तं छायालक्ष्मीश्च स्वामिता।
चंचलानि पडेतानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत् ॥

यौवन जीवित अवस्था शरीर की छाया लक्ष्मी और स्वामिता ये छहों चंचल हैं। मूर्ख लोग इस क्षणिक संपत्ति के बारे में घमंड करते हैं तथा यह समझते हैं कि यह धन हमारे पास सदा स्थिर रहेगा। पर यह उनकी भारी भूल है। तो सदा बिजली के समान क्षणस्थायी और चंचल समझकर अभिमान नहीं करना चाहिये।

कहा भी है—

> मा कुरु धन जन यौवनगर्वं ,
> हरति निमेषात् कालः सर्वम् ।
> मायामयमिद मखिलं हित्वा,
> ब्रह्मपदं प्रविशाशु विदित्वा ।

इस धन यौवन का गर्व मत करो। काल* इसको पलक मारते हर लेता है, इस पाप मय संसारको त्यागकर शीघ्र ही ब्रह्म पद या मोक्ष पद की साधना करलो।

वै भतृहरिमें कहा है कि:—

> भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनी चंचला।
> आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनांबुवद्भंगुरम् ॥
> लोला यौवनलालसा तनुभृतामित्याकलय्यद्रुतं ।
> योगे धैर्यसमाधिसिद्धसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥५४॥

यह विषय भोग बादल में चमकने वाली बिजली के समान चंचल है, मनुष्योंकी आयु हवा से छिन्न-भिन्न हुए बादल

के जलके समान क्षणिक है और जवानी की उमंग भी स्थिर नहीं है। इसलिये बुद्धिमानो! अपने धैर्य के साथ वैराग्य में लीन होकर इस दुःखमय क्षणिक इंद्रिय सुखसे मुक्त होकर आत्मसाधन करना ही श्रेष्ठ है।

क्योंकि संसार में हमेशा दुःख ही दुःख है। सुख के लिये हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं तो भी इस जीवको दुःखके अलावा सुखका लेशमात्र भी नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि जब तक शरीर साथ रहेगा तबतक दुःख किसी गति में मिट नहीं सकता है।

जैसे कहा भी है—

जन्मदुःखं जरादुःखं मृत्युदुःखं पुनः पुनः।
संसारसागरे दुःखं तस्माज्जाग्रत जाग्रत ॥१॥

जन्म काल में दुःख, बुढ़ापा में दुःख, बारंबार मृत्युरूपी दुःख तथा संसार सागर का महान् दुःख इस प्रकार संसार में विविध प्रकार के दुःख हैं। अतः हे जीवो! जल्दी जाग्रत हो जाओ।

माता नास्ति पिता नास्ति नास्ति भ्राता सहोदरः।
अर्थो नास्ति गृहं नास्ति तस्माज्जाग्रत जाग्रत ॥२॥

हे आत्मन्! जिस माता, पिता, भाई, बन्धु, धन तथा मकान आदि को तुम अपना मानकर उसमें अनुराग कर रहे हो वे तुम्हारे नहीं हैं। इसलिये शीघ्रातिशीघ्र जागो जागो ॥२॥

काम क्रोधस्तथा लोभो देहे तिष्ठन्ति तस्कराः ।
ज्ञानखड्गप्रहारेण तस्माज्जागृत जागृत ॥ ३ ॥

हे आत्मन् ! तुम्हारे अन्दर काम क्रोध तथा लोभादिक चोर बैठे हैं। इसलिये उन्हें तुम ज्ञानरूपी तलवार के प्रहार से भगा कर जागो जागो ॥३॥

आशा हि लोकान्बध्नाति कर्मणा बहुचिन्तया ।
आयुः क्षयं न जानाति तस्माज्जागृत जागृत ॥४॥

कर्म और अत्यन्त चिन्ता करने से आशा संसारी जीवों को बांधती है आयु क्षण क्षण में क्षीण होती जा रही है, पर उसे नहीं जानता है। इसलिये जागो जागो।

एके गायन्ति नृत्यन्ति रुदन्त्यन्ये सुदुःखिताः ।
क्रीडन्त्येके हसन्त्येके चित्राः संसारवृत्तयः ॥ ५ ॥

इस संसार में एक जीव गाते हैं, एक नाचते हैं, एक क्रीड़ा करते हैं, एक हंसते हैं तथा दूसरे अत्यन्त दुःखी होकर रोते हैं यह संसार की विचित्र वृत्ति है।

यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ६ ॥

जिस प्रकार समुद्र में काठ एक दूसरे से मिलकर साथ साथ बहते हैं तथा थोड़ी देर में अलग हो जाते हैं उसी प्रकार संसारी

प्राणियों की दशा अर्थात् प्राणियों का समागम भी अनिश्चित है।

यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छत्तद्वद् भूतसमागमः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार किसी वृक्ष की छाया के नीचे कोई पथिक आकर बठता है और कुछ देर विश्राम करने के बाद पुनः वह चला जाता है, उसी प्रकार संसारी प्राणियों का भी समागम है।

पुत्रमित्रकलत्रेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरः पङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥८॥

जिस प्रकार वृद्ध जीर्ण शीर्ण जंगली हाथी तालाब में पानी पीने के लिये जाने पर कीचड़ में फंस जाते हैं, उसी प्रकार पुत्र मित्र तथा कलत्रादिक में आसक्त रहनेवाले जीव शिथिल हो जाते हैं ॥८॥

श्रीमंत और लक्ष्मीके बारे में तूने अपना मानकर घमंड किया परन्तु वे भी स्थिर नहीं हैं।

संसार में लोग लक्ष्मी के स्वामी, कुछ लोग पुत्र और कुछ लोग सेवक होते हैं। जो लक्ष्मी के सेवक हैं वे लक्ष्मी की रक्षा कर सकते हैं, परंतु भोग नहीं सकते हैं। जो पुत्र हैं वे लक्ष्मीका उपयोग अपने खाने पीने में और पहिरने मात्र में खर्च कर सकते हैं, सुकृत कार्यों में नहीं। जो लक्ष्मी के स्वामी हैं, वे उसका सभी

कामोंमें उपयोग कर सकते हैं। लेकिन जो लोग दीन हीन दुखियों के उपकार में और पारमार्थिक कार्यों में द्रव्य व्यय करके आशातीत यशलाभ प्राप्त करते हैं, उन्हीं की लक्ष्मी सफल मानी जाती है। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि पूर्वकृत पुण्योदय से लक्ष्मी मिलती है। उससे जो व्यक्ति सुकृत कार्य या परोपकार नहीं करते, उनकी लक्ष्मी कुछ काम की नहीं है। इसलिये कहा भी है कि:—

अर्थाः पादरजः समा गिरिनदी वेगोपमं यौवनं,
आयुष्यं जलविंदुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम्॥
दानं यो न ददाति निश्चलमतिर्भोगं न भुंक्तेचयः।
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते॥

हे जीव! तू ऐसे समझो कि धन पैरों की धूलि के समान है, जवानी पहाड़ी नदी के वेग के समान शीघ्रगामी है, आयु जल विंदु के सदृश चंचल है और जीवन पानी के फेन के समान क्षण भंगुर है। ऐसी दशा में जो लक्ष्मी का सदुपयोग नहीं करते हैं न खाते हैं, और न ऐश आराम करते हैं, वे बुढ़ापे में पछताकर शोक संताप की आग से जलते हैं। इसलिये संसारी प्राणी को चाहिये कि केवल खान पान और आराम में लोलुपी न बन कर प्राप्त लक्ष्मीसे ऐसे सुकृत कार्य करें कि जिससे धर्म और शान्तिका अभ्युदय हो और निराधार आत्माको सुख शान्तिका स्थान मिले। जो लक्ष्मी का गुलाम होता है वह न तो उसे खा सकता है और न खर्च कर सकता है अंत में उसकी लालसा में

आर्त रौद्र ध्यान करते हुए प्राण त्याग करके कुगति में गमन कर अत्यंत दुख भोगता है। इसलिये हे आत्मन्! तू इस नश्वर लक्ष्मी की या कुटुम्बादि के मोह को त्याग करके वैराग्यमें मन लगाकर आत्म-साधन में लीन हो जाओ, क्योंकि तुम्हें यही इष्ट है॥

आगे कहते हैं इंद्रियोंकी वासना या भोगादि विषय में फंसे हुए जीवको भगवान्का उपदेश जैसे रोगीको सच्ची दवाई लाभ दायक होती हुई भी कड़वी होने से अच्छी नहीं लगती उसी प्रकार धर्म, कल्याणकारी होते हुए भी अच्छा नही लगता।

रोगिगेपथ्यमे रुचियेनिष्पुदु वैद्यमे कैंपेयादोडा।
रोगविनाशकावुदु हितं मनुजंगदरंते भोगमे॥
राजिसुतिर्कुमादोडमदं कडेगोत्ति तपोवृतागमो-
द्योग दोळाडदिर्दोडवनें किडने अपराजितेश्वरा! ॥३०॥

हे अपराजितेश्वर! रोगी को जैसे अपथ्य वस्तु मीठी होने से रुचिकर होती है और औषधि कड़वी होनेसे अरुचिकर होती है तथा वह रोगी जिस प्रकार अपथ्य का सेवन करता है उसी प्रकार भव रोगी प्राणी भोग का सेवन ही हितकारक मानता है। अगर वह मनुष्य उस भोग को एक तरफ रखकर तप व्रत शास्त्र इत्यादिक सत्कार्योंमें उसका उपयोग करे तो क्या वह मनुष्य बिगड़ सकता है? कभी नहीं॥३०॥

30. Aparajiteshwar ! As a patient takes the harmful (unwholesome) object because of its taste and does not like the medicine because of its bitterness, so too the world-patient jiva thinks the enjoyment of sense objects as desirable. If the jiva absorb himself into the study scriptures and penance, would he degrade or fall low ? never.

विवेचन—ग्रंथकार कहते हैं कि जैसे किसी रोगी को औषधि कड़वी लगने से अरुचिकर है, और अपथ्य पदार्थ रुचिकर होती है, उसी तरह संसारी जीवको संसारी विषय वासना ही इष्ट लगती है। संसारी विषयरूपी विष दूर करने वाला तथा परम हितकारक भगवान का उपदेश दान पूजा तपव्रत शास्त्र इत्यादि सब कड़वा या बहुत अरुचिकर मालुम पड़ता है। अरे जीव ! इस व्रतनियमादि से घबराकर विषय भोगादि को इष्ट मानकर हमेशा संसार विषयरूप रोगसे ग्रस्त होकर अत्यंत क्षीण होता है, परंतु वह पापी अज्ञानी जीव भगवान् के वचनरूपी अमृत तथा हितकारक व्रतादि तप वगैरह में आचरण करने में प्रयत्न नहीं करेगा, तो प्राप्त किये हुए मनुष्य जन्मसे क्या लाभ ! क्या वह योंही नष्ट नही हो जायगा ?

आत्मानुशासन् में कहाभी है कि:—

आशा हुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां जनाः ।
हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखधर्मापनोदिनः ॥४३॥

जैसे कोई मनुष्य सूर्य के संताप से दुःखी होकर जलते हुए वांसों की छाया में जाकर यदि बैठे तो वह कभी सुखी नहीं होगा, उलटा पीड़ित ही होगा, क्योंकि एक तो वांस की छाया बहुत ही कम, दूसरे आपस में घिसने से वे स्वयं जलने लगते हैं। इसलिये संताप दूर होना तो दूर ही रहा, उलटा उससे अधिक संताप ही होगा। सुखाभिलाषा के वश यदि वह मनुष्य, फिर भी बहुत समय तक वहां बैठा ही रहा तो कदाचित् वह खुद जलकर भी मर जायगा। इसी प्रकार आशा तो अग्नि के समान है, उस आशाग्नि से व्यापे हुए उसके विषयभूत जो भोग साधक पदार्थ हैं वे वांसों के तुल्य हैं। एवं छाया के भी दो अर्थ होते हैं। एक तो प्रकाश के रुकने से जो परछांही पड़ती है वह और दूसरा अर्थ अल्प या लेश मात्र है इसलिये दृष्टांतों से मिला-जुला यह अर्थ हुआ कि, देखो, दुःखस्वरूप संताप से पीड़ित हुए मनुष्य, आशारूप अग्नि से व्यापे हुए भोग संबंधी जो पदार्थ रूप ऊंचे वांस हैं उनसे उत्पन्न हुई जो छाया अर्थात् अल्पसुख है उसमें जाकर बैठना चाहते हैं और उससे विषय व छायारूप दुःख को दूर करना चाहते हैं। यह कितना बड़ा अज्ञान है! एक तो तीन लोक की वस्तु इकट्ठी होकर भी आशा की पूर्ति के लिये वस नहीं होगी। दूसरी वात यह है कि, वस्तुओंके भोगनेसे आशा और भी अधिक वढ़ती जायगी, जैसे की दाद के खुजाने से दाह दुख अधिक ही वढ़ता है, कम नहीं होता। तीसरी वात यह है कि, उसी में फंसे फंसे मर जाने पर नरकादि दुर्गतियों के दुःख भी भोगने पड़ेंगे। क्योंकि

आशा के वश होने से परवस्तुओं में ममता भी बढ़ती ही है और जीव के विचार अशुभ या मलिन होते हैं, जिनके कि कारण घोर पापों का संचय होने से दुर्गतियों में जाना ही पड़ता है। इन तीन बातों का विचार करने पर मालुम पड़ेगा कि आशा के वश होकर विषय सामग्री के संचय करने में लगना कभी सुखकारी नहीं होता।

कहा भी है कि—

आयु गले मन ना गले इच्छाशा न गलन्त ।
तृष्णा मोह सदा बढ़े यासे भव भटकन्त ॥४८स्वानुभवदर्पण

हे जीव ! दिन पर दिन आयु घटती जाती है, परन्तु मनकी उंमग नहीं घटती है प्रत्येक वस्तुकी इच्छा और आशा नहीं घटती है। तृष्णा तथा प्रीति बढ़ती ही जाती है। इसी से संसारमें बार २ जन्म-मरण करके चारों गतिमें भ्रमण करता है।

ज्यों मन विषयों में रमे त्यों हो आतम लीन ।
क्षण में शिव संपति वरे क्यों भव भ्रमे नवीन ॥४६॥

हे जीव ! जैसे मन पांच इंद्रियों के विषयोंमें रमता है वैसे ही आत्मस्वरूप के विचार में रमें तो क्षणमात्र में मुक्ति लक्ष्मी प्राप्त होगी और फिर नवीन नवीन भव धारण कर भटकना न पड़ेगा ॥

मल घट सम अति मलिन तन निर्मल आतम हंस ।
कर ऐसा श्रद्धान तू नशे कर्मका वन्श ॥५०॥

हे जीव! जैसे मैलसे वना हुआ घड़ा और मलसे भरा मलिन होता है। उसी तरह यह शरीर रज वीर्य से वना हुआ है, रजसे रक्त मांस मद्य और वीर्यसे हड्डी नस इत्यादि वनती हैं और मलमूत्र खंखार इत्यादि कीचड़ पसीना आदिसे भरा हुआ महा मलिन है, जो आत्मा शरीर रूपी इस कैद में वंद है, वह आत्मा उससे भिन्न अत्यंत निर्मल है ज्ञानादि आठ गुणोंसे युक्त है। तू इस प्रकार निश्चय करेगा तो कर्मोंका वंश मिटेगा और मोक्ष पद प्राप्त होगा।

व्यवहारक धधे फंसे बहुधा जग के जीव।
आतम हित की सुधि नहीं यासे भ्रमत सदीव॥५१॥

संसारी जीव! लेन-देन, सेवा, नौकरी, पशुपालन, खेती, लिखना-पढ़ना, शास्त्र, शस्त्र, विद्या, हस्तकला आदि अनेक व्यवहार में हमेशा वहुधा फँसे रहते हैं। कोई पेट के लिये, कोई लक्ष्मी इकट्ठी करने के लिये, कोई दास वननेके लिए, कोई कुव्यसन के लिए; इस प्रकार जीव हमेशा पापाचार को संग्रह करने में ही मस्त रहते हैं। संसारी प्राणियों की यही अवस्था है। इस अज्ञानी जीवको आतमहित करनेका तनिक भी होश नहीं है। इसलिये वार २ जन्म-मरण करता ही रहता है। इसका भव भ्रमण कव मिटेगा?

इन्द्रिनसे मन भिन्न कर, मत बहु पूछे और।
रागादिक फैलाव तज, आप लाभ हो दौर॥५२॥

हे जीव ! इन्द्रियों के मेलसे मनको भिन्न करो। ये इन्द्रियाँ अपनी इच्छानुसार अपने अपने विषयों में रमती हैं। इसलिये और भी ज्यादा पूछ-ताछ करनेसे क्या फायदा ? अब तू केवल इतना कर कि राग-द्वेष और मोहको छोड़ दो अर्थात् घटा दो तो अपना हित शीघ्र ही कर लोगे।

जीव अन्य तन अन्य है, अन्य सकल व्यवहार।
तज पर पुद्गल जीव ग्रहु, तो पावे भव पार ॥५४॥

हे आत्मन् ! जीव अन्य है, शरीर अन्य है, संपूर्ण व्यवहार अन्य हैं और क्रिया भी अन्य है इससे पुद्गलको पर रूप जानकर छोड़ो और जीवको निजरूप मानकर ग्रहण करो, तो जन्म-मरण से हमेशा छूट जाओ ॥

आगे यह कहते हैं कि सांसारिक सुख इंद्रजालके समान अनित्य हैं। ऐसा विवेचन करते हैं।

नागरामरेंद्रसुखं सिरियुं निजदिंदे भाविसल् ।
जोगिमहेंद्र जालद कुमंत्रदे तोरिद मामरंगळोळ् ।
तूगुव पएगळं सविदेनेंवन संभ्रमदंते कर्मसं ।
योगदिनाय्तु पोय्तेनिसुगुं पिरिदेनपराजितेश्वरा ! ॥३१

हे अपराजितेश्वर ! वास्तव में देखा जाय तो नागेन्द्र, देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि की सुख ऐश्वर्यादि संपत्ति वैसे ही निःसार है जैसे

किसी इन्द्रजाली द्वारा मंत्रजाल के प्रभाव से आम के वृक्ष दिखला कर उसमें लटकते हुये पके हुये फल दिखला दिये जाते हैं। जैसे उन फलों को खाकर संतुष्ट होना निःसार है उसी प्रकार इस संपत्ति का भोगना भी सारहीन है। पूर्व पुण्य के शुभाशुभ कर्म द्वारा मिली हुई संपत्ति क्षण में आती जाती रहती है। इस तरह प्राप्त की हुई सांसारिक संपत्ति में मैं भ्रान्त होकर हा! वास्तविक सुख मार्ग भूल गया ॥३१॥

Aparajiteshwar ! As a matter of fact the happy-ness, prosperity and wealth of Indra etc., heavenly people and Chakravarti (king of the whole earth consisting of 6 khandas) is useless just like the mango fruits shown by a magician as hanging down of a mango tree. It is not possible to get satisfaction by eating those fruits, the same way, the enjoyment of wealth is sapless. This wealth comes and vanishes according to the good and bad 'karmas'. Alas ! I have forgotten the way to true happineess, being enamoured of this filthy lucre (worldly wealth).

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, नागेन्द्रपद तथा देवादिकों के समस्त भोगै-श्वर्य, मायामय इन्द्रजाल के समान क्षणिक और किंपाक फल के

समान देखने में बहुत सुन्दर हैं, परन्तु भोगने में प्राणनाशक विषवत् हैं। सांसारिक विषय भोग जन्म मरण के मूलकारण होने से विषयासक्त मनुष्यों को सदा चारों गतियों में भ्रमण करानेवाले तथा अत्यन्त दुःखदायी हैं। इन दुःखों के कारण यह जीवात्मा अनेक कर्मबंध का कारण होकर अपने किये हुये शुभाशुभ कर्मानुसार सुख दुःख का अनुभव करता रहता है। इसलिये आत्मकल्याण करने वाले पुरुषों को विषयादिक त्याग देना चाहिये।

प्रश्नः—अनिष्टकारी भोगादिक विषयों में आसक्त हुआ प्राणी विषयों को कैसे त्याग सकता है? अर्थात् जो रात दिन विषयों की कामना किया करता है वह उनके वियोग को कैसे सह सकता है?

उत्तरः—भोगाभिलाषी प्राणियों को भोगों के वास्तविक स्वरूप को जानकर अपने मनमें विचार करना चाहिये कि ये विषयादिक सुख क्षणिक तथा इह और परलोक में दुःखदेनेवाले हैं। अतः इनको त्यागकर भगवान् अर्हंत देव के द्वारा प्रतिपादित आगम का अनुसरण करना चाहिये। इस प्रकार का अभ्यास करने से विषयों की इच्छा बिलकुल नष्ट हो जाती है।

विषय अनिष्ट क्यों? इस विषय में प्रशमरति प्रकरण में कहा गया है कि:—

आदावत्यभ्युदया मध्ये शृङ्गारहास्यदीप्तरसाः।
निकषे विषया बीभत्सकरुणलज्जाभयप्रायाः ॥१०६॥

ये विषय प्रारंभ में उत्सव की तरह हैं, मध्य में शृंगार और हास्य से रस को उद्दीप्त करते हैं और अन्त में बीभत्स, करुणा, लज्जा तथा भय वगैरह को करते हैं।

भावार्थ—प्रारंभ में यह मनुष्य कुतूहल से इन विषयों को उत्सवों की तरह मानता है। अर्थात् जैसे किसी उत्सव की सूचना मिलने पर उससे आनन्द होता है वैसा ही आनन्द विषयों की प्राप्ति होने से पहले होता है। विषयों को प्राप्त होने पर शृंगार, वेष, अलङ्कार, हास्य, प्रेम-कोप और संभोग के अन्त में खुले हुये कामाङ्गों को देखकर बड़ी ग्लानि होती है। नवोढा के चीत्कार को स्मरण करके उस पर दया आती है। एक दूसरे को नग्न देखकर लज्जा आती है। उस अवस्था में गुरुजनों के देखलेने पर भय लगा रहता है। इस प्रकार अन्त में ये विषय ग्लानि, करुणा, लज्जा और भय वगैरह को उत्पन्न करते हैं। मध्य में मोह की तीव्र वेदना को उत्पन्न करते हैं और आरंभ में कुतूहल व उत्सुकता पैदा करते हैं। ये कभी भी मनुष्य को स्वस्थ्य नहीं होने देते। अतः छोड़ने के योग्य हैं।

प्रश्नः—विषय भोग से मनुष्यको थोड़ा बहुत सुख भी होता है, अतः विषयसुख उपकारक हैं, फिर उन्हें हेय क्यों माना गया है?

उत्तरः—यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः।
किंपाकफलादनवद्भवन्ति पश्चाददतिदुरन्ताः

॥१०७ प्रशमर०॥

यद्यपि सेवन करते समय विषय मनको सुखकर लगते हैं, तथापि किंपाक वृक्ष के फल के भक्षण के समान अन्त में दुःख-दायी होते हैं।

भावार्थः—किंपाक वृक्ष के फल खाने में बड़े स्वादिष्ट और सुगन्धित होते हैं, किन्तु पेट में पहुँचते ही जहर का काम करते हैं। विषयों को भी ऐसा ही जानना चाहिये। इसका दूसरा उदाहरण देते हैं।

जिस प्रकार अट्ठारह प्रकार के शाक और बहुत से खाने पीने योग्य स्वादिष्ट वस्तुओं से युक्त अच्छा भोजन यदि विषैला हो तो उसके खाने से अन्त में मृत्यु होती है। उसी प्रकार खुशामद और विनय वगैरह से बढ़ी हुई रमणीयता और अत्यन्त राग से भोगे हुये विषय सैकड़ों भवों की परम्परा में भी दुःख भोग की परंपरा करने वाले होते हैं।

भावार्थः—विषय भोग सुस्वाद विषैले भोजन के समान अन्त में दुःखदायी होते हैं। विषैले भोजन के खाने से तो एक ही बार मृत्यु होती है। किन्तु विषयों के सेवन से भव भव में कष्ट उठाना पड़ता है।

मरण कितने प्रकार का होता है? मरण दो प्रकार का होता है, जैसा कि कहा है:—

अपि पश्यतां समक्षं नियतमनियतं पदे पदे मरणम्।
येषां विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ॥११०॥

जगह जगह नियत और अनियत मरण को प्रत्यक्ष देखते हुये भी जिनकी विषयों में आसक्ति है, उन्हें मनुष्योंमें नहीं गिनना चाहिये।

विशेषार्थ:—मरण दो प्रकार का होता है—एक नियत काल और दूसरा अनियत काल। देव और नारकों का मरण नियत काल में ही होता है, क्योंकि उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। तथा अनियत काल मरण मनुष्य गति और तिर्यंच गति में होता है। सभी गतियों में मृत्यु प्रत्यक्ष है। संसार में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है कि जहां मृत्यु न होती हो। अथवा दूसरा अर्थ ऐसा भी कर सकते हैं कि मरण सर्वदा ही अनियत है, क्योंकि आयु प्रत्येक समय में क्षय होती जा रही है और यह बात हम अपने सामने के मनुष्यों और तिर्यंचों में प्रत्यक्ष देखते हैं, तो भी आयु को अनित्य जानकर भी जो विषयों में फंसे हुये हैं, उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये। ना समझ होने के कारण वे पशु ही हैं।

मन को प्रिय लगने वाले विषयों के भावी परिणाम का विचार करना चाहिये। अर्थात् अच्छे लगने वाले विषय कालांतर में बुरे लगते हैं और बुरे लगने वाले कालांतर में अच्छे लगते हैं। उनका कोई परिणाम सर्वदा एकसा नहीं रहता है। अतः अस्थिर परिणाम वाले विषयों से विरक्ति होने पर आत्मा का बड़ा भारी दोष रहित कल्याण होता है। क्योंकि विषय से विरक्ति होने पर पाप कर्म का बंध नहीं होता है। अतः उस आत्म-कल्याण का

सर्वदा विचार करते रहना चाहिये। और ये विषयादिक इन्द्रजाल के समान क्षणिक हैं। इसीलिये चक्रवर्ती आदि राजाओंने भी उसे त्यागकर आत्म साधन करने के लिये जङ्गल का ही सहारा लिया, तभी वे सुखी हुए! कहा भी है कि:—

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोक व्यापार रहितस्य ॥ १२८ ॥

(प्रशमरति०)

सांसारिक झंझटों से रहित साधु को इसी जन्म में जो सुख मिलता है, वह सुख न तो चक्रवर्ती और अर्धचक्री को ही सुलभ है और न देवराज इन्द्र को ही सुलभ है।

भावार्थः—चक्रवर्ती अथवा वासुदेव वगैरह अर्धचक्री राजाओं के राजा कहे जाते हैं। चक्रवर्ती समस्त भरतक्षेत्र का स्वामी होता है। ये दोनों ही पद मनुष्य पर्यायमें सबसे ऊँचे होते हैं। किन्तु इन्हें भी वह सुख नहीं होता जो विरक्त साधुको होता है। क्योंकि चक्रवर्ती वगैरह का सुख सांसारिक विषयों और वैभव से उत्पन्न होता है, अतः वह अनित्य है। यह बात पहले बतला आये हैं कि विषय सर्वथा सुख के देनेवाले नहीं हैं, क्योंकि वे स्थायी नहीं होते हैं।

देव पर्यायों में इन्द्र का पद सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु इन्द्र को भी अपने से ऊपर के इन्द्रों को देखकर ईर्ष्या होती है तथा उसकी लालसा सताती रहती है और मरण काल समीप आ जाने पर

स्वर्ग से च्युत होने की चिन्ता सताने लगती है। अतः उनका सुख उत्कृष्ट होने पर भी दुःख से मिला हुआ है। अथवा सर्व देवोंमें उत्तम होने के कारण अनुत्तरवासी देवों को देवराज कह सकते हैं। देवादिके विनाश और मनुष्य योनिमें पुनः जन्म लेने के दुःखका विचार करने पर उनका सुख भी दुःख से मिला हुआ ही प्रतीत होता है। अतः वैराग्य में मग्न समस्त इच्छाओं से रहित आत्म-हित को खोजनेवाले विशिष्ट ज्ञानी और सांसारिक प्रवृत्तियों से दूर रहनेवाले साधु को इसी जन्म में जो सुख है, वह सुख न तो राजाओं के राजा को प्राप्त है और न देवों के राजा को प्राप्त है।

इसी प्रकार संसारी जीव दुःखदायी क्षणिक पर पदार्थों को ही सुख मानकर उसे अपनाते हैं, परन्तु वहां उन्हें सुख कैसे मिल सकता है? कहा भी है कि:—

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्।
धर्माय पापानि समाचरंति॥
तैलाय बालाः सिकता समूहम्।
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः॥ १३॥

(पंचस्तोत्र विषापहार)

हे देव! आप से पराङ्मुख प्राणी सुखके लिये दुःखों का, गुण के लिये दोषों का तथा धर्म के लिये पापों का आचरण करते हैं, परन्तु इन की उपर्युक्त क्रिया उसी प्रकार निरर्थक होती है जिस प्रकार बालू को कोल्हू में पेरकर तेल निकालने वाले की क्रिया व्यर्थ होती है।

मिथ्यादृष्टी जीव अपने को सुख की प्राप्ति के लिये तीन मूढ़ता स्वरूप आचरण करते हैं। पर्वत से गिरना, अग्नि में प्रवेश करना, सुख की इच्छा से गंगा यमुना आदि में स्नान करना, यन्त्र में मस्तक रखकर तोड़ लेना, जिह्वा छेद करना इत्यादि अनेक प्रकार दुःख भोगते हैं, रुण्डमाला धारण करते हैं, गीले चमड़े को ओढ़ते हैं। इसी प्रकार धर्म की प्राप्ति करने के लिए अश्वमेध, राजसूय नरमेध तथा पशु यज्ञादि अनेक पाप करते हैं। परन्तु इन की यह मिथ्यात्व कामना उसी प्रकार व्यर्थ होती है जिस प्रकार बालू को कोल्हू में पेलकर तेल निकालने वाले की कामना व्यर्थ होती है अर्थात् ऐसे कृत्य करने से स्वप्न में भी सुख की लेश मात्र प्राप्ति नहीं हो सकती।

अब आगे यह बतलाते हैं कि सच्चे सुख की प्राप्ति निर्ग्रन्थ दिगम्बरी दीक्षा के विना नहीं हो सकती।

मुक्तियोळल्लदिल्ल सुखवंतदु कर्मविनाशविल्लदे।
व्यक्तिगे बारदा दुरितनाशके दीक्षेये बेकु मोहदा॥
शक्ति योळिर्दवंगे रुचिदोरदु दीक्षयदर्के निम्न स–
द्भक्तिये बीजभोय्यनदनीवुदु मुंदपरपराजितेश्वरा!॥३२॥

हे अपराजितेश्वर! जो असली सुख है वह मोक्ष को छोड़कर अन्यत्र नहीं है और वह मोक्ष सुख, कर्म नाश के विना व्यक्त रूप में प्राप्त नहीं होता। कर्मनाश के लिये जिनदीक्षा आवश्यक है, परन्तु मोह को इष्ट समझकर उसमें फंसने वाले को वह जिन दीक्षा इष्ट

नहीं लगती। उस दीक्षा में प्रेम उत्पन्न होने के लिये आप में पूर्ण भक्ति ही बीज रूप है। वह भक्ति रूपी बीज मेरे हृदय में अंकुरित हो जाय, यह मेरी भावना है ॥३२॥

O Aparajiteshwar ! The true happiness does not exist elsewhere than in thes alvation, and that happiness can not be attained without the destruction of karmas, though it remains potential in every Jiva. To become an ascetic (Muni) is essential for the deluded person does not think it desirable. Complate devotion in You is the seed for production of love with such consera-tion (Muni Diksha). I wish to cultivate that seed of devotion.

विवेचन—ग्रन्थकारने इस श्लोकमें यह बतलाया है कि सुख मोक्षके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है, अर्थात् सच्चा सुख मोक्ष में ही है अन्य स्थान में नहीं है और वह सुख कर्म नाश के बिना प्राप्त नहीं हो सकता है, उस कर्मनाश के लिये दीक्षा ही चाहिये। मोहमें आसक्त रहनेवाले मोही जीवको दीक्षा इष्ट नहीं दीखती है, दीक्षामें प्रेम उत्पन्न होनेके लिये आपकी उत्तम भक्ति ही बीजरूप है, और उससे ही आगे चलकर विषयोंसे विरक्ति प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं।

विरक्ति तभी होगी जब कि भगवान् के द्वारा कहे हुये मार्ग पर अनुसरण किया जायगा। इस प्रकार अनुसरण करने से

सांसारिक विषय वासनाओं से विरक्त होकर मन में संसार भोग की ग्लानि होकर सच्चे आत्मस्वरूप पर विश्वास हो जाता है। परन्तु आजकल रागादिक कषायों की अधिक मात्रा बढ़ जाने से तथा संसार की रुचि मन में विद्यमान रहने पर किसी कारण वश केवल दीक्षा मात्र ग्रहण करने से ही आत्मकल्याण कभी नहीं हो सकता।

दानशासन में इसी प्रकार कहा भी है कि:—

दीक्षा का उद्देश्यः—

दीक्षां गृह्णन्ति मनुजाः स्वकर्महरणाय च।
स्वपुण्यवृद्धये केचित् केचित्संसृति-मुक्तये ॥२४॥

संसार में कोई मनुष्य अपने कर्मों को नाश करने के लिये दीक्षा लेते हैं, कोई अपने पुण्य की वृद्धि के लिये दीक्षा ग्रहण करते हैं और कोई संसार से छूटने के लिये दीक्षा लेते हैं ॥२४॥

विश्वजीवानुकम्पावान् धर्मप्रद्योतकारकः।
यथा श्री गौतमस्वामी केचिदात्मविशुद्धये ॥२५॥

संसार के समस्तजीवों के प्रति अनुकंपा रखनेवाले, धर्म की प्रभावना करनेवाले श्री गौतम स्वामी ने जिस प्रकार आत्मशुद्धि के लिये दीक्षा ली थी वैसे भी कोई कोई दीक्षा ग्रहण करते हैं।

कश्चित्स्वकुलनाशाय दुष्कृतोपार्जनाय ना ।
बंधुवर्गविनाशाय द्वीपायन मुनिर्यथा ॥ २६ ॥

कोई कोई द्वीपायन मुनिके समान अपने कुलके नाशके लिये, पापों के उपार्जन के लिये एवं बंधुवर्गों का संहार करनेके लिये दीक्षा लेते हैं ।

काश्चिदात्मविनाशाय निजधर्मैकहानये ।
दुष्टमिथ्याग्रहग्रस्तः पार्श्वनामा मुनिर्यथा ॥ २७ ॥

कोई २ पार्श्व मुनि की भांति अपने नाश के लिए, अपने धर्म के नाशके लिये दुष्ट मिथ्यारूपी भूतके वशीभूत होकर दीक्षा लेता है ॥ २७ ॥

कोई २ कार्त्तांगार के समान उच्चासनों के लोलुपी होकर अथवा कीर्तिका लोलुपी बनकर चित्तमें अपने स्वामी को नाश करनें की भावना से दीक्षा लेता है ।

कोई कोई देहके क्लेश को सहन करनेवाले हैं और कोई अन्य के उत्कर्ष को देखकर सहन करनेवाले नहीं हैं । वे आगे के जन्म में राजा होकर भी प्रजा व धर्म को नाश करते हैं ।

कोई २ काय से तप धारण कर वचन और मन से उसका नाश करते हैं, वे उसी की भांति मूर्ख हैं जो कि खेत की बेकार तमाम घासों को न काटकर व्यर्थमें शस्यों का ही नाश करता है ।

कोई २ मुनि एक दूसरे के प्रति मत्सर भाव रखकर एक दूसरे की निन्दा किया करते हैं। जिस प्रकार स्वामी के दिये हुये धन को खाकर भी नीच सेवक स्वामी की निंदा किया करते हैं।

कोई २ मुनि वैरागी होते हुए भी विषफलके समान अत्यन्त रागी होते हैं। कुम्भकार के मटकों को पक्व करनेके लिये अग्नि के समान काम पीड़ित होते रहते हैं।

कोई २ वायुभूति मुनिके समान मुनि होते हुए भी उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्तम साधुओं की स्वयं निन्दा करते हैं और दूसरोंसे भी कराते है।

कोई २ मुनि वैदिक ब्राह्मणों के समान मायाचार से देह संस्कारों को करते हैं और आत्मघात करनेवाले दुर्विचारों को सदा मनमें लाते रहते है। इसी प्रकार और भी दीक्षा के अयोग्य पुरुषोंका लक्षण कहते हैं कि:—

लोभिक्रोधिविरोधिनिर्दयशपन् मायाविनां मानिनां।
कैवल्यागमधर्मसंघविबुधावर्णानुवादात्मनाम् ॥
मुंचामो वदतां स्वधर्ममलं सद्धर्मविध्वंसिनां।
चित्तक्लेशकृतां सतां च गुरुभिर्देया न दीक्षा क्वचित् ॥४१

(दान०)

जो लोभी हो, क्रोधी हो, धर्म विरोधी हो, निर्दयता से दूसरों को गाली देता हो, मायावी हो व मानी हो, केवली, आगम, धर्म,

संघ और देव इन पर मिथ्या दोषारोपण करता हो, "मौका आने पर मैं निर्मल धर्म को छोड़ दूंगा" ऐसा कहता हो, सद्धर्म का नाशक हो, सज्जनों के चित्त में क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो उसे गुरुजन दीक्षा कभी न देवें।

अब आत्महित करने योग्य तथा जिनके मनमें आत्म-प्राप्ति करने की उत्कृष्ट लालसा उत्पन्न हुई है ऐसे उत्तम कुल, जाति, गोत्र और वंशसे सुशोभित भव्य जीव ही संसाररूपी दावानल को जलाने के हेतुसे सच्चे गुरु तथा आचार्य महाराज के चरण-कमलोंमें जाकर विनय के साथ कर्म छेदन करने के लिए जैन दिगम्बरी दीक्षा की याचना करते हैं कि:—

श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम्।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥३॥

(प्रवचनसार)

उस परम आचार्य के पास जाकर नमस्कार करता हुआ निश्चय से हे प्रभो! मुझको शुद्धात्म तत्त्व की सिद्धि करके अंगीकार करो। इस प्रकार वचन सुनकर आचार्य उपदेश देते हैं। वे आचार पंचाचार के आचरण करने तथा करानेमें प्रवीण अर्थात् साम्यभाव लीन हैं, यती पदवी का आप आचरण करने तथा अन्य को आचरण करानेमें प्रवीण होने से सभी गुणोंसे परिपूर्ण हैं, कुल से, रूप से, वय से, विशेषता से उत्कृष्ट हैं तथा वे मुक्ति के इच्छुक महामुनियोंके अतिप्रिय हैं।

अर्थात् जो उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ हो उसकी सभी लोग निःशंक होकर सेवा करते हैं। जो उत्तम कुलोत्पन्न होगा उसके कुलकी परिपाटी से ही क्रूर भावादिक दोषों का अभाव निश्चय से होगा। इससे कुलकी विशेषता लिये हुये ही आचार्य होते हैं। आचार्यके बाहर से रूप की विशेषता ऐसी है कि देखने से उनमें अन्तरंग की शुद्ध अनुभव मुद्रा पाई जाती है; तो भी बाहर की मुद्रासे मानों अंतरंग की शुद्धता बतलाई जा रही है इस कारण रूपकी विशेषता से इस तरह हैं कि बालक वृद्धावस्था में बुद्धि की विकलता से रहित हैं और युवावस्थामें काम विकार से बुद्धि की विकलता होती है, तो भी उससे रहित हैं। ऐसी अवस्था की विशेषता लिये हुये आचार्य कहे गये हैं और समस्त सिद्धान्तोक्त मुनिक्रियाके आचरण करने व कराने में जो कभी पीछे दोष हुआ हो, उसको बतलानेवाले तथा गुण का उपदेश करनेवाले हैं इसलिये वे आचार्य अत्यन्त प्रिय हैं। इन अनेक गुणोंसे शोभायमान जो आचार्य हैं उनके पास जाकर इस दीक्षा व्रत को ग्रहण करनेवाला मनुष्य पहले तो नमस्कार करता है उसके बाद शुद्धात्म तत्त्व के साधक आचार्य को हाथ जोड़कर उनसे विनती करता है कि हे प्रभो! मैं संसार से भयभीत हुआ हूँ, इसलिये शुद्धात्म तत्त्व की सिद्धि के लिये मुझे दीक्षा दीजिये।

पूज्यपाद आचार्य जी ने और भी देश, कुल तथा जाति की शुद्धि की आवश्यकता आचार्यों में इस प्रकार बतलाये हैं कि:—

देसकुलजाइसुद्धाविसुद्धमणवयणकाय संजुत्ता ।
तुह्म' पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं ॥१॥
(दशभक्ति)

देश और पितृवंश जिनका शुद्ध है और जो निर्मल मन वचन काय को धारण करनेवाले हैं ऐसे आचार्य श्री के चरण कमलों में मेरा सदा नमस्कार हो ।

सगपरसमय विदण्हू आगमहे दूहिं चावि जाणित्ता ।
सुसमत्था जिनवयणे विणये सत्ताणुरुवेण ॥२॥

भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ मत अर्थात् जैनधर्म और अन्य मत का जिस आचार्य को ज्ञान होता है, आगमप्रमाण और नय के आधार से भगवान के द्वारा प्रतिपादित जीवादि पदार्थों के समर्थन करने में जो समर्थ होते हैं ऐसे आचार्य सर्व प्रिय होते हैं ।

जो पुरुष मुनि होना चाहता है, उसके प्रथम तो ऐसे भाव होते हैं, कि न मैं पर द्रव्य का हूँ, और न मेरे पर द्रव्य हैं, क्यों कि कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर किसी से मिलता नहीं, सब जुदे जुदे हैं । इसलिये संसार में जो नो कर्म, द्रव्य कर्म, भावकर्म रूप समस्त परभाव हैं, उनमें मेरा स्वरूप कुछ भी नहीं है । मैं सबसे भिन्न अविनाशी टंकोत्कीर्ण वस्तु मात्र हूँ । ऐसा निश्चय करके जितेन्द्री होता हुआ जैसा कुछ मुनि का स्वरूप है, उसको

धारण करता है। आगे अनादि काल से लेकर कभी जिसका अभ्यास नहीं किया था, ऐसा जो यथाजातरूप धारक मुनिपद है, उसकी बतलानेवाली अंतरंग बहिरंग भेद से लिंग की द्वैतता दिखलाते हैं अर्थात् जिन चिन्हों से मुनि पदवी अच्छी तरह जानी जावे, ऐसे द्रव्य भाव लिंगों को कहते हैं:—

यथाजात रूप (निर्ग्रन्थपने) पद के रोकने वाले जो राग, द्वेष, मोह भाव हैं, उनका जब अभाव होता है, तब यह आत्मा स्वयंमेव परिपाटी के अनुसार यथाजात रूप का धारक होता है। उस अवस्था में इस जीव के रागादि भावों के बढ़ानेवाले जो वस्त्राभूषण हैं, उनका अभाव तथा सिर दाढ़ी के बालों की रक्षा का अभाव होता है, निष्परिग्रह दशा होती है, पाप क्रिया से रहित होता है और शरीर मंडनादिक क्रिया से विवर्जित रहता है, अर्थात् जैसा जैसा मुनि का स्वरूप बाह्य दशा से होता है, वैसा ही बन जाता है। यह द्रव्य लिंग जानना तथा इस आत्मा के जैसा निर्ममत्वादि अंतरंग में मुनिपद कहा गया है, वैसो ही अवस्था से जो स्वरूप का होना है उसके रोकनेवाले जो राग द्वेष मोह भाव हैं, उनका जब अभाव होता है तब इस आत्मा के स्वाभाविक मोक्ष का कारण, अहंकार ममताभाव रहित, उपयोग की शुद्धता संयुक्त, स्वाधीन अंतरंग लिंग प्रकट होता है। इस प्रकार जब यह आत्मा बाह्य चिन्हों से और अंतरंग चिन्हों से यथाजात रूप का धारक होता है, तब इसके मुनि पद होता है। आगे दो प्रकार

के लिंग को अंगीकार कर अन्य क्रियाओं को करके ही मुनि होता है, इस कारण कुटुम्बीजनों से पूछने आदिक क्रियासे लेकर आगे जो समस्त क्रिया मुनि पद की पूर्णता तक है, उन सब क्रियाओंका जब यह पूर्ण कर लेता है, तब इसके निश्चय से मुनिपद की सिद्धि होती है, सोही कहते हैं:—

जो मुनि होना चाहता है वह प्रथम गुरु के उपदेश से दो प्रकार के लिंग को धारण करता है। वह दो प्रकार का लिंग व्यवहार से गुरु का दिया हुआ कहा जाता है; क्योंकि गुरु ने ही द्रव्य भाव लिंग की विधि बतलाई है और यह शिष्य जब इस लिंग को स्वीकार करता है, तब मानता है कि गुरु ने मुझको मुनिपद दिया है, ऐसी भावना से तन्मय होता है। पीछे गुरुको परम उपकारी जानकर नमस्कार करता है, उसके बाद बहुत भक्ति से स्तुति करता है और सब पापयोगों की क्रिया के दूर करनेवाले पांच महाव्रतों को यत्नाचार रूप श्रुतज्ञान से सुनता है, जैसा सिद्धान्त में टंकोत्कीर्ण शुद्ध सिद्ध समान आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा ही जानता हुआ राग द्वेष से रहित सामायिक दशा को प्राप्त होता है और प्रतिक्रमण, आलोचन, प्रत्याख्यान स्वरूप श्रुतज्ञान से सुनता है, सुनकर तीन काल के कर्मों से भी भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करता है। तीन काल के मन वचन काय की क्रिया से रहित स्थिर स्वरूप को प्राप्त होता है और जिस शरीर की क्रिया से पाप होवे, ऐसे काय योग का त्यागी होता है

तथा यथाजात स्वरूप को धारण कर एकाग्रता मे निष्ठता है। जब इतनी संपूर्ण क्रियायें होती हैं, तभी मुनि पदवी होती है। इस पद के द्वारा ही अपने आत्मामें एकाग्र होकर आगे के अनुसार तथा भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुये मार्गका अनुसरण तथा भक्ति इत्यादि रुचि पूर्ण श्रद्धाके साथ क्रम क्रम से कर्मकी निर्जरा करते हुए सच्ची आत्म सुख शांतिको प्राप्त कर लेता है। तभी उनका संसार का आवागमन बंद होता है।

आगे कहते हैं कि इस प्रकार कर्म निर्जरा के अभ्यास के लिये दानपूजादि व्यवहार क्रियायें मुख्य कारण हैं:—

शक्तिगेतक्क दान गुरुपूजन सुव्रत पर्वकाल नि– ।
मु क्तिगळं नेगळ्वुते जिनागमगोष्ठिगळल्लि धर्म सं– ॥
युक्तर मेळ्दोळ् कळेयुतुं दिनमं नडेवंगे मोहदा– ।
शक्ति सडिल्दु पोपुदिदु भक्तिपला अपराजितेश्वरा ! ॥२३॥

हे अपराजितेश्वर ! यथा शक्ति दान, गुरु, पूजन, श्रेष्ठ व्रत पालन, अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में उपवास, जैनागम संबंधी सभाओं में आवागमन धर्मात्मा, के साथ सत्संगति आदि में समय लगाने वाले भव्य ज्ञानी की मोह शक्ति कम हो जाती है सो यह धार्मिक वृत्ति ही आपमें भक्तिसे नहीं हो सकती क्या ? ॥२३॥

O' Aparajiteshwar ! The delusion of a promising Jiva is lessened, who devotes his time in donating

gifts according to his capacity, adoration of ascetics (Muni), observance of pious vows, fasting, visiting cultural & religous meetings and in having company with religious people. Are not these religious activities a devotion in you ?

विवेचनः—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि मोह अथवा कर्मरूपी गाँठ को ढीला करने के लिये यथाशक्ति दान, गुरु-पूजन, श्रेष्ठ व्रत अष्टमी और चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में उपवास, जिनवाणी में विश्वास तथा धर्मात्माओं के सहवास में रहकर धार्मिक तत्त्व चर्चा करते हुये अपने समय को व्यतीत करना चाहिए। क्योंकि इन क्रियाओं के करने से कर्म रूपी गाँठ शीघ्र ढीली हो जाती है तथा इसको करने वाले भव्य प्राणी की भक्ति क्या नहीं है ? अवश्य है।

दान चार प्रकार के येहैं:—

आहार दान, औषधि दान, शास्त्र दान तथा अभयदान। इन चार प्रकार के दान को श्रद्धा पूर्वक करने वाले भव्य जीव अनन्तकाल के लिये सुखी हो जाते हैं। पद्मनंदि पंचविंशतिका में भी दान की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि:—

श्रेयान् नृपो जयति यस्य गृहे तदा स्या—
त्रैलोक्यवंद्य मुनि पुंगवपारणायाम्।

सा रत्नवृष्टिरभवज्जगदेक चित्र
हेतुर्यया वसुमतीत्वमिता धरित्री ॥ २-३ ॥ (पद्मनंदि०)

वे राजा श्रेयांस सदा जयवन्त रहें कि जिस के घर में तीन लोक के वंदनीय श्री ऋषभदेव की पारण के समय तीनों लोकोंको आश्चर्य करने वाली रत्नों की ऐसी वर्षा हुई कि जिससे यह पृथ्वी साक्षात् वसुमती नाम को धारण करके विख्यात हुई। अब आचार्य दान के उपदेश की इच्छा करते हुये कहते हैं कि:—

प्राप्तोऽपि दुर्लभतरेऽपि मनुष्यभावे।
स्वप्नेन्द्रजालसदृशेऽपि हि जीविताद्दौ॥
ये लोभकूपकुहरे पतिताः प्रवक्ष्ये।
कारुण्यतः खलु तदुद्धरणाय किञ्चित्॥ २-४॥ पद्मनंद०

अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर स्वप्न और इन्द्रजाल के समान जीवन यौवन आदि होने पर भी जो मनुष्य लोभ रूपी कुयें में गिरे हुये हैं उनके उद्धार के लिये आचार्य कहते हैं कि मैं दयाभाव से कुछ कहूँगा।

स्त्री पुत्र धन आदिक मुख्य पदार्थों के समूह से उठा हुआ अत्यन्त घोर तथा प्रचुर मोह के विशाल समुद्रस्वरूप इस गृहस्था-श्रम से पार होने के लिये परम सात्विक भाव से दिया हुआ सर्व-गुणों में उत्कृष्ट सत्पात्र दान ही जहाज स्वरूप है। गृहस्थाश्रम में धन कुटुम्बादिक से अधिक मोह रहता है इसलिये गृहस्थपना

केवल संसार में डुबाने वाला है, परन्तु उस गृहस्थावस्था में यदि सत्पात्र दान दिया जावे तो वह दान मनुष्यों को संसार रूपी समुद्र में नहीं डूबने देता है। इसलिये भव्य जीवों को सर्वगुणों में उत्कृष्ट दान देकर गृहस्थाश्रम को अवश्य सफल करना चाहिये। इस दान के ही प्रभाव से देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण तथा तीर्थंकर इत्यादि महान् महान् पद को प्राप्त किये तथा इह परलोक अर्थात् संसार और स्वर्ग का सुख भोगकर अन्त में मोक्ष पद प्राप्त करके सदा के लिये सुखी हो गये। इसलिये भव्य धर्मात्मा पुरुषों को श्रद्धा पूर्वक सत्पात्र के लिये दान अवश्य देना चाहिये। देखिये राजा श्री सेन ने सात गुण सहित तथा नौ भक्ति पूर्वक आदित्य गति और अरिंजय गति नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को आहार दान देने प्रभाव से ही श्री शांतिनाथ तीर्थंकर पद प्राप्त कर लिया था। यह कथा प्रथमानुयोग जैन शास्त्र में प्रसिद्ध है। दानशासन में भी कहा है कि:—

यः श्रांतिं शमयत्यसौ सुकृतवान्पात्रस्य मुक्तश्रमः।
स्वस्थो स्वास्थ्यमिहामयान्गतरुजश्चितामचिंत क्षुधां॥
तृप्तो दोषमदोषवान्क्रुधमिमांतांतः प्रहृष्टोऽनिशं।
संक्लेशं जडतां मतेः शुभमतिर्ज्ञानी भवेन्निर्मलः॥ १७॥

(दान शा०॥

जो धर्मात्मा पुण्यवान् दाता पात्रों के श्रम को पान द्रव्यादिकों को देकर दूर करता है, वह जन्म भर श्रम रहित होता है। जो

पात्र को स्वास्थ्य पहुँचाता है वह स्वयं भी जन्म भर स्वास्थ्य युक्त हो जाता है। पात्रों के असाता से उत्पन्न रोगों को दूर करने वाला स्वयं निरोगी शरीर को प्राप्त करता है। पात्रों की चिन्ता को दूर करने वाला स्वयं चिंता रहित, आहारादिक को देकर क्षुधा दूर करने वाला स्वयं सुखादिक से तृप्त, पात्रों के दोष को दूर करने वाला स्वयं निर्दोषी, उनके क्रोधादिक को शान्त करने वाला स्वयं सर्व प्रकार से शान्त, उनके संक्लेश परिणाम को दूर करने वाला स्वयं सर्व प्रकार से संतुष्ट, एवं उनके अज्ञान को दूर करने के लिये योग्य साधन को उपस्थित करने वाला ज्ञानी व निर्मल होता है।

ये जानंति रुचेष्टवस्तु खलु यद्दाता च तद्दापय-
न्यद्वांछंति तदेव नास्ति च वचोऽवक्ता न वाचा हृदा ॥
कायेनापि मनो मुदा दद ददेदं वस्त्विदं संवदन् ।
शक्तःसोऽपि महान् बुधोऽति सुकृती स्याद्दानशौण्डोऽनघः२०
(दान शा०)

श्रावक को उचित है कि वह पात्रों को आहार दान देते समय पात्र की रुचि तथा प्रकृति आदि सभी बातों को जान ले। तत्पश्चात् उनकी रुचि के अनुसार जो भोजन करते हों उन पदार्थों को मन वचन व काय से सन्तोष पूर्वक परोस दे। आहारदान देते समय जो बहुत प्रसन्न रहता है तथा दूसरे परोसने वाले को भी जो हर्ष पूर्वक आज्ञा देता है, उसे पुण्यवान्, बुद्धिमान् तथा दान शूर

समझना चाहिये। ईर्षा व कषाय के साथ अथवा दिखाने के लिये किया हुआ दान वास्तविक दान और भाव रहित किया हुआ धर्माचरण धर्म नहीं है। दान करने में दाता का शुभाशुभ भाव ही मुख्य है। उसमें अन्न पुष्प आदि की मुख्यता नहीं है। जिस प्रकार राज सभा में नृत्य करने वाली नर्तकी अपने हाव भाव से ही दर्शकों के मन को आकर्षित करके प्रचुर धन एकत्रित कर लेती है, उसी प्रकार दाता भी अपने शुभ भावों के द्वारा सत्पात्रों को उत्तमोत्तम दान देकर विविध प्रकार से उनकी सेवा करके अक्षय पुण्य संपादन कर लेता है।

औषधिदानः—

जिस समय श्री कृष्ण, भगवान् नेमिनाथ के समव शरण में उनके दर्शनार्थ जा रहे थे उस समय मार्ग में उन्होंने जंगल के भीतर रोग से पीड़ित एक मुनिराज को देखा। रोगग्रस्त मुनिराज के धर्म ध्यान में बाधा देखकर श्री कृष्ण ने एक वैद्यराज को बुलाया। वैद्यराज वैयावृत्य के रूप में धीरे से मुनिराज के रोग का निरीक्षण करके योग्य आहार में औषधि देने के लिये श्री कृष्ण से कहा। तत्पश्चात् श्री कृष्ण ने वैद्य के कथनानुसार नित्य नियमित रूप से विशुद्ध औषधि देने लगे और थोड़े ही दिनों में उत्तम दवा के कारण मुनिराज ठीक हो गये तथा निर्विघ्नता से आत्म साधन करके उत्तम गति को प्राप्त हुये। भक्ति भाव से औषधि दान देने के प्रभाव से ही श्री कृष्ण को तीर्थंकर प्रकृति

का बंध पड़ गया है "यह कथा श्री जयसेनाचार्य कृत कानड़ी धर्मामृत नामक ग्रन्थ में प्रसिद्ध है।"

शास्त्रदानः—

प्राचीन काल में किसी नगर में एक सेठ के घर में एक ग्वाल नौकर था। वह रोज गायों को जंगल में चराने के लिये ले जाया करता था। जंगल में एक बहुत पुराना वृक्ष था। उसके ट्रंक की पोल में हस्त लिखित एक सुन्दर शास्त्र सुरक्षित रक्खा हुआ था। अचानक इस ग्वाले की दृष्टि उस पर पड़ गई और उसनें वहाँ जाकर विनय पूर्वक उस शास्त्र को उठा लिया तथा उसे अपने कमरे में लाकर पवित्र स्थान में विराजमान किया। वह ग्वाला प्रतिदिन स्नान करके पवित्र होकर शास्त्र की पूजा अर्चा किया करता था। एक दिन सौभाग्य वश सेठजी के भवन में एक मुनिराज चर्या के लिये पधारे। सेठजी ने मुनिराज को सात गुण तथा नौ विधि भक्ति पूर्वक आहार दान से सन्तुष्ट कर के विविध प्रकार से उनकी पूजा आराधना की। सेठजी की भक्ति को देख-कर उनके नौकर अर्थात् ग्वाले के मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि सेठजी ने तो आहार दान देकर मुनिराजजी को सन्तुष्ट किया, किन्तु मेरे पास कौन सी ऐसी वस्तु है जिसे देकर मैं भी मुनिराज को सन्तुष्ट करूँ ? अन्त में उसे स्मरण हो गया कि महात्माजी को समर्पित करने लायक जंगल से लाया हुआ हस्त लिखित उत्तम शास्त्र तो हमारे पास विद्यमान ही है। अतः वह तुरन्त ही वहाँ

से शास्त्र को हर्ष पूर्वक उठा लाया और उसे भक्ति व विनय के साथ मुनिराज को समर्पित करके संतुष्ट किया। श्रद्धा व भक्ति पूर्वक शास्त्र दान देने के प्रभाव से ही वह ग्वाला मरने के पश्चात् कुंदकुंदाचार्य नामक श्रुतकेवली हुआ "यह कथा जैन शास्त्र में विख्यात है।"

अभयदानः—

एक पर्वत की गुफा में एक मुनिराज ध्यान कर रहे थे कि रात्रि में एक शेर उन्हें खाने के लिये दौड़ा। शेर को देखते ही एक वनैला शूकर मुनिराज को बचाने के लिये उससे युद्ध करने लगा। अन्त में दोनों लड़कर मर गये। परन्तु शेर की हिंसात्मक दुर्भावना के कारण वह नरक में गया और शूकर की रक्षात्मक सद्भावना के कारण उसे देवगति प्राप्त हुई। कुछ समय के पश्चात् शूकर के जीव ने देव गति की आयु समाप्त करके भरतक्षेत्र में राजा भीष्मक की कन्या रुक्मिणी नाम से जन्म लिया और वही रुक्मिणी श्रीकृष्ण की पटरानी हुई। "यह कथा हरिवंश पुराण में प्रसिद्ध है। भक्ति भाव पूर्वक अर्हन्त देव, शास्त्र और गुरु की पूजा करने वाला भव्य भक्त शीघ्र ही संसार सागर से पार हो सकता है। इसलिये आत्म-कल्याण करने वाले भव्य भक्तों को भगवान् की पूजा जल चंदनादि से नित्य नियमित रूप से श्रद्धा पूर्वक करते रहना चाहिये। क्योंकि केवल भाव पूर्वक पूजा की कल्पना करने मात्र से ही मेंढक का जीव स्वर्ग में देव

पद प्राप्त करके भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में चला गया। यह कथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखी हुई है।

अतः—

भव्यात्मा श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार पाँच अणुव्रत, तीन गुण और चार शिक्षा व्रत पालन करना चाहिये क्योंकि भाव पूर्वक अणुव्रत पालन करने से तिर्यंच पशु भी नर गये। इसलिये उपर्युक्त व्रत नियमादि को भक्ति पूर्वक पालन करने वाले भव्य पुरुष की मोहरूपी गाँठ ढीली होती है, शुभ भावना की वृद्धि हो जाती है, स्वरूपाचरण का अभ्यास हो जाता है तथा वे पांडव, भरत, सगर इत्यादि के समान शुद्धोपयोग में लीन होकर संसार की यात्रा समाप्त करके संपूर्ण कर्मों की निर्जरा होने से अपने निज स्थान अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करके सदा के लिये सुखी हो जाते हैं।

आगे के श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि यदि व्रत नियमादि का आचरण करने की स्वयं शक्ति न हो तो दूसरे को देखकर मन में आनन्द मनाना चाहिये।

माडुवुदर्के शक्ति तनगोच्चतमिल्लदोडल्द् धर्मम ।
माडुवरल्लि नोडि परिणामवनेय्दुवुदोमें नोळ्पुदु ॥
कूडदोडंते केल्दुसुखियप्पुद निम्मने नंबि धर्ममं ।
जोडिसिकोंबुदर्के त्रिरिसुटे जनकक्रपराजितेश्वरा ! ॥३४॥

हे अपराजितेश्वर ! यदि इस प्रकार व्रत आदि करने की शक्ति न हो तो प्रेम या भक्ति के साथ धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य भाव रखकर अपने परिणामों को ठीक रखना, उनको ठीक कर प्रसन्न होना, उनकी सेवा शुश्रूषा करना इत्यादि शुभ परिणाम भाव रखते हुये आप के चरणों में भक्ति रक्खे तो क्या उसको कष्ट हो सकता है ? कभी नहीं ॥३४॥

O Aparajiteshwar ! If any one does not have capacity to observe much vows but keeps his feelings pure, has affection with religious people, becomes glad by respecting and serving them and has devotion in you, then, can there remain any misery for him ? Never.

इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि दान, धर्म, भगवान् की पूजा, आराधना, व्रत, उपवास, नियम तथा संयमादि क्रियाओं के करने की शक्ति यदि अपने अन्दर न हो, तो दूसरे के द्वारा धर्म, साधन चार प्रकार के दानत था शास्त्र स्वाध्याय आदि देखकर अपने परिणामों को धर्मध्यान में स्थिर रखने के लिये धीरे धीरे धर्मसाधन का अभ्यास करके पुण्य संचय करना चाहिये । क्योंकि धर्मात्माओं की धार्मिक क्रिया देखकर हर्ष पूर्वक उसका अनुमोदन करने से भी पुण्य बंध होता है । यदि किसी कार्य वश किया हुआ धार्मिक कार्य देखने को न मिले, तो कर्ण परंपरा से सुनकर उस पर केवल संतोष प्रकट करने से भी पुण्यबंध होता है । क्या

कभी भगवान् के ऊपर विश्वास व श्रद्धा पूर्वक धर्म करने वाले प्राणी को कष्ट हो सकता है ? कभी नहीं।

देखो, विषयासक्त संसारी जीव लोभ कषाय के वशीभूत होकर अपने को बड़ा समझकर दूसरे के साथ ईर्षा द्वेष करके उसके किये हुये धार्मिक कार्य को कभी पसन्द नहीं करते। इतना ही नहीं बल्कि उसके धार्मिक कार्य में विघ्न डालकर अकारण पाप बंध करते हैं। ऐसे अहंकारी जीव यदि गर्व पूर्वक लोगों को दिखाने के लिये व्रतादिक धर्म कार्य करें तो उससे पुण्य न होकर उलटे पाप ही होता है। इसलिये आत्म कल्याण करने की इच्छा रखनेवाले भव्यपुरुष को सदा अपने परिणामों को निर्मल रखना चाहिये क्योंकि धर्म साधन करने के लिये परिणामों की ही प्रधानता रहती है। इस पर एक कथा इस प्रकार कही गई है कि —

अगले भव में तीर्थंकर होने वाले वज्रजंघ एक दिन सायंकाल को युद्ध से लौटकर समुद्र तट पर अपना डेरा डालकर अपनी प्यारी रानी श्रीमती के साथ आनन्द मनाने लगे। दूसरे दिन "श्रीमान् दमधर तथा सागर सेन" नामक मुनिराजों ने वज्रजंघ के पड़ाव में आकाश मार्ग से पदार्पण किया। दोनों मुनियों ने वन में आहार लेने की प्रतिज्ञा कर ली थी, इसलिये इच्छानुसार विहार करते हुये वज्रजंघ के डेरे के निकट आये। दोनों मुनिराज पाप कर्म से रहित होकर कांतिमान होने से इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे कि मानों वे स्वर्ग और मोक्ष के साक्षात् स्वरूप ही हों।

अपने शरीर की कांति से वनके अन्धकार को शीघ्र ही नष्ट करने वाले परम तेजस्वी मुनिराज को देखते ही पुण्यात्मा राजा वज्रजंघ संभ्रम के साथ तुरन्त ही उनके निकट जाकर मुनिराज को पडहाया तथा भूमि शुद्धि के साथ उन्हें अपनी भोजनशाला में लेजाकर एक उच्चासन पर विराजमान किया। तत्पश्चात् राजा रानी भक्ति पूर्वक मुनिराज का पाद प्रक्षालन करके अर्घ पूजा करके नमस्कार किया तथा मन वचन काय को शुद्ध करके श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, अलोभ, क्षमा ज्ञान और शक्ति इन सात गुणों से विभूपित होकर दोनों मुनियों को विधि पूर्वक आहारदान दिया। तत्पश्चात् सत्पात्र दान के प्रभाव से पंचाश्चर्य वर्षा इस प्रकार होने लगी:- देवगण गगन से रत्न व पुष्पों की वर्षा करने लगे, मेघ आकाश से स्वच्छ जलकी छोटी छोटी बिन्दुओं को वर्षाने लगे तथा मन्द गति से मनोहर हवा चलकर सबका मन मोहित करने लगी। आकाश में दुन्दुभि बजने लगी तथा चारों ओर से अहो दान! अहोदान! का उच्चारण लोग करने लगे। तत्पश्चात् जब मुनिराज वहाँ से शान्तिपूर्वक आहार लेकर प्रस्थान कर गये। तब दासी के द्वारा राजा रानी को ज्ञात हुआ कि उक्त मुनिराज हमारे ही अंतिम पुत्र हैं। यह जानकर राजा वज्रजंघ अपनी रानी के साथ प्रसन्नता पूर्वक मुनिराज के पास जाकर चरणों में नमस्कार करके पुण्य की कामना से सद्गृहस्थों का धर्म सुनने लगे। मुनि-राज ने दोनों को बड़े प्रेम से दान, पूजा, शील, संयम तथा प्रोषध

आदि धर्मों का विस्तृत स्वरूप समझाया। तदनन्तर राजा रानी ने अपने पूर्वभव का वृतान्त पूछा। राजा के उपर्युक्त प्रश्न को सुनकर मुनिराज उनके पूर्वभव का वर्णन इस प्रकार करने लगे:—

हे राजन्! तू इस जन्म से चौथे जन्म में जम्बू द्वीप के विदेह क्षेत्रस्थ गंधिल देश के सिंहपुर नगर में राजा श्रीषेण की अतिशय मनोहर "सुन्दरी" नामक रानी का ज्येष्ठ पुत्र था। तुमने निर्ग्रंथ दिगम्बरी दीक्षा धारण की, किन्तु पूर्ण रूप से विरक्त भाव व संयम का पालन न करके उलटे विद्याधर राजाओं के भोगोपभोगों में चित्त लगाने के कारण निदान बन्ध किया और मरने के पश्चात् पूर्वोक्त गंधिल देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तरी श्रेणी पर अलका नाम की नगरी में महाबल हुआ। वहाँ पर तुमने इच्छा पूर्वक भोग विलास करके स्वयंबुद्ध मंत्री के उपदेश से आत्म ज्ञान प्राप्त करके जिनपूजा से समाधिमरण प्राप्त किया तथा अगले भव में ललितांग हुआ। वहाँ से च्युत होकर इस समय तुम वज्रजंघ नामक राजा हुये। ये सभी शुभाशुभ परिणामों के वश हैं क्योंकि जीव अपने कर्मानुसार सुख दुःख भोगता रहता है।

यह श्रीमती भी पहले एक भव में धातकी खंड द्वीप में पूर्व मेरु से पश्चिम की ओर गंधिल देश के पलाल पर्वत नाम का ग्राम में किसी गृहस्थ की पुत्री थी। वहाँ कुछ पुण्य के उदय से

तू उसी देशमें पाटली नाम के ग्राम में किसी वणिक् के निर्नामिका नामकी पुत्री हुई। वहां उससे पिहिताश्रव नामक मुनिराज के आश्रम से विधि पूर्वक जिनेंद्र गुण संपत्ति और श्रुत ज्ञान नामक व्रतों के उपवास किये जिसके फलस्वरूप तू श्रीप्रभ विमान में स्वयंप्रभा देवी हुई थी। जब तुम ललिताङ्ग देव की पर्याय में थे तब यह तुम्हारी प्रिय देवी थी और अब वहाँ से चयकर वज्रदन्त चक्रवर्ती के श्रीमती पुत्री हुई हैं। इस प्रकार राजा वज्रजंघ ने श्रीमती के साथ अपने पूर्व भव सुनकर केतूहल से अपने इष्ट संबंधियों के पूर्व भव पूछे। हे नाथ ये मतिवर, आनन्द धनमित्र और अकम्पन मुझे भाई के समान अतिशय प्यारे हैं अतः आप प्रसन्न होकर इनके पूर्व भव कहिये। इस प्रकार राजा का प्रश्न सुनकर उत्तर में मुनिराज कहने लगे।

हे राजन्! इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में एक वत्सकावती नामक देश है जो कि स्वर्ग के समान सुन्दर है. उसमें प्रभाकरी नाम की नगरी है। यह मतिवर पूर्व भव में इसी नगरी में अतिगृध्र नामक राजा था। वह विषयों में बहुत आसक्त रहता था। उसने बहुत आरंभ और परिग्रह के कारण नरकायु का बन्ध कर लिया था जिससे कि मरकर पङ्कप्रभा नामक चतुर्थ नरक में उत्पन्न हुआ वहाँ दश सागर तक नरकों के दुःख भोगता रहा। उसने पूर्व भव में पूर्वोक्त प्रभावरी नगरी के समीप एक पर्वत पर अपना धन गाड़ रक्खा था। वह नरक से निकल कर इसी पर्वत

पर व्याघ्र हुआ। तत्पश्चात् किसी एक दिन प्रभाकरी नगरी का राजा प्रीतिवर्धन अपने प्रतिकूल खड़े हुऐ छोटे भाई को जीतकर लौटा और उसी पर्वत पर ठहर गया। वह वहाँ अपने छोटे भाई के साथ बैठा हुआ था कि इतने में ही पुरोहित ने आकर उससे कहा कि आज यहाँ आपको मुनिदान के प्रभाव से बड़ा भारी लाभ होने वाला है। भो राजन्! वे मुनिराज यहाँ किस प्रकार प्राप्त हो सकेंगे। इसका उपाय मैं अपने दिव्यज्ञान से जानकर आपके लिए कहता हूँ। सुनो—

हम लोग नगर में घोषणा करवादें कि आज राजा के बड़े भारी हर्षका समय है इसलिये समस्त नगरवासी अपने अपने घरों पर तोरण पताका आदि फहरावें, नगर की गलियों तथा आँगन में इतने सुगंधित जलका छिड़काव किया जाय कि कहीं रंच मात्र भी जमीन शेष न रहने पावे।

ऐसा करने से नगर में जाने वाले मुनि अप्रासुक होने के कारण नगर को अपने विहार के अयोग्य समझ वहाँ से लौटकर यहाँ पर अवश्य आवेंगे। पुरोहित के वचनों से संतुष्ट होकर राजा प्रीतिवर्धन ने ऐसा ही किया। जिससे मुनि राज लौटकर वहाँ आये। पिहिताश्रव नाम के मुनिराज ने एक महिने के उपवास समाप्त कर आहार के लिये भ्रमण करते हुए क्रम क्रम से राजा प्रीति वर्धन के घर में प्रवेश किया। राजा ने उन्हें सात गुण तथा नौ विधि भक्ति के साथ आहार दान दिया। वहाँ देवने रत्नों की वर्षा की।

राजा अतिगृद्ध जीव ने भी वहां सब यह हाल देखा जिससे उसे जाति स्मरण हुआ और वह अतिशय शांत होगया यहाँ तक कि उसने शरीर और आहार से भी ममत्व छोड़ दिया। कषाय परिग्रह इत्यादि त्यागकर एक शिलापर बैठ गया। श्रीपिहिताश्रव मुनिराज ने उस सिंहका सर्व वृत्तांत अवधि ज्ञान से जान लिया और जानकर उन्होंने राजा प्रीति वर्धन से कहा कि—राजन्! इस पर्वत पर कोई श्रावक होकर श्रावक के व्रत धारण कर संन्यास कर रहा है। तुझे उसकी सेवा करनी चाहिये वह आगामी काल में भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभदेव के चक्रवर्ती पद का धारक पुत्र होगा और उसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा। इस विषय में कुछ संदेह नहीं करना चाहिये। मुनिराज के वचन को सुनकर राजा प्रीति वर्धन को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। मुनिराज के साथ वहाँ जाकर अतिशय साहस करने वाले सिंह को देखा। तत्पश्चात् राजाने उसकी सेवा अथवा समाधि में योग्य सहायता की और वह देव होने वाला है यह समझकर मुनिराज ने उसके कान में णमोकार मंत्र सुनाया। वह सिंह अठारह दिन तक आहार को त्याग कर समाधि पूर्वक शरीर छोड़कर दूसरे स्वर्ग में दिवाकरप्रभ नामक विमान में दिवाकरप्रभ नाम का देव हुआ।

इस उदाहरण से संसारी मानव प्राणियों को धर्मका महत्त्व और दान की अनुमोदना का महत्त्व मालूम हुआ होगा कि उस सिंह ने केवल भवांतर के वज्रसंघ श्रीमती का हाल सुनते ही जाति

स्मरण होते ही तुरंत ही अणुव्रत धारण कर चारों प्रकार के आहार का त्याग कर के अंतमें समाधि पूर्वक शरीर छोड़कर दूसरे स्वर्ग में देव पर्याय प्राप्त की। जीव का परिणाम बड़ा विचित्र है। अर्थात् जीव के शुभ और अशुभ परिणाम का ही यह सभी खेल है। इसलिये धर्म में हमेशा अपने परिणाम को ठीक रखना चाहिये।

इस आश्चर्य को देखकर राजा प्रीतिवर्धन के सेनापति मंत्री और पुरोहित भी अतिशय शांत हुये। इन सभी ने राजाके द्वारा दिये हुए पात्र दान की अनुमोदना की थी इसलिये आयु समाप्त होने पर वे उत्तर कुरु भोग भूमि में आर्य हुए और आयु के अंत में वहाँ से आकर ऐशान स्वर्ग में लक्ष्मीवान् देव हुए। उनमें से मंत्री कांचन नामक विमान में कनकाभ नामका देव हुआ, पुरोहित रुपित नाम के विमान में प्रभंजन नामक देव हुआ और सेनापति प्रभा नामक विमान में प्रभाकर नामका देव हुआ। आपकी ललितांग देव की पर्याय में ये सब आपकें ही परिवार के देव हैं। सिंह का जीव वहां से च्युत होकर मति सागर और श्री मती का पुत्र होकर आपका मतिवर नामका मंत्री हुआ है। प्रभाकरका जीव स्वर्ग से च्युत होकर अपराजितसेना और आर्जव का पुत्र होकर आपका अकंपन नामका सेनापति हुआ है। कनक प्रभा का जीव श्रुतकीर्ति और अनंतमति का पुत्र होकर आपका आनंद नाम का प्रिय पुत्र पुरोहित हुआ है तथा प्रभंजन देव वहां से च्युत होकर

धनदत्त और धनदत्ता का पुत्र होकर आपका धनमित्र नामका संपत्ति शाली सेठ हुआ है। इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर राजा वज्रजंघ और श्रीमती दोनोंही धर्म के विषय में अतिशय प्रीति के पात्र हुये।

जब मुनिराज वज्रजंघ अपनी पूर्व भव की कथा तथा भावी वृत्तांत सुनकर शांत हुए तब अचानक वज्रजंघ की दृष्टि मुनिराज के मुख कमल की तरफ ताकते हुए व्याघ्र सिंह, वानर, सूवर और नकुल जो बैठे हुए थे। उनपर पडी तब आश्चर्य के साथ राजा ने मुनिराज से पूछा कि आपके मुख कमल के देखने में दृष्टिलगाये हुए इस मनुष्यों से भरे हुए सभा में ये निर्भय होकर कैसे बैठे हैं ? उत्तर में मुनिराज ने कहा कि ये पूर्व भव से मनुष्य पर्याय में अनेक झूठ चोरी इत्यादि पाप से इस नीच पर्याय को प्राप्त हुये हैं अब इस समय तूने दिये हुए आहार दान में अनुमोदना की है और इनको जाति स्मरण हुआ है। अब ये सभी जीव क्रम से शुभ गति को प्राप्त होकर शीघ्र संसार समुद्र पार होने वाले हैं। इसलिये भव्य प्राणियों को शक्ति के अनुसार व्रत नियम धारण कर माया कपट इत्यादि त्याग करके अपने शुभ परिणाम हो धर्म का संचय करना चाहिये तथा अपनी शक्ति न हो तो देख या सुनकर अनुमोदना करकेही पुण्य बंध जरूर करलेना चाहिये। ऊपर के दृष्टांत के द्वारा यह प्रतीत होता है कि मनुष्य को धर्म साधन करने में भावना ही मुख्य कारण है। ऐसी भावना के द्वारा कितने जीव

तरगये हैं यही धर्म और यही सच्चा धर्मानुराग है अन्यथा नहीं है।
जीव के परिणाम की गति विचित्र है।

आगे यह बतलाते हैं कि इस प्रकार अपने परिणाम को ठीक धर्म साधन में लगाकर परिग्रह का मोह कम करते जाना चाहिये।

हवणिसि कोंबुदोय्यने परिग्रहमं गतिनाल्करंदमं ।
शिवपददंदमं तिळियुतिपुंदु कायद कष्टमं निजा– ॥
त्मविपुलशुद्धियं नेनेयुतिप्पुंदु कूडे विरक्ति ताने सं– ।
भविपुदु देहिगेंदोरेवुदोजेयाला अपराजितेश्वरा ! ॥३५॥

हे अपराजितेश्वर ! धीरे-धीरे परिग्रह का परिमाण कर लेना, नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्यगति तथा देवगति के दुःख सुख का ठीक ठीक ज्ञान कर लेना, शरीर के संबन्ध से दुःख की प्राप्ति तथा निजात्मा की शुद्धता का मन में स्मरण करना या विचारना इस प्रकार विचार करने से उसी समय इस प्राणी को स्वयमेव विरक्ति उत्पन्न होती है ॥३५॥

O' Aparajiteshwar ! To make limit of ones possessions, to have a correct knowledge of the nature of four gaties (hellish, animal, human, heavenly), to meditate upon the miseries arising out of the relation with the body and to contemplate in mind the purity of soul, such practices leads one, automatically, to renunciation.

विवेचनः—

इस श्लोक में ग्रंथकार ने यह बतलाया है कि धीरे धीरे परिग्रह का परिमाण करने वाले, नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव गति के मूल दुःख को जानने वाले, मोक्ष स्वरूप के भेद को जानकर उसका अनुभव करने वाले तथा शारीरिक कष्ट की अपेक्षा अपने आत्म सुख की विशुद्ध अवस्था को सदा स्मरण करने वाले प्राणी को क्या विरक्त होने में देर है ? कुछ भी नहीं।

संसारी जीव को संसार रूपी कीचड़ में फंसाने वाले परिग्रह का परिमाण अवश्य कर लेना चाहिये, क्योंकि परिग्रह ही संसार रूपी कीचड़ को उत्पन्न करने वाला तथा चारों गतियों की अनेक वेदना व दुखों में फँसाने का मूल कारण है।

नो संगाज्जायते सौख्यं मोक्षसाधनमुत्तमम्।
संगाच्च जायते दुः' संसारस्य निबंधनम् ॥ ३०४ ॥

परिग्रह का मोह त्याग देने से, विषयों की अभिलाषा मिटा देने से तथा मोक्ष लक्ष्मी के साथ प्रेम करने से जब वीतराग भाव सहित आत्मा में रमण किया जाता है तब कर्मों का क्षय होकर उत्तम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है। संसार अवस्था में रहते हुये परिग्रह परिमाण कर लेने वाले प्राणी को जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख परिग्रह से ममत्व रखने वाले को कभी नहीं मिल सकता। इसके साथ साथ पापों का बंध होता है जिससे संसार की वृद्धि

होती है और घोर दुःख सहना पड़ता है। इसलिये परिग्रह की मात्रा घटाने के लिये परिग्रह परिमाणव्रत अवश्य कर लेना चाहिये। परिग्रह से अनेक हानियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें से एक का दृष्टान्त दिया जाता है।

किसी नगर में लुब्धक नामक एक बहुत बड़ा कंजूस सेठ रहता था। वह कभी न तो स्वयं पेट भर भोजन करता था और न किसी को कराता था। दान धर्म में कभी एक पैसा नहीं खर्च करता था। यदि कभी कोई सार्वजनिक धर्म कार्य उपस्थित हो जाता था तो उसका नाम सुनते ही घबड़ा जाता था। वह प्रतिदिन स्वर्ण के जानवरों का एक एक जोड़ा तैयार करता था। इस प्रकार करते करते उसने सभी जानवरों के जोड़े लगा लिये, पर घोड़े का जोड़ा शेष रह गया। एक घोड़ा तो उसने सोने का बना लिया, परन्तु दूसरा घोड़ा बनाने के लिये बरसात में नदी में बाढ़ आने के कारण बहाव के साथ आई हुई लकड़ियों को जाकर वह नित्य प्रति लाता था और उसे बेचकर द्रव्य इकट्ठा करता था। एक दिन जब वह फटे पुराने कपड़े को पहिन कर अपने मस्तक पर लकड़ी का बोझा लिये हुये नदी से आरहा था तब राज भवन की अट्टालिका पर टहलती हुई महारानी ने इस लुब्धक सेठ को देखा तथा देखते ही विस्मित होकर अपने मन में विचार करने लगी कि अरे! यह कोई बहुत बड़ा गरीब आदमी है जो कि बरसात में भीगते हुये नदी की धारा से लकड़ी निकाल कर बाजार में बेचकर

अपना पेट पालता है। इसका कुर्त्ता और धोती दोनों बहुत जीर्ण शीर्ण हैं तथा ओढ़ने का इसका कंबल भी बहुत फटा व पुराना है। लकड़ी का बोझा सिर पर लादे हुये यह बड़ी तकलीफ उठा रहा है। हमारे राज्य में यह दरिद्रता के कारण महान् दुख उठा रहा है। इसलिये इस गरीब का दुःख दूर करना राजा का परम कर्तव्य है।

यह सोचकर रानी ने राजमहल में राजा के पधारने पर उनसे निवेदन किया कि हे स्वामिन्! हमारे राज्य में ऐसे गरीब आदमी पड़े हुये हैं जिनका दुःख देखकर पत्थर का हृदय भी पानी हो जाता है। आज हमने अपने छतके ऊपर से टहलते हुये एक ऐसे गरीब आदमी को देखा जो कि अपना पेट भरने के लिये बाढ़ में आई हुई नदी में से लकड़ी का बोझ मस्तक पर लादे हुये फटे पुराने वस्त्रों को पहनकर काँपता हुआ उसे बाजार में बेचने जा रहा था। उसे देखकर हमें बड़ी दया आई। स्वामिन्! जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी रहती है उस राजा को नरक जाना पड़ता है। कहा भी है कि:—

जासु राज्य प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवशि नरक अधिकारी॥

इसलिये हे नाथ! उसे शीघ्र ही बुलाकर उसकी इच्छानुसार धन देकर उसका दुःख दूर कीजिये, जिससे आपके राज्य पद का

गौरव बढ़े। राजा ने रानी की बात सुनते ही तुरन्त एक दूत को आज्ञा दी कि तुम शीघ्र ही जाकर लुब्धक सेठ को बुलालाओ राजा की आज्ञा पाते ही दूतने लुब्धक सेठ को बुलाकर राज दरबार में उपस्थित किया। राजा ने सेठ से कहा कि भाई! तुम बहुत दुःखी हो, पर अभीतक हमें तुम्हारा दुःख मालूम नहीं था इसलिये तुम्हारा कोई प्रबन्ध नहीं हो सका। अब तुम्हारा जो कष्ट हो, कहो उसके दूर होने की हम अपने दरबार से व्यवस्था करा देंगे।

राजा के इस वचन को सुनकर लुब्धक सेठ ने कहा कि राजन्! हमने सभी जानवरों के जोड़े तैयार कर लिये; परन्तु घोड़े का जोड़ा नहीं लगा सके। इस लिये उसी का जोड़ा लगाने के लिये हम नित्य प्रति बाढ़ आने पर बहती लकड़ियों को नदी में से निकाल लाते हैं तथा उसे बेचकर पैसा इकट्ठा कर रहे हैं। हे नाथ! हमारे घर में और किसी वस्तु की कमी नहीं है, केवल घोड़े की जोड़ी लगाने के लिये हम परेशान हैं। इसलिये यदि आप से हो सके तो उसकी जोड़ी लगाकर हमारा दुःख दूर कीजिये। राजा ने तुरन्त ही आज्ञा दी कि हमारे अश्वालय में अनेक भाँति के अच्छे से अच्छे अश्व बंधे हुये हैं, इनमें से जो तुम्हारी इच्छा हो वह जाकर ले लो। राजा की आज्ञा पाकर लुब्धक सेठ बड़े चाव से अश्वालय में गया, पर उसे अपने घोड़े का जोड़ा नहीं मिला। अन्त में वह वहाँ से लौटकर राजा से कहने लगा कि महाराज! इसमें से कोई घोड़ा हमारे घोड़े के समान नहीं है।

राजा आश्चर्यान्वित होकर कहने लगे कि जब इसके घोड़े का जोड़ा हमारे राज्य में नहीं मिला, तब इसका घोड़ा कोई बहुत विलक्षण होगा अतः इसके घोड़े को चलकर देखना चाहिये। अन्त में राजा ने सेठ से कहा कि अच्छा चलकर अपना घोड़ा हमें दिखलाओ। राजा की आज्ञा पाते ही सेठ उन्हें साथ में लेकर अपनी कोठी पर उपस्थित हुआ। अपनी कोठी में राजा साहब का शुभागमन जानकर सेठानी ने उनका बड़ा स्वागत किया। सेठ की सात मंजिल की गगनचुम्बी कोठी को देखकर राजा साहब विस्मित होकर अपने मन में कहने लगे कि इतनी ऊँची और इतनी सुन्दर सेठ की कोठी के सामने तो हमारा राजमहल किसी काम का नहीं है। तत्पश्चात् सेठ राजा साहब को जानवरों की जोड़ी दिखाने के लिये जब तहखाने में ले गया तब स्वर्ण के अनेक जानवरों की जोड़ियों को देखकर राजा साहब आश्चर्य पूर्वक अपने मन में कहने लगे कि इसके घर में इतनी संपत्ति होते हुये भी यह दरिद्र का रूप धारण किये हुये है। इसने न कभी खाया, न दूसरे को खिलाया तथा इस अक्षय धन का कभी भोग नहीं किया इसलिये मालूम होता है कि इसका उपभोग कोई दूसरा ही करेगा! यह जानकर राजा चलने के लिये तैयार हो गया। सेठानी ने अपने मन में सोचा कि राजा साहब आज पहले पहल हमारे मकान में पधारे हुये हैं इसलिये इनको खाली हाथ नहीं भेजना चाहिये। ऐसा सोचकर अपने सेठ को बुलाकर कहा राजा साहब को कुछ

भेंट देकर भेजना चाहिये। सेठ ने पूछा क्या देना चाहिये ? सेठानी ने कहा कि कम से कम एक थाली रत्न भेंट करना चाहिये। लुब्धक सेठ को सेठानी का वचन सुनकर बड़ा दुःख हुआ परन्तु उससे डरता था इसलिये उसकी बात टाल नहीं सका। अन्त में जब रत्नों से भरकर थाली भेंट करने लगा तब शोक और भय के मारे उसके हाथ काँपने लगे। राजा साहब ने जब सेठ के हाथों को देखा तब लोभ के कारण उसकी ऊंगलियाँ इस प्रकार मालूम होने लगीं कि मानों ये काले नाग होकर डँसना चाहती हैं। अतः घबड़ा करके राजा ने कहा कि यह भेंट स्वीकार करके मैं तुम्हें ही देता हूं। यह कहकर राजा साहब वहाँ से अपने राज-महल में चले गये और सेठ ने आनन्दित होकर वह धन अपने मकान में रख दिया। इधर लोभी लुब्धक सेठ परिग्रह अधिक इकट्ठा करने के विचार से अपने घर में तमाम धन रहने पर भी परदेश में जाकर नाना प्रकार के कष्टों के साथ धन संचय करने लगा। बहुत दिनों के पश्चात् जब उसने काफी हीरा मोती तथा रत्नादिक इकट्ठा कर लिया तब माल को स्टीमर में लादकर अपने मकान की ओर प्रस्थान कर दिया। जब बीच समुद्र में जहाज आया तब इतने जोर का तूफान आया कि माल के साथ जहाज समुद्र में डूब गया और महा कंजूस लुब्धक सेठ ने उसी में डूबकर मरने के पश्चात् चारों गतियों में पड़कर महान् दुःख उठाया। संसार के सभी दुःख जीव को एक परिग्रह के कारण ही उपलब्ध होते हैं। इसलिये आत्म-हित की इच्छा करने वाले प्राणी को परिग्रह का

परिमाण करके लोभ और कषायादिक विकारों को त्याग देना चाहिये।

इस जीव ने अपनी इन्द्रियों के आधीन होकर चारों गतियों में जाकर नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त किया तथा मनुष्य और देव गति के भोगैश्वर्य को भी देखा, किन्तु इसे कहीं सच्चा सुख नहीं मिला नरक में तो इसे सदा दुःख ही दुःख भोगना पड़ा, परन्तु स्वर्ग का सुख भी क्षणिक होने के कारण देव गति के अन्त में महान दुःख भोगना पड़ा। इसलिये संसारी मनुष्य यदि सदा स्थिर रहने वाला सुख चाहते हों, तो उन्हें संसार से विरक्त होकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के द्वारा धीरे धीरे अपने कर्मों की निर्जरा करके आत्म सिद्धि के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से अविनाशी मोक्ष सुख प्राप्त हो जाता है। सार समुच्चय में कहा भी है कि—

सम्यक्त्वं भावयेत् क्षिप्रं सज्ज्ञानं चरणं तथा।
कृच्छ्रात्सुचरितं प्राप्तं नृत्वं याति निरर्थकम्॥ ४५॥
(सारसमु॰)

रत्नत्रय सहित आत्मध्यान का अभ्यास हमें शीघ्र ही प्रारंभ कर देना चाहिये, क्योंकि एक तो बड़े भारी पुण्य के उदय से किसी तरह यह दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है और इसी जन्म में संयम का आराधन हो सकता है। तीन गतियों में संयम और

कर्म निर्जरा करने वाला पूर्ण ध्यान नहीं हो सकता। दूसरे इस कर्म भूमि में मनुष्य जन्म की स्थिति बनी रहने का नियम नहीं है, अकाल मृत्यु हो सकती है। इसलिये एक घड़ी वृथा न खोकर निरंतर आत्मज्ञान सहित ध्यान का अभ्यास करके इस नर जन्म को सफल कर लेना चाहिये। जो रत्नत्रय का साधन नहीं करते हैं वे इस जन्म को वृथा खोते हैं।

आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि परिग्रह रूपी पिशाच से मदोन्मत्त संसारी जीव को धर्म का उपदेश रुचिकर नहीं होता।

मिक्क परिग्रहग्रहितनन्यरिनादुपदेशलेशमं ।
लेक्किपने विरोधिगळ बल्लने मेल्लेदेंयु टें मत्तवं ॥
नक्कुदु नक्कुदे मुनिदुदु मुनिसे अवनाटदेल्लवु ।
मक्कळ मेल् दाटदवोलिपुदला अपराजितेश्वरा ! ॥३६॥

हे अपराजितेश्वर ! अधिक परिग्रह रूपी पिशाच द्वारा ग्रहण किया हुआ मनुष्य दूसरे के द्वारा दिये हुये सदुपदेश को गिनेगा क्या ? कौन शत्रु है एवं कौन मित्र है इसकी पहचान उसे कैसे होगी ? क्या कभी उदार चित्त होगा या वह मनुष्य कभी संतोष प्राप्त करेगा ? क्या उसका बाह्य संतोष सच्चा संतोष हो सकता है ?

क्या कभी वह संसार से उदासी भी प्राप्त करेगा ? नहीं। तो क्या वह उदासीनता सच्ची है ? कदापि नहीं। वास्तव में

उसके जितने व्यवहार हैं वे सब बच्चों के खेल के समान ही नहीं हैं क्या ? अपितु हैं ॥३६॥

O' Aprajiteshwar ! Will a man captivated by the devil of worldly possession heed to the good preachings of others ? Will he differentiate into (true) friend and foe ? Will he ever become broad-minded and satisfied ? Is his external satisfaction a real one ? Will he ever attain to the feelings of renunciation ? Never. Are not all his works the plays of children ?

विवेचन:—

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि संसारी अज्ञानी जीवात्मा, जब तक परिग्रह रूपी पिशाच से ग्रस्त रहेंगे तब तक उनके ऊपर धर्म का असर कुछ भी नहीं पड़ सकता। कहा भी है कि:—

मर्कटस्य सुरापानं ततो वृश्चिकदंशनं ।
ततोऽपि भूतसंचारो यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

पूर्व से ही मदिरा पान किये हुये बन्दर को यदि बिच्छू डंक मार दे और फिर उसे भूत संचार भी हो जाय, तो जिस प्रकार वह एक तो नैसर्गिक चंचलता और दूसरे इन विकारों को प्राप्त होने से अंट संट बकता हुआ इधर उधर उछल कूद मचाकर यद्वा तद्वा करने लगता है, उसी प्रकार परिग्रह रूपी मदिरा पान

किये हुये मनुष्य के अंग में इन्द्रिय रूपी विच्छू के डंक मारने के पश्चात् यदि मोहरूपी पिशाच का संचार हो जाय तो वह भी भूत प्रेत लगे हुये के समान यद्वा तद्वा बकने लगता है। वह एक क्षण में कुछ कहता है और दूसरे ही क्षण में कुछ और कहने लगता है। अर्थात् उसकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं रहती। इसी प्रकार कलिकाल में अधिकतर मनुष्यों को धर्मोपदेश रुचिकर न लगकर इसके विपरीत की बातें अच्छी लगती हैं। आजकल के मनुष्य प्रायः इस प्रकार के हैं कि:—

स्थाने सिंहसमाः रणे मृगसमा देशान्तरे जम्बुकाः ।
आहारे खलु भीमसेनसदृशाः श्वानोपमा मैथुने ॥
दृष्टिर्मर्कटवत् पिशाचप्रकृताः कूटाक्षरैर्लेखकाः ।
स्वे कार्ये कुशलाः सुकार्यबधिरा एतादृशा मानवाः ॥

अपने स्थान में सिंह के समान, युद्ध स्थल में मृग के समान, परदेश में गीदड़ के समान, भोजन करने में भीमसेन के समान, मैथुन करने में कुत्ते के समान, दृष्टि बन्दरों के समान, स्वभाव पिशाच के समान और टेढ़े तथा खराब लेखों के लिखने वाले, स्वार्थ साधन में चतुर तथा अच्छे कार्य या परोपकार में बहिरे रहते हैं। ऐसे मनुष्यों का जीवन धिक्कार है! उपर्युक्त मनुष्य चाहे जितनी चेष्टा से धन संचय करें किन्तु लोभ के कारण वे उसका भोग कुछ नहीं कर सकते। कहा भी है कि:—

पिपीलिकार्जितं धान्यं मक्षिकासंचितं मधु ।
लुब्धेन संचितं द्रव्यं समूलं च विनश्यति ॥४१॥

चींटियों का इकट्ठा किया हुआ धान्य, मधु मक्खियों का संचित किया हुआ मधु तथा लोभी मनुष्य का संचित किया हुआ द्रव्य समूल नष्ट हो जाता है। ये तीनों न तो स्वयं खाते हैं और न किसी को खाने ही देते हैं। इस प्रकार इनका धन इनके उपयोग में कभी नहीं आ सकता।

जामाता जठरं जाया जातवेदा जलाशयः ।
पूरिता नैव पूर्यंते जकाराः पंच दुर्भराः ॥

दामाद, जठराग्नि, स्त्री, अग्नि और समुद्र ये पाँचों जकार कभी परिपूर्ण नहीं किये जा सकते। इनमें चाहे जितनी वस्तु डाली जाय, किन्तु कभी ये पाँच गड्ढे नहीं भर सकते अनादि काल से संसारी जीव इसको पूर्ण करने का निरन्तर प्रयत्न करते चले आ रहे हैं, पर इसका एक भाग भी अभीतक पूर्ण नहीं हो सका। आचार्य कहते हैं कि जब उपर्युक्त पाँचों जकारों को पूर्ण करने में बड़े बड़े राजा महाराजा तथा चक्रवर्ती आदि लाखों प्रयत्न करने पर भी नहीं समर्थ हुये तब साधारण मनुष्यों की क्या बात है? इसलिये बुद्धिमान मनुष्य को इन दुर्भर पंच जकारों को पूर्ण करने में अपनी सारी शक्ति न लगाकर परिग्रह का प्रमाण करके संतोष
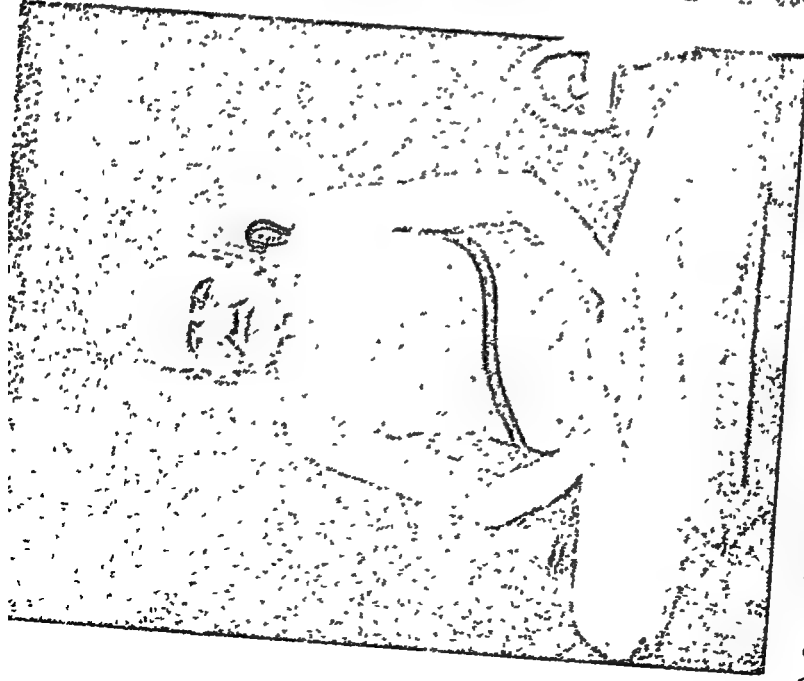
श्री १०८ श्री चारित्रचक्रवर्त्ति आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज श्री १०८ श्री आचार्य श्री जय कीर्त्तिजी महाराज

धारण करना चाहिये अन्यथा एक दिन यह धन जब स्वयं चला चला जायगा तब तो हाथ मलकर पश्चात्ताप करते हुये परिग्रह का परिमाण करना ही पड़ेगा। कहा भी है कि:—

देयं भोज! धनं धनंसुकृतिभिर्नो संचितव्यं कदा।
श्री कर्णस्य वलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधुदानभोगरहितं नष्टं चिरात् संचितं।
निर्वाणादपि पाणिपादयुगलं घर्पंत्यहो मक्षिका॥

एक समय राजा भोज अपने राजदरबार में विराजमान थे कि उसी समय एक मधु मक्खी उनके ऊपर बैठकर अपने हाथ पैर को रगड़ने लगी। तब राजा ने मंत्री से प्रश्न किया कि यह मक्खी ऐसा क्यों कर रही है ? मंत्री ने इस प्रश्न को सुनकर उत्तर दिया कि महाराज! यह आप से कहरही है कि हे राजन्! आप सत् कार्यों में धन व्यय करके दीन दुःखियों को सदा दान दीजिये, क्योंकि इस क्षणिक धन को कभी नहीं संचय करना चाहिये। देखिये, दान, पुण्य, परोपकार तथा धर्मादिक कार्य में धन व्यय करने के कारण ही आज भी कर्ण, वलि तथा विक्रमादिक धर्मात्माओं की कीर्ति स्थित है और मैंने इधर उधर भटक कर अनेक पुष्पों से चूस चूसकर काफी रस इकट्ठा करके मधु तैयार किया, लोभ के कारण न तो उसे कभी स्वयं खाया, न दूसरे को खिलाया तथा न किसी अन्य कार्य में ही लगाया, परन्तु एक दिन अचानक

में एक वहेलिया आकर जब संपूर्ण मधु को निकाल कर चल दिया तब से मैं पश्चात्ताप करती हुई अपने हाथ पैर. को मलती रह गई। इसलिये हे राजन्! यदि आप भी लोभ के वशीभूत होकर धन धर्म में न लगाकर संचित करेंगे तो तस्करों द्वारा या आयु के अवसान काल में जब यह धन आप से अलग होने लगेगा तब आप भी हमारे समान पश्चात्ताप करते हुये हाथ पैर मलकर जायँगे।

अतः धन धर्म में व्यय करके उसका सदुपयोग कर लीजिये। वड़ा आदमी भी कहलावे, पर यदि वह बड़प्पन का कार्य न करे तो कैसा वड़ा आदमी? चतुर कहलाकर भी यदि दूसरे के धन और स्त्री के हरण करने में ही चतुरता दिखलाता है तो उसकी चतुरता को हजारों वार धिक्कार है। एक वार एक आदमी ने किसी गाँव में जाकर वहाँ के आदमी से पूछा कि:—

विप्रास्मिन्नगरे महान् वसति कस्तालद्रुमाणां वनं।
को दाता रजको ददाति वसनं प्रातगृहीत्वा निशि॥
को दक्षः परवित्तदारहरणे सर्वेऽपि दक्षा वयम्।
किंस्त्वं जीवसि हे सखे! विपकृमिन्यायेन जीवाम्यहम्॥

हे भाई! इस नगर में कोई बड़ा है? उसने उत्तर दिया कि ताड़ के वृक्षों का जंगल वड़ा है। पुनः उसने प्रश्न किया कि इस नगर में कोई दाता है? तब उसने उत्तर दिया कि हाँ यहाँ का

दाता धोबी है, क्योंकि वह प्रातः काल तो वस्त्रों को ले जाता है और सायंकाल उन्हें धोकर दे जाता है। उसने पुनः प्रश्न किया कि इस नगर में कोई चतुर पुरुष है ? उसने उत्तर दिया कि दूसरे के धन तथा स्त्री हरण करने में हम सभी चतुर हैं। अन्त में उसने पूछा कि हे मित्र ! यदि ऐसा है, तो तुम यहाँ किस प्रकार जीते हो ? उसने उत्तर दिया कि जिस प्रकार विष का कीड़ा विष में ही प्रसन्न रहता है उसी प्रकार मैं भी रहता हूँ। अभिप्राय यह है कि धन पाकर यदि दान धर्म किया जाय तभी उसकी सफलता है, अन्यथा नहीं।

इसलिये हे भव्य जीव ! जब तक तुम्हारे शरीर व इन्द्रियों में बल है तब तक तुम्हें शीघ्रातिशीघ्र धर्म साधन कर लेना चाहिये। कहा भी है कि:—

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दंताश्च नाशं गता।
दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव हसते वक्त्रं च लालायते ॥
वाक्यं नैव करोति बांधवजनः पत्नी न शुश्रूषते।
धिक्कष्टं जरयाभिभूत पुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥

वृद्ध मनुष्य का गात्र सिकुड़ जाता है, चाल चंचल हो जाती है, दाँत नष्ट हो जाते हैं, दृष्टि भ्रष्ट हो जाती है, रूप हँसने लगता है, मुख से लार टपकने लगती है, भाई बात नहीं करता, स्त्री सेवा नहीं करती तथा अधिक कहाँ तक कहें पुत्र भी अपमान करता

है। इसलिये वृद्धावस्था से युक्त पुरुष के जीवन को धिक्कार है।

वृद्ध पुरुष व्यवहार में जो भी कार्य करता है वह सभी बच्चों के खेल के समान रहता है। सारांश यह है कि जिसने शरीर व इन्द्रियों में शक्ति रहते हुये धर्म संचय नहीं किया वह वृद्धावस्था में कदापि नहीं कर सकता।

आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि मोह से ग्रस्त मनुष्य को सच्चा उपदेश रुचिकर नहीं होता।

ग्रहवेडेगोंडवंगेमरवोर्मे विवेकवदोर्मे कूडे सं-।
ग्रहिसुतमिकुंमल्लदे यथास्थितियुंटे निरंतरं परि-॥
ग्रहदोळगिर्दवंगे नुडियुं नडेयुं क्षणिकंगळल्लदे ।
सहजचरित्रदोळ् निरुगे येत्तण मातपराजितेश्वरा ! ॥३७॥

हेअपराजितेश्वर ! पिशाच द्वारा पकड़े हुये मनुष्य की बुद्धि कभी स्थिर कभी अस्थिर रहने के कारण क्या कभी निश्चल रहती है ? अर्थात् नहीं। उसी प्रकार परिग्रह रूपी पिशाच तथा ग्रह से ग्रस्त हुये मनुष्य की बातें, उसके आचार विचार, विवेक इत्यादि क्षणिक होने के कारण उसका स्वभाव सर्वदा चंचल रहता है, इसलिये उसके अन्दर स्थिरता कहाँ से आयेगी ? ॥ ३७ ॥

O' Aparajiteshwar ! Does the mind of a person haunted by a devil remains steady ? No. In the same

way a person captivated by the devil of worldly possessions never remains steady in his conduct & speech.

विवेचनः—

इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि जिस प्रकार पिशाच ग्रस्त मनुष्य की विवेक बुद्धि स्थिर न रहकर क्षण क्षण में बदलकर उलटी सुलटी होती रहती है, उसी प्रकार परिग्रह ग्रस्त प्राणी का व्यवहार, आचरण तथा बातें आदि क्षण क्षण में बदलती रहती हैं। परिग्रही मनुष्य का स्वभाव बन्दर के समान चंचल तथा बिल्ली की भाँति मायाचार से परिपूर्ण रहता है। अतः उसके अन्दर स्थिरता कैसे आ सकती है? किसी तरह नहीं।

परिग्रही मनुष्य के लेश मात्र भी विवेक नहीं रहता है। कहा भी है कि:—

कालुष्यं जनयन् जडत्वनिवहो धर्मद्रुमुन्मूलयन्।
क्लिश्यन् शौचकृपाक्षमाकमलिनींलोभांबुधिं बर्द्धयन्॥
मर्यादातटमुद्रुजन् शुभमनो हंस प्रवासं दिशन्।
किं न क्लेशकरः परिग्रहनदीपूरः प्रवृद्धिं गतः॥

परिग्रह रूपी नदी का बढ़ता हुआ प्रवाह कालुष्य को उत्पन्न करने वाला जडता का समूह रूप, धर्म रूपी वृक्ष को उखाड़ने वाला, शुचिता कृपा क्षमा रूपी कमलिनी को दुःख देनेवाला,

मर्यादा रूपी तट को तोड़नेवाला तथा श्रेष्ठ मन रूपी हंस को देश विदेश भेजनेवाला क्या सदा ही क्लेश कारक नहीं होगा ?

भुजङ्गगृहगोधाः स्युर्मुख्याः पञ्चेन्द्रिया अपि ।
धनलोभेन जायन्ते निधान स्थानभूमिषु ॥

जो धन की लालसा करने वाले हैं वे सर्प, गरुड, बिडाल, कुत्ते, वन्दर आदि पञ्चेन्द्रिय पर्याय में आकर लोभ के कारण से जन्म लेते हैं। लोभ के आधीन हुआ मनुष्य अपने भंडार के पास आकर पञ्चेन्द्रिय पर्याय में प्राप्त होता है। इतना ही नहीं वह स्थावर योनि में जाकर नरक में चला जाता है। लोभी मनुष्य सदा दूसरे का उपद्रव किया करता है तथा वह यह नहीं जानता कि इस द्रव्य का उपयोग किस प्रकार करें, परन्तु अन्त में मरने के बाद वह चारों गतियों में इधर उधर भटकता रहता है। कहा भी है कि:—

पिशाचमुद्गलप्रेतभूतयक्षादयो धनम् ।
स्वकीयं परकीयं वाऽप्यधितिष्ठन्ति लोभनः ॥

लोभ के वशीभूत मनुष्य मरने के पश्चात् पिशाच, व्यन्तर, भूत, प्रेत, यक्ष तथा देवादिक योनियों में जन्म लेकर धन का उपयोग किसी को नहीं करने देते। लोक में यह बात विख्यात है भूत प्रेतादिक, धन का उपयोग कुछ भी नहीं कर सकते, परन्तु

पूर्व भव में लोभ की बहुलता से न तो पहले स्वयं उस द्रव्य का उपभोग किया और न दूसरों को ही करने देते।

> भूषणोद्यानवाप्यादौ मूर्च्छितास्त्रिदशा अपि।
> च्युत्वा तत्रैव जायन्ते पृथ्वीकायादियोनिषु॥

लोभ के आधीन होने से उच्च जाति के देव भी नीच गति में जाते हैं, विमानवासी देवता भी अलंकारादि से मोहित होकर देव गति से च्युत होकर पृथ्वी कायादि योनि में उत्पन्न होते हैं। अहो, मोह की महिमा कितनी अद्भुत है?

> एकामिषाभिलाषेण सारमेया इव द्रुतम्।
> सोदर्या अपि युध्यन्ते धनलेशजिघृक्षया॥

मांस के एक टुकड़े के लिये कुत्ते जैसे तुरन्त लड़ाई करने लगते हैं उसी प्रकार धन की लोलुपता से एक ही उदर से जन्म लिये हुये भाई भाई भी परस्पर में एक दूसरे से लड़ते हैं।

> प्राप्योपशान्तमोहत्वं क्रोधादिविजये सति।
> लोभांशमात्र दोषेण पतन्ति यतयोऽपि हि॥

क्रोध मान माया को जीतकर ग्यारह उपशान्त मोह नामक गुणस्थान को प्राप्त करके भी केवल सूक्ष्म लोभ कषाय के उदय होने से मुनि वहाँ से नीचे गिर जाते हैं, यह मोह की विचित्रता है।

हासशोकद्वेपहर्षानसतोऽप्यात्मनि स्फुटम् ।
स्वामिनोऽग्रे लोभवन्तो नाटयन्ति नटा इव ॥

लोभी मनुष्य अपने अन्दर हास्य शोक द्वेप तथा हर्ष के अभाव होने पर भी लोभ के कारण स्वामी या किसी सेठ के आगे कृत्रिम हास्य शोकादिक करते हुये नट के समान नृत्य करते हैं।

अपि नामैप पूर्येत पयोभिः पयसां पतिः ।
न तु त्रैलोक्यराज्येऽपि प्राप्ते लोभः प्रपूर्यते ॥

जिस प्रकार समस्त नदियों के मिलने पर भी समुद्र की पूर्ति नहीं होती उसी प्रकार तीनों लोक का राज्य प्राप्त करने पर भी लोभ की पूर्ति कभी नहीं हो सकती। और भी कहा है:—

आशा ये दासास्ते दासाः सर्व लोकस्य ।
आशा दासी येपां तेपां दासायते लोकः ॥

जो मनुष्य आशा के दास हैं वे संपूर्ण लोक के दास हैं। परन्तु जिन के पास आशा रूपी दासी है उनके सभी लोग किंकर के समान लगे रहते हैं।

आशा करने वाले मनुष्यों की दशा बतलाते हैं:—

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्मा .ागिरेर्धातवो ।
निस्तीर्णः सरितांपतिनृ पतयो यत्नेन संतोपिताः ॥

मंत्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः ।
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुंचमाम् ॥

कोई मनुष्य आशा तृष्णा के पीछे पड़ा हुआ कहता है कि धन मिलने की उम्मेद से मैंने जमीन के अन्तस्तल तक खोद डाले अनेक प्रकार की पार्वतीय धातुयें फूँक डाली, मोतियों के लिये समुद्र की भी थाह ले आया, राजाओं को राजी रखने में भी कोई बात न उठा रक्खी, मन्त्र सिद्धि के लिये रात-रात भर श्मशानों में एकाग्र बैठा हुआ जप करता रहा, पर अफसोस की बात है कि इतनी आफतें उठाने पर भी एक फूटी कौड़ी तक न मिली, इसलिये हे तृष्णे ! अब तो तू मेरा पीछा छोड़ ।

अभिप्राय यह है कि, भाग्य के विरुद्ध चेष्टा करना वृथा है। जितना धन भाग्य में लिखा है, उतना तो स्वयं प्राप्त हो जायगा, पर भाग्य में लिखे से अधिक धन, हजारों चेष्टायें करने पर भी न मिलेगा।

धन की आशा, विषय की आशा तथा कीर्त्ति आदि की आशा अनेक प्रकार के दुःखों व दोषों को उत्पन्न करने वाली है। आशा करने वाला मनुष्य सदा दुःखी रहता है। कहा भी है कि:—

"आशा हि परमं दुखं नैराश्यं परमं सुखम्" । आशा अत्यन्त दुःखदायी तथा निराशा परम सुखदायी है। अतः आशा को छोड़-कर अपने भाग्यानुसार प्राप्त धन में सन्तोष रखना चाहिये।

आचार्य कहते हैं कि हे मनुष्यों ! यदि तुम सुख-शान्ति से जीवन यापन करना चाहते हो, तो आशा तृष्णा पिशाची के फन्दे से निकलकर भाग्य पर सन्तोप करो, क्योंकि सन्तोप के सिवाय सुख-शान्ति लाभ करने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि तुम सन्तोप नहीं करोगे तो तृष्णा के मोह में भटक-भटक कर सारी सारी उम्र यों ही गँवा दोगे और अन्त में हाथ कुछ भी नहीं आयेगा। कहा भी है कि:—

अति लोभो न कर्तव्यो लोभो नैव च नैव च।
अति लोभप्रसादेन सागरो सागरं गतः ॥

अत्यन्त लोभ कभी भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि अत्यन्त लोभ करने के कारण सागर नामक सेठ समुद्र में डूबकर मर गया।

इसलिये आत्म-कल्याण करने वाले मनुष्यों को लोभ का परित्याग करके संतोप पूर्वक रहकर आत्म-साधन का अभ्यास करना चाहिये।

आगे यह कहते हैं कि अज्ञानी जीव सच्चे मार्ग को छोड़कर विपय सुख को अपना मानकर उसे ग्रहण करने से नरक में डूब जाता है।

सोर्कि शरीरनारिधनवेन्न विर्वेद्वरह्णि करुमनं।
सिर्कि विवेकिमळ्तुडिद धर्ममनोह्लदे कूळकोविनोळ् ॥

कर्कशवृत्तियोळ् नडेव कामुकरंतकनोय्व कालदोळ् ।
मर्कटनंते पल्गिरिवरेतर वाळपराजितेश्वरा ! ॥ ३८ ॥

हे अपराजितेश्वर ! यह शरीरादि संपत्ति मेरी है इस तरह अहंकार वश होकर उन शरीरादि क्षणिक वस्तुओं में अपना मन तथा चक्षु इन्द्रियादि फँसाकर ज्ञानी लोगों द्वारा कहे हुये सच्चे धर्म को न ग्रहण करके दुष्टता तथा मदांधता के कारण क्रूर या दुष्ट आचरण में वर्तनेवाले कामुक प्राणि को जब यमराज पकड़कर तथा खींचकर ले जाता है तब वे बन्दर की भाँति दाँत खोलकर केवल उनको पीसते रहते हैं। ऐसी मनुष्य पर्याय के प्राप्त करने से क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं ॥ ३८ ॥

O' Aparajiteshwar ! When the persons, indulging into wicked conduct being enamoured of senses & worldly things such as body etc. are caught & dragged by Death, then, they only grunt their teeth like a monkey (being unable to do any thing). What good do these people gain, really, of having human life ? Nothing.

विवेचनः —

ग्रन्थकार कहते हैं कि अज्ञानी संसारी जीवात्मा लोभ और मोह के कारण यह शरीर स्त्री तथा धन धान्यादि सभी मेरे हैं, इन्हें मैंने कमाया है, इस प्रकार अहंकार के वशीभूत होकर शरी-

रादि में अपने कर्णेन्द्रिय, चक्षु तथा मन इत्यादि को फँसाकर ज्ञानी लोगों के द्वारा कहे हुये सच्चे मार्ग को न ग्रहण करके दर्पित मदांध हो, क्रूर तथा दुष्ट आचरण में प्रवर्तन करनेवाले कामुक लोगों को जिस समय यमराज खींचकर उठाकर ले जाता है उस समय वे बन्दर के समान मुख खोलकर दाँत निकालते हैं।

जीव तू विचार कर कि अनादि काल से जो वस्तु तूने प्राप्त की तथा कमाई की और तेरे मां बाप स्त्री पुत्र इत्यादि जितने तेरे सम्बन्धी हुये हैं उसमें से कोई भी क्या तेरे साथ आये हैं अथवा साथ में जा सकेंगे ? कभी नहीं तो फिर इन स्त्री पुत्रादिक को तू अपने कैसे मान बैठा है ? समझ में नहीं आता। कहा भी है कि–

बालस्तावत्क्रीडा सक्तस्तरुणस्तावत्तरुणी रक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः आत्महिते तु कदापि न लग्नः॥

संसारी जीव अज्ञानवश बाल्यावस्था में खेल तमाशे में आसक्त, तरुण अवस्था हो जाने पर स्त्री के प्रेम पाश में रत तथा वृद्धावस्था में चिन्ता में मग्न रहकर आत्म कल्याण के लिये कुछ भी यत्न नहीं कर सकता।

अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडं।
वृद्धोयाति गृहीत्वा दंडं तदपि न मुंचत्याशापिंडम्॥

वृद्धावस्था में अंग गलित हो जाता है, बाल सफेद हो जाते हैं, दाँत टूटकर गिर जाते हैं तथा वृद्ध हो जाने पर लकड़ी लेकर टेकता हुआ चलता है, तो भी उसका आशापिंड नहीं छूटता।

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
इह संसारे खलुदुस्तारे त्राता नहि भव कारागारे ॥

इस जीव ने वारंवार जन्म, वारंवार मरण तथा वारंवार माता के गर्भ में शयन किया परन्तु इस संसार के भव रूपी कारागार से किसी ने इसकी रक्षा नहीं की।

दिनमपि रजनी सायंप्रातः शिशिरवसंतः पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशावायुः ॥

दिन, रात, सायंकाल, प्रातःकाल, शिशिर तथा वसंतादिक ऋतु वारं वार आते जाते रहते हैं। काल क्रीडा करता है। अवस्था क्षण क्षण में वीतती जाती है, परन्तु फिर भी तृष्णा रूपी वायु का झँकोरा नहीं छूटता।

वयसिगते कः कामविकारः शुष्केनीरे कः कासारः।
क्षीणेवित्ते कः परिवारः ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥

अवस्था वीत जाने पर जैसे काम का विकार अपने आप चला जाता है, जल सूख जाने पर तालाव से कोई प्रयोजन नहीं रह

जाता है तथा धन नाश हो जाने पर परिवार साथ नहीं देता, इसी प्रकार तत्त्वज्ञान हो जाने पर संसार में मोह नहीं रहता है।

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निज परिवारो रक्तः।
पश्चाज्जर्जरभूते देहे वार्तां पृच्छति कोऽपि नगेहे ॥

जब तक जीव धनोपार्जन करने में समर्थ रहता है तब तक उसका परिवार प्रेम करते हुये उसमें रत रहता है, परन्तु वृद्धावस्था में शरीर के जर्जर हो जाने पर घर में कोई उसकी बात नहीं पूछता।

रथ्याकर्पट यिरचित कंथः पुण्यापुण्य विवर्जित पंथः।
नत्वंनाहं नायंलोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥

पुण्य पाप के मार्ग से रहित होकर गली में पड़े हुये फटे पुराने कपड़े की कथरी बनाने वाले जीव ने कभी यह विचार नहीं किया कि "न तूम रहेगा न मैं रहूंगा तथा न यह लोक ही दीखेगा फिर भी शोक किस लिये करता है ?

नारीस्तनभर जघन निवेशं दृष्ट्वामायामोहावेशम्।
एतन्मांस वसादिविकारं मनसि विचारय वारंवारम् ॥

नारी के स्थूल स्तन तथा जंघा आदिक स्थानों को देखकर यह जीव माया मोह में आसक्त हो रहा है, परन्तु स्तनादि अंग जिन

पर लोग मोहित होते हैं वे केवल मांस के ही विकार हैं। इस प्रकार हे जीव ! तू अपने मन में वारंवार विचार कर।

गेयं भगवन्नाय सहस्र ध्येयंस्वात्मसुरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसंगे चित्त देयंदीन जनाय च वित्तम् ॥

हजारों वार भगवन्नाम का गान करना चाहिये, श्रेष्ठ आत्म स्वरूप का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिये, सज्जनों की संगति में मन को लगाना चाहिये तथा दीन दुःखियों को दान देना चाहिये। यही इस संसार में सार है।

भगवद्वाणी किंचिदधीता लसदुपदेशसुधापि च पीता।
येनकृता प्रभुपाद समर्चा तद् विषये नहि मृत्योश्चर्चा ॥

जिसने कुछ भी भगवान् की वाणी का अध्ययन किया है अर्थात् धर्म शास्त्र का पठन पाठन किया है, परम सुन्दर उपदेशामृत का पान किया है तथा भगवान् के चरण कमलों की पूजा की है उसको मृत्यु का डर नहीं रहता।

कोऽहं कस्त्वंकुत आयातः का मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं निखिलं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥

हे जीव ! निःसार संपूर्ण स्वप्न विचार को छोड़कर इस प्रकार का विचार कर कि "मैं कोन हूं, तू कौन है, कहाँ से हम आये हैं, कौन मेरी माता तथा कौन मेरे पिता हैं ?

काते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्यत्वं कः कुत आयातः तत्त्वं चिंतय मनसि भ्रातः ॥

हे भाई ! तुम अपने मन में इस प्रकार का तत्त्व चिंतन करो कि "तुम्हारी स्त्री कौन है, तुम्हारे पुत्र कौन हैं, तुम कौन हो तथा कहाँ से आये हो"। यह संसार बड़ा विचित्र है। ये सब रास्ते चलने वाले पथिक के समान हैं।

विपिने वा गिरिगुहा निवासः शय्या पृथिवी ककुभो वासः ।
सर्व परिग्रह भोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः ॥

वन पर्वत तथा गुफा का वास, पृथिवी ही शय्या तथा दिशा रूपी वस्त्र ये धारण करके संपूर्ण परिग्रह व भोग को त्यागकर जिसने उत्तम वैराग्य धारण किया है वह कौन ऐसा पुरुष है जो सुखी नहीं है ? अर्थात् उत्तम वैराग्य सभी को सुखी बनाता है।

अष्टाविंशति गुणवर सहितः रागद्वेष मदादिक रहितः ।
आत्मध्यान सुखे संलग्नः मुक्तिपथे स्यां कदा सुलग्नः ॥

हे भगवन् ! मैं राग द्वेष तथा मदादिक दोषों से रहित होकर श्रेष्ठ अठाईस गुणों से युक्त होकर तथा आत्मध्यान सुख में संलग्न होकर मुक्ति पथ में कब स्थिर होऊँ ऐसाही निरंतर विचार कर उस ओर प्रवृत्ति करूं, ऐसा सौभाग्य कब आवेगा।

रच्चेय संभ्रमक्के कुणिदिच्छेय कूळ्गुतं क्षणांतं दोळ् ।
किच्चिन कोडमं पुगुवरंडेयवोल्विपयंगळिच्छेयं ॥
मेच्चि मनक्के बंद तेरदोळ्नडेदोळ्ळदेसुव्रतंगळं ।
हुच्चरो दुर्गतिस्थळके बीळ्वरदेकपराजितेश्वरा ! ॥३६॥

हे अपराजितेश्वर ! वाह्याडम्बर विलास के वशीभूत हो उसी में रत होकर नृत्य करते तथा मन माने आहार विहार करते हुये क्षण में ही अग्निकुंड में प्रवेश करनेवाले पागल अथवा अज्ञान बालक के समान भोग ग्रस्त प्राणी इन्द्रियाभिलाषा में रत तथा आधीन होकर मनमाने आचरण करते हुये मन के अनुसार यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करके अच्छे व्रत नियमादि धार्मिक क्रियाओं को न कर क्यों निंद्य महान् दुर्गति स्थान में जाकर गिरते हैं ? अहो ! यह कितनी मूर्खता है ॥ ३६ ॥

O' Aparajiteshwar ! Why does the people fall into low and miserable condtions of existence by being absorbed into external pleasures, leading the life like a mad man or a ignorant child (who does not recognise the injurious as injurious) ? O' how much foolish it is ?

ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसे अज्ञानी जीव विविध बाह्य आडंबर में मुग्ध होकर नाच नाचता हुआ इच्छानुकूल मन माने आहार

ग्रहणकर तृष्णा के अग्नि कुण्ड में प्रवेश कर अपना नाश करता है, उसी प्रकार पांचों इन्द्रियों के विषयों का लोलुपी जीव निज को भूलकर विषयाग्नि के कुंड में प्रवेश करके संसार गर्त में डूब जाता है। यह जीव का बड़ा भारी पागलपन है यह व्रत नियम तप आदि को भूलकर मनुष्य भव को निष्फल खो देता है, यह बड़े दुःख की बात है!

संसार में मनुष्य जन्म बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। इस भव को प्राप्त कर जीव का कर्त्तव्य तो यह है कि चौरासी लाख योनि के परिभ्रमण से छूटने के निमित्त व्रत नियम, तप को ग्रहण करे और उन अहित कार्यों को न करे कि जिन से संसार का भ्रमण फिर बढ़ जावे और यह जीव फिर भव दुःखानल में दग्ध होता रहे। संसार में मनुष्य, इन्द्रियों के विषयों में सुख मान कर इन में अपने को फँसा देते हैं, परन्तु फिर फँसकर निकलना बड़ा कठिन हो जाता है। धन्य पुरुष वेही हैं जो इन्द्रिय विषयों के कीचड़ से अपने को अशुद्ध व मलिन न करके प्रारम्भ काल से ही बाल ब्रह्मचारी होकर विषयों को त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा लेकर महाव्रतों का पालन करते हैं। अन्य जीव जगत के जीवों में यह मेरा सुत है, यह मेरी स्त्री है ऐसी मिथ्या ममत्व बुद्धि धारण करके घर की असंख्य आधि व्याधियों को अपने सिर पर बांध लेते हैं और उन गृह की आधि व्याधियों को दूर करने के प्रयत्न में रत होकर निज हित को सर्वथा भूल जाते हैं! आचार्य कहते हैं कि:—

गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥१७॥

अर्थ—गृह के आरम्भ दुःख के ही दाता हैं सुख के दाता कभी नहीं हैं इसलिये संसार में घर छोड़कर वन में रहने वाले ही सुख को पाते हैं क्योंकि सर्पराज पर के बनाये घर में (बिल में) प्रवेश करके ही सुख पाता है। भावार्थः—इसका यह है कि निज घर में हजारों आधि व्याधियाँ ऐसी हैं कि जिन से क्षणभर भी चैन नहीं पाता है किन्तु पर की बनाई हुई वन की गुफाओं में बैठकर जब आत्मा का ध्यान करता है तभी सुख पाता है।

इसलिये इस मनुष्य जन्म को पाकर महाव्रत धारी बनना ही श्रेयस्कर है अन्यथा पागल में और विषयान्ध प्राणी में कोई भेद नहीं है। जिस तरह पागल निज हित करने में असमर्थ रहता है उसी तरह विषयान्ध प्राणी भी सदा अहित में रत रहता है। पागल को तो शिक्षा देने से किसी समय हित की बुद्धि होजाना संभव भी है परन्तु विषयों में फंसे हुए प्राणी को हित की बुद्धि होना तथा हित की तरफ ध्यान करना बड़ा कठिन है। इसीलिये परम हितैषी गुरु इस को समझाते हैं कि तू घर में मोह बुद्धि धारण मत कर। संसार में जितने भी संयोग हैं वे सब अनित्य हैं जैसा कि कहा भी है किः—

अनित्येऽप्रियसंवासे संसारे चक्रवद्वतौ ।
पथि संगतमेवैतद् भ्राता माता पिता सखा ॥ १८ ॥

यह गृह वास प्रथम तो अनित्य है यहां क्षण भर का भी निवास का पता नहीं है मनुष्य घर की सामग्री कोटि वर्षों के लिये संचित करता है; परन्तु एक श्वास का भी पता नहीं है कि किस काल में यह जीव मरण के मुख में चला जावे। संसारी जीव गृह वास को प्रिय संवास जानकर इस में प्रेम करता है और इस घर वास को प्रियवास सुखवास जानता है परन्तु वह ज्यों ज्यों इसमें रहने लगता है त्यों त्यों उसको पता चलता है कि गृहवास कहने को सुखवास है परन्तु यः सुखावास नहीं अपितु दुःखावास है। इसलिये यह घरका वास अनित्य और दुःखावास है। और जिस तरह रथ का पहिया ऊपर नीचे भ्रमण करता रहता है उसी तरह यह संसार है इसमें जो कभी कोई ऊंची अवस्था में आता है, वह क्षण में नीची अवस्था को पहुंच जाता है। यहां सदा अवस्था बदलती रहती है। राजा रंक होता है रंक राजा होता है, सेठ निर्धन होता है, निर्धन सेठ होता है संसार का ऐसा ही विचित्र स्वरूप है। तथा यहाँ भाई, माता, माता, पिता, मित्र इन सब का संयोग रास्ते में जाते हुए पथिक के संयोग के तुल्य है। इन सब बातों पर जीव को विचार कर इन घर के लोगों से तथा घर से मोह छोड़ना चाहिये। संसार में मोह ही दुःख का मूल है। देखिये एक कबूतर एक नगर में स्वतन्त्र आनन्द से रहता था, वह एक कबूतरी के प्रेम में फंस गया। वह कबूतरी जब इधर उधर चली जाती थी वह बहुत दुःखी हो जाता था। कुछ दिनों में उस कबूतरी से दो बच्चे हो गये और संयोगवश एक दिन जाल में पकड़े गये।

कबूतरी ने देखा कि उसके बच्चे पकड़े गये तो मोहवश वह उन बच्चों पर जा पड़ी और जाल में फंस गई। इस सूरत में कबूतर जो यह सब कुछ देख रहा था वह मोह के उद्वेग में अपने प्राणों को भूलकर खुद भी उस कबूतरी और बच्चों पर जा पड़ा और जाल में फंस गया। यह मोह की दुर्दशा का ज्वलन्त उदाहरण है कि एक जीव के कारण कई जीव नष्ट होगये। इसलिये मोह सर्वथा त्याज्य है। यह जीव इस शरीर को अजर अमर समझ कर सदा इसकी रक्षा का उपाय रचता है परन्तु आचार्य कहते हैं कि:—

उपायकोटिदूरक्षये स्वतस्तत इतोऽन्यतः।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः ॥१६॥ आत्मानुशासन

अर्थ—यह शरीर कोटि उपाय करके भी सुरक्षित नहीं किया जा सकता है, कोटि उपाय करने पर भी यह शरीर इधर उधर से विशीर्ण ही होता रहता है और एक दिन संपूर्ण ही नष्ट हो जाता है। इसकी रक्षा यह जीव चाहे स्वयं करे या दूसरों से करवावे परन्तु यह कभी नहीं रह सकता है। जो उत्पन्न हुआ है वह कभी न कभी अवश्य नष्ट होता है। यह तेरा इस विनाश शील शरीर में व्यर्थ का दुराग्रह है कि मैं इसको नष्ट नहीं होने दूं। यह शरीर अवश्य एक न एक दिन छूट जावेगा। इसलिये शरीर की रक्षा के लिये उपाय न करके आत्मा की सुरक्षा का उपाय जो व्रत, नियम, तप हैं वे इस जीव को करने चाहिये। कर्त्तव्य के विषय में एक कवि ने कहा है कि:—

त्वरितं किंकर्तव्यं विदुषा संसारसन्ततिच्छेदः ।

ज्ञानी जीव को शीघ्र से शीघ्र क्या करना चाहिये ? इसके उत्तर में कहते हैं कि संसार परिभ्रमण का अन्त करना चाहिये । अर्थात् यहां अनादि काल से जो संसार में जन्म, मरण लगा हुआ है इस जन्म मरण की सन्तति का दहन यानी नाश करना चाहिये, यही सर्व प्रथम कर्त्तव्य है । तथा अन्य आचार्य कहते हैं कि:—

नो दुष्कर्म प्रयासो न कुयुवतिसुतस्वामिदुर्वाक्यदुःखं
राजादौ न प्रणामो ऽशनवसनधनस्थानचिन्ता न चैव ।
ज्ञानाप्तिर्लोकपूजा प्रशमसुखमयः प्रेत्य नाकाद्यवाप्तिः
श्रामण्येऽमी गुणाः स्युस्तदिह सुमतयस्त त्रयत्नं कुरुध्वम् । १ ।

अर्थ—आचार्य कहते हैं : भाई ! तू विचार कर और देखकि गृहवास छोड़कर साधुवृत्ति अंगीकार करने पर प्रथम तो यहां ही कितने सुख हैं । गृहवास में धनोपार्जनादि के लिये नीच, हीन सब कर्म करने पड़ते थे, रातदिन परिश्रम करना पड़ता था, तथा कुभार्या, कुपुत्र, स्वामी के सदा दुर्वचनों का दुख सहना पड़ता था, राजादिको प्रणाम करना पड़ता था, भोजन वस्त्र, स्थान, धन की चिन्ता सदा हृदय को जलाती रहती थी ये सब दुःख साधु वृत्ति में नहीं रहते हैं सर्वथा छूट जाते हैं । और यहां साधु अवस्था में ज्ञान का लाभ है, लोक की पूजा प्राप्त है, प्रशम (शान्ति) रूप परम सुख है तथा परलोक में उत्तम गति स्वर्गादि की प्राप्ति है ।

फिर तू गृहवास को छोड़कर साधुपद की प्राप्ति के लिये ही पूर्ण प्रयत्नकर क्योंकि ज्ञानी जनों का कर्त्तव्य वास्तव में यही है।

आगे कहते हैं कि अज्ञानी जीव विषयरूपी इंद्रियों को वासनाओं में रत होकर वासनारूपी अग्नि कुण्ड में प्रवेश करता है।

पिंदन जन्म जन्मदोलगेल्लिदनों भवदत्ततन्नना—।
तंदरदेल्लि मुंदे तनगिन्नेड पुगिऽद ताणताणदोळ् ॥
कुंददुपार्जिसिर्द धनमं तनुवं वरुतोंदनुं मनं।
तंदुदे निम्म नच्चिरदेचिंतिदेकपराजितेश्वरा ! ॥४०॥

हे अपराजितेश्वर ! मैं पूर्व जन्म में कहां था, मुझे इस मनुष्य पर्याय में कौन लाया, आगे मुझे कहाँ जाना है एवं आगे होनेवाले उस जन्म का मार्ग बतानेवाला कौन है ? अब तक मैंने जितने जन्म धारण किये और उन पर्यायों में मुझे जो जो वस्तुयें प्राप्त हुईं वे क्या साथ में लाई जा सकती हैं या लाई गई हैं ? ऐसे आपके उपदेश या आदेश पर जब पहले विश्वास नहीं रहा तो अब व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ होगा ? कुछ भी नहीं ॥४०॥

O' Aparajiteshwar ! Where was I in the previous births, who brought me to this human birth, where am I to go in the next birth & what is the way to that birth ? Who is able to tell me all this ? Could the births I had so far & the things I possesed in those births, be had voluntarily ?

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे जीव ! पूर्व जन्म में तू कहाँ था, इस भव की तरफ तुझे कौन ले आया, आगे कहाँ जाने की तेरी इच्छा है तथा किसके आश्रय से तू जायगा ? तूने जिन जिन स्थानों में जहाँ जहाँ जन्म लेकर जो जो शरीर, इष्ट, मित्र, पुत्र कलत्रादिक तथा धन ऐश्वर्य प्राप्त किया था, उनमें से क्या इस भव में आते समय कोई पदार्थ लाया था ? कुछ भी नहीं । फिर भी इन बाह्य वस्तुओं के पीछे पड़कर शरीर पुत्र कलत्रादिक में रत होकर उनके लिये चिन्ता तथा उनके संयोग वियोग में हर्ष विषाद क्यों करता है ? रात दिन क्षणिक वस्तुओं के लिये दुःख शोक क्यों किया करता है ? और इतना जानते हुवे भी पर पदार्थों को अपने से भिन्न मानकर भगवान् के ऊपर विश्वास रखकर उनके कहे हुये उपदेशानुसार दयामय धर्म का पालन करके अपना आत्म कल्याण क्यों नहीं कर लेता ? तू रात दिन दुःखदायी पर वस्तुओं के पीछे पड़ा है, यह कितनी बड़ी अज्ञानता है !

अरे जीव ! तूने अपने निज वस्तु का ध्यान न करके सर्वदा पर वस्तु के लिये ही अपना अमूल्य मानव रत्न नष्ट कर दिया, यह कितने आश्चर्य की बात है ! तूने यदि व्रत नियमादिक भी किया तो उससे मोक्ष सुख की इच्छा न करके क्षणिक इन्द्रिय सुखों की इच्छा में ही सदा रत रहकर आत्माराम को संसार में डुबा दिया । सांसारिक सुख केवल पुण्य उदय तक ही साथ रहते हैं । पाप का उदय आते ही एक क्षण भी साथ नहीं रहते । काल की बड़ी विचित्र गति है कहा भी है कि:—

मातुलो यस्य गोविन्दः पिता यस्य धनंजयः ।
सोऽपि कालवशं प्राप्तः कालो हि दुरतिक्रमः ॥
पुरन्दरसहस्राणि चक्रवर्तिशतानि च ।
निर्वापितानि कालेन प्रदीपा इव वायुना ॥

संसार में जिसके मामा गोविंद और जिसके पिता धनञ्जय थे वे भी काल के वश प्राप्त हुये। यह विकराल काल सबको समाप्त कर देता है। इसके चक्र से आज तक कोई भी नहीं बचा है।

इस संसार में हजारों इन्द्र तथा सैकड़ों चक्रवर्ती हो गये, परंतु वे सभी जिस प्रकार वायु के वेग से दीपक बुझ जाते हैं, उसी प्रकार काल के वेग से समाप्त हो गये। काल रूपी पवन के झकोरे से कोई भी बचने नहीं पाया।

और भी शास्त्रकारों ने कहा है किः—

हा कान्ते हा धनं पुत्राः क्रंदमानः सुदारुणम् ।
मंडूक इव सर्पेण मृत्युना गीर्यते नरः ॥

अर्थ—यह मनुष्य जब मौत को आती देखता है तो महान् दारुण रुदन करता है, पुकारता है कि हाय प्राण वल्लभे ! हाय धन, हाय पुत्रो ! तुमको छोड़कर मैं कहाँ चला ? इस तरह पुकारते हुए को जिस तरह मेंडक को सर्प निगल जाता है उसी तरह मृत्युराज उसको निगल जाता है। तथा और भी कहा है किः—

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनं, कृतान्तदन्तान्तर्वर्ति जीवितं ।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने, नृणामहो विस्मयकारि चेष्टितम् ॥

अर्थ—इस जगत् में विभूति लक्ष्मी बड़ी चंचल है, जवानी क्षण भंगुर है, जीवन यमराज के दांतों के अन्दर है तो भी यह जीव धर्म साधन नहीं चाहता है, धर्म से प्रेम न करके धर्म की अवज्ञा ही करता है। जीवों की यह चेष्टा अत्यन्त विस्मयकारी है।

भावार्थ इसका यह है कि यह जीव मोह वश हित अहित को नहीं समझता है। जो पदार्थ विनश्वर हैं, अहितकर हैं, जिनका संयोग वियोग कर्माधीन है, निजके आधीन नहीं है तथा जीवनका क्षणभर का भरोसा नहीं है तथापि यह प्राणी धर्म को नहीं अपनाता है, धर्म की बात तक को नहीं सुनता है, धर्म की इस कदर अवज्ञा करता है, यह इस जीवकी चेष्टा अत्यन्त आश्चर्यकारी है। मोह की गति बड़ी विचित्र है।

शास्त्रकार इंद्रिय विषयों की लोलुपता के निषेधमें कहते हैं कि-

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिताः दन्तिनः स्पर्शनद्धाः।
वद्धास्ते वारिवन्धे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षदोषात् ॥
भृंगाः गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरंगाः
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः।

अर्थ—मीन (मछलियां) रसनेंद्रिय के वश को प्राप्त होकर कांटे में लटक कर प्राणों को खो देती हैं। मदोन्मत्त हस्ती हथिनी

के स्पर्श के निमित्त खड्डे में गिरकर बन्धन को प्राप्त होता है। पतंग दीपक के रूप में मोहित होकर दीपक पर जाकर एड़ कर प्राणों को खोता है। भौंरा सुगन्ध का लोलुपी कमल में ही बन्द होकर प्राणान्त हो जाता है। हरिण संगीत का लोलुपी जाल में फंसकर अपने को काल के मुख में फेंक देता है। एक २ इन्द्रिय के विषय के लोलुपी जीवों की यह अवस्था है कि विषय लोलुपता के कारण काल रूपी महाव्याल द्वारा प्रलय को प्राप्त होते हैं फिर पांचों इन्द्रियों के विषयों के लंपटी जीव तो अवश्य विनाश को प्राप्त होते हैं। परन्तु खेद है कि फिर भी शरीर धारियों का विषयों में महान् राग है।

तथा आचार्य वीरनन्दि स्वामी कहते हैं कि:—

विहाय ये निर्वृतिमव्यपायं बहुव्यपायं वृणुते विभूतिम्।
हित्वा हिमंते शुचि चन्दनाम्भः पिबन्त्यहो मूढधियः सपङ्काः॥

अर्थ—अज्ञानी भले बुरे को, हित अहितको नहीं जानता है यही कारण है कि आत्मीय अविनाशी लक्ष्मी को छोड़कर विनाशीक क्षण क्षण में नाश को प्राप्त होने वाली जगत की सम्पदा को ग्रहण करता है उसकी यह क्रिया वैसी ही है जैसे कि कोई मूर्ख शीतल, पवित्र चंदन के जल को न पीकर कीचड़ के जल को पीता है।

भाव इसका यह है कि जिसकी बुद्धि मिथ्यात्व मोह से दूषित होती है वास्तविक में वह जीव मूढधी है अर्थात् अज्ञानी है।

मोही जीव मोह के उदय से एक एक कौड़ी के लिये मरता है और कौड़ियों को भी धन समझ कर भूमि में गाड़ देता है और मर कर मोह के कारण भूमि में रखी हुई कौड़ियों की हांडी में सर्प होकर बैठ जाता है। तिर्यंच गति में चला जाता है, संसार की संपदा के लिये चौबीसों घंटे बड़े २ परिश्रम करता है। खान पान छोड़ देता है। स्वदेश छोड़ हजारों कोश दूर विदेश में चला जाता है। सदा 'धन आवे धन आवे' यही भजता रहता है, मगर फिर भी विना पुण्य के जब धन नहीं आता है तो रात दिन चिंता से से जलने लगता है। धन का बडा खोटा आर्त्त ध्यान रूपी पिशाच उसको बावला बना कर नचाता है। कभी चैन से नहीं बैठने देता है। नुकसान लग जाता है तो रोता है। कोई चोरी कर ले जाता है तो पागल हो जाता है। जिस धन का आना और जाना दोनों महान् दुःखप्रद है उसके उपार्जन में जीव सारा जीवन खो देता है, महान् दुख पाता है परन्तु यह सब होते हुए भी अज्ञानी मोही जीव संसार की संपदा को ही चाहता है। अपनी आत्मिक अवि-नाशी सम्पदा की प्राप्ति के लिये नहीं इच्छा करता है।

जितना परिश्रम लोक की विभूति के लिये करता है उससे आधा परिश्रम, अगर रत्नत्रय विभूति की प्राप्ति के लिये जीव करे तो थोड़े समय में ही अव्याबाध अनन्त सुख का पात्र हो सकता है। यह जीव विचार ही नहीं करता है कि संसार में संयोग वियोग रूप है। किसी वस्तुका संयोग सदा नहीं रहता है जगतकी

कोई वस्तु जीव के साथ न आती है और न जाती है। वृथा धन सम्पदा का संचय करता है और संचित धन में से दान पूजा में भी एक पैसा नहीं लगता है। इसकी यही अवस्था है जैसे कीड़ियां धान को खींचर कर बिल में ले जाकर इकट्ठा करती हैं और अन्य जीव उस बिल में से ले जाकर खाजाता है। कीडियों के वह धान कुछ भी काम में नहीं आता है। अतः इस जीव को संसार की विनश्वर संपदा जो सदा वियोगरूप उसको छोड़कर अपनी रत्नत्रय सम्पदा के लिए प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्य जीवन को इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति के लिये धन सम्पदा उपार्जन करने में ही नहीं खोदेना चाहिये। इन इन्द्रियों के विषयों से जितना प्राणी राग घटाता है उतना ही यहां भी और परभव में भी सुख पाता है और जो विषयों की चाह की अग्नि में जलता रहता है वह यहां भी दुखी है और आगे भी अनन्त दुःख पाता है। श्री समन्त भद्राचार्य महाराज स्वयम्भूस्तोत्र में कहते हैं कि :—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोनुषङ्गान्न च ताप शान्तिः
इतीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥३१॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि सुपार्श्वनाथ तीर्थङ्कर भगवान ने हम जीवों को उपदेश में कहा है कि हे भव्यजीव तेरा

निज के कर्म विमुक्त आत्मा में अविनश्वर रूप से निजका ठहरना ही निजका वास्तविक अर्थ है अर्थात जीवका सच्चा स्वार्थ यही है। विनाशरूप ये जगत के भोग जीव के स्वार्थ (निजके अर्थ) नहीं हैं। निरन्तर भोगाकांक्षा के अनुवन्ध से यानी निरन्तर भोगों की वांछा की लगन से तेरे कभी किसी काल में भी शारीरिक व मानसिक संताप की शान्ति संभव नहीं है ॥ ३१ ॥

आगे वेही आचार्य और कहते हैं कि :—

अजंगमं जंगमनेययंत्र
यथातथा जीवधृतं शरीरं ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च
स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥३२॥

अर्थ—स्वयम्भू स्तोत्र में आचार्य महाराज कहते हैं कि सुपार्श्वनाथ भगवान ने इस जीव को यह हितोहदेश दिया है कि हे जीव ! जिस प्रकार कोई रथ तथा गाड़ी स्वयं गमन नहीं करने वाली होती है उसको हाथी, घोड़ा, बैल खींच कर जगह जगह घुमा लाता है उसी प्रकार यह शरीर भी अजंगमहै, स्वयं कहीं जा नहीं सकता है, इसको यह जंगम प्राणी जगत में घुमाता है। परन्तु यह शरीर अतिभयावह, दुर्गन्धित, विना शोक, बहुत दुःख का देने वाला है, इसमें तेरा स्नेह वृथा है ॥

दोनों श्लोकों का भावार्थ यह है कि इस शरीर में मोह करना वृथा है और इन्द्रियों के भोगों की लगन त्याज्य है। कर्तव्य वस्तु

यही है कि सर्व कर्मों को नाश कर निज आत्मा में निजकी सदा काल रहनेवाली स्थिति यह जीव प्राप्त करे। विषयों की वांछा की संतति रहते हुए कभी भवाताप की शान्ति प्राप्य नहीं है।

आगे कहते हैं कि अगर मनुष्य पर्यायसे दान धर्म या भक्ति इत्यादि करके मोक्ष साधन न करे तो इस मनुष्य पर्याय के प्राप्त करने से क्या फायदा ?

इत्तोडे वर्पुदे वडतनं कुडदिर्दोडे लक्ष्मि निल्वुदे ।
सत्तोडे जीवनन्ते लयवादने जीविसुतिर्दोडिदने ।।
एत्तन मातिवेल्ल वहतं वयलागुत मिपुवैसे नि-
म्मतम भक्तियोंदे निजसिद्धियला अपराजितेश्वरा ! ।।४१।।

हे अपराजितेश्वर! दान करने से दरिद्रता आती है क्या ? दान न देने से ऐश्वर्य सदा सर्वदा एकसा बना रहता है क्या ? मरने के बाद आत्मा का नाश होता है क्या ? यदि मैं सदैव स्थायी और स्थिर रहना चाहता हूँ तो वह आयुकर्म मेरे आधीन है क्या ? दरिद्रता आदि जैसे हमेशा आते जाते रहते हैं इसलिये जैसे ये स्थिर नहीं हैं वैसे सांसारिक सुख संपत्ति भी स्थिर नहीं है। वास्तव में तो आप के चरणों में की हुई भक्ति सदैव आत्मशुद्धि करनेवाली है और वही स्थिरता देनेवाली वस्तु है ।।४१।।

O Aparajiteshwar ! Does one become poor by giving gifts ? Does the prosperity remain same by not

giving gifts ? Does the soul gets destroyd after death ? If I wish to live for ever than, is the Age Karma in my control ? The prosperity & all the worldly things are stable. As a matter of fact, it is only the devotion in your feet which gives stability and cleanliness to the soul.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि दान देने से मनुष्य का धन न तो घटता ही और न दान से विमुख रहने पर कुछ बढ़ता ही है। भोगैश्वर्यादिक सुख दुःख, पूर्व भव में किये हुये पुण्य और पाप के अनुसार आते जाते रहते हैं। ये कभी किसी अवस्था में स्थिर नहीं रह सकते। स्थिर और अविनाशी सुख केवल मोक्ष में ही है। इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये भव्यात्मा ज्ञानी जीव को सदा सर्वदा भगवान् के चरण कमलोंकी आराधना श्रद्धा पूर्वक करनी चाहिये।

अज्ञानी जीव ने तो अपने इन्द्रियों के आधीन होकर विषय कषायों की पुष्टि की, मन माना आहार-विहार किया, अनेक आरम्भ, अन्याय, अनाचार, मायाचार तथा छल कपट आदि के द्वारा द्रव्य कमाकर उससे अपने इन्द्रियों को पुष्ट करके उन्मत्त बना दिया, धन के आधीन होकर अपने सच्चे स्वरूप को भूल कर भूतसंचार किये हुये मनुष्य के समान यद्वा तद्वा व्यवहार किया। विषयाधीन होकर भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे हुये शासन को छोड़कर अपनी इच्छा से अधर्मको धर्म मानकर उसी की आराधना

की, किन्तु इसे अभी तक कहीं सुख शान्ति नहीं मिली। अनेक पापारम्भ करके उपार्जित की हुई संपत्ति का उपयोग इसने न तो सत्पात्र दान में किया, न भगवान के पूजा में व्यय किया, न स्वयं खाया तथा न कभी किसी दीन दुःखी को खिलाकर परोपकार ही किया।

इस अज्ञानी जीव ने धन घट जाने के भय से दान, पुण्यादिक धर्म कार्य में धन लगाकर उसका सदुपयोग न करके रात दिन धन संचित करते हुये पशु के समान आचरण किया। क्योंकि सत्कार्य में धन का सदुपयोग न करके धन संचय करने वाले मनुष्य सींग पूंछ रहित पशु के समान ही हैं। कहा भी है कि—

> येषां न विद्या न तपो न दानं।
> ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः॥
> ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता।
> मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिन मनुष्यों के पास न तो उत्तम विद्या है, न तप है, न ज्ञान है, न शील है, न गुण है तथा न धर्म ही है, वे मनुष्य पृथ्वी पर भारभूत होकर मनुष्य रूप से पशुओं के समान आचरण करते हैं।

इसलिये धर्मात्मा मनुष्य को सर्वदा दान, पुण्य, व्रत नियमादिक धर्म कार्य में धन व्यय करते रहना चाहिये, क्योंकि यह धन

तथा शरीर कदापि स्थिर रहने वाला नहीं है।

एक राजा बड़ा धर्मात्मा था। वह नित्य प्रति अनेक दरबार में याचकों को बड़े प्रेम के साथ दान देता था। उसके पास जाकर जो कोई जितना धन मांगता था उसे तत्काल ही दरबार से मुंह मांगा धन देकर विदा किया जाता था। यह राजा का दैनिक कार्य था। मंत्री ने सोचा कि यदि इसी प्रकार प्रति दिन दान दिया जायगा, तो एक दिन राज्य भी समाप्त हो जायगा। अतः राज्य की रक्षा के लिये कोई यत्न विचार करना चाहिये। अन्त में उसने एक दिन राजा से एकान्त में विनीतभाव से प्रार्थना की कि:—
"आपदर्थं धनं रक्षेत्"

हे स्वामिन्! भाग्य का कोई पता नहीं है कि कब तक साथमें है इसलिये आपत्ति के लिये धन की रक्षा करनी चाहिये।

राजा ने मंत्री के वचन को सुनकर उत्तर दिया कि—

"श्रीमतां कुत आपदः ?

भाग्यवान् पुरुषों के ऊपर आपत्ति कहां से आ सकती है ?
मंत्री ने पुनः कहा कि:—"यदि दैवात्समभ्येति"
यदि दुर्भाग्य से आपत्ति आ भी जाय तो क्या होगा ?
राजा ने उत्तर दिया कि:—"संचितं हि विनश्यति"

यदि आपत्ति आ जायगी, तो दान धर्म में न व्यय करके इकट्ठा किया हुआ धन भी नष्ट हो जायगा। धन की रक्षा करके

कभी कोई उसे सुरक्षित नहीं रख सकता इसलिये धन को पाकर दान धर्म में व्यय करके उसका सदुपयोग कर लेना चाहिये।

कहा भी है कि:—

दौलत पाय न कीजिये सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चार को ठाऊँ न रहत निदान॥
ठाऊँ न रहत निदान जियत जग में यश लीजै।
मीठे वचन सुनाय विनय सब ही के कीजै॥
कह गिरधर कविराय अरे यह सब घट तौलत।
पाहुन निश दिन चार रहत सबही के दौलत॥

धन को पाकर स्वप्न में भी अभिमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह धन चार दिन भी स्थिर न रहकर चंचल जल की भांति सदा चला करता है। इसलिये इस धन को धर्म में खर्च करके यश कमाना चाहिये तथा छोटे बड़े हरेक के साथ मीठे वचन सुनाकर विनय करना चाहिये।

गिरधर कविराय कहते हैं कि यह धन सभी के हृदय की परीक्षा करते हुये अतिथि की भांति केवल चार दिन के लिये सभी के पास ठहरता है। इसलिये इस धन को जहां तक हो सके वहां तक दान पुण्यादिक सत्कार्य में लगाकर अक्षय पुण्य प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि धर्म कार्य न करने वाले मनुष्य के शरीर को

मरने के बाद पशु भी न ग्रहण कर उसे घृणित समझकर त्याग देते हैं।

एक नगर में एक बहुत बड़ा कंजूस सेठ रहता था। उसने लोभ के वशीभूत होकर अपने जन्म भरमें न तो कभी एक पैसा दान धर्ममें व्यय किया, न कभी किसी का कुछ भी परोपकार किया तथा न कभी देव मन्दिर व साधु महात्मा को नमस्कार ही ही किया। रात दिन अन्यायपूर्वक पैसा इकट्ठा करने में रत रहा करता था। एक दिन वह व्यापार करने के लिये विदेश में गया तथा वहाँ जाकर घोर परिश्रम करके बहुत काफी धन इकट्ठा किया। पासमें तमाम धन रहते हुये भी वह इतना अधिक लोभी था कि ठीक तरह से भोजन भी नहीं करता था। एक दिन तमाम धन को लेकर जब वह लौट रहा था तब आते समय भोजन न करके तेज नमक डालकर उसने केवल कढ़ी को पीलिया था। अतः कुछ देर के बाद उसे बड़े जोर की प्यास लगी, परन्तु उस समय वह दुर्भाग्यवश जंगलमें पहुँच जाने के कारण जल नहीं प्राप्त कर सका। जलके लिये उसने बहुत तलाश किया; किन्तु किसी तरह उसे पानी की एक बूँद भी नहीं मिला। उस समय ग्रीष्म काल की बड़ी कड़ी गरमी पड़ रही थी, अतः प्यास से व्याकुल होकर वह कंजूस सेठ उस निर्जन वनमें मर गया। कुछ समय के पश्चात् उसके मृतक शव को खाने के लिये एक कुत्ता और एक गीदड़ आ गये। कुत्ता वयोवृद्ध व बुद्धिमान् था। अतः वह संपूर्ण अंगको सूँघने के बाद पीछे हटकर गीदड़ से कहने लगा कि:—

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ ।
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते तीर्थे न पादौ गतौ ॥
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुंगं शिरो ।
रे रे जम्बुक ! मुञ्च मुञ्च सहसा नीचस्य निंद्यं वपुः ॥

हे गीदड़ ! इस कंजूस ने कभी हाथों से दान नहीं किया, कानों से कभी शास्त्र तथा भगवान् का नाम नहीं सुना, नेत्रों से कभी साधु महात्मा का दर्शन नहीं किया, पैरों से कभी तीर्थयात्रा नहीं की, अन्याय—अनाचार से धन इकट्ठा करके अपने पेट को भरा तथा अहंकार के मद से मतवाला होकर किसी देव, गुरु, शास्त्रको कभी मस्तक झुकाकर प्रणाम नहीं किया। इसलिये हे भाई ! इस नीचके निंद्य शरीर को शीघ्रातिशीघ्र छोड़ दो, छोड़ दो; क्योंकि यदि इस पापी के शरीर को खाओगे तो फिर हम लोगों को निंद्य गतिमें जाना पड़ेगा। इसलिये वे दोनों उसके शरीर को छोड़कर चले गये। यह लोभ क्या क्या नहीं कराता है। जिस लोभ पिशाच के वश होनेसे मनुष्य ने जीवन पर्यन्त सदा दुःख उठाया और मरनेके बाद भी उसके मृतक शरीर को कुत्ते गीदड़ तक ने नहीं स्पर्श किया, ऐसे लोभ से क्या लाभ है ?

संसार में मनुष्य किसी शुभ समाचार के हर्षोपलब्ध्यमें अपनी अपनी शक्ति के अनुसार कुछ न कुछ दूसरे को दान देते रहते हैं; परन्तु कृपण मनुष्य लोभ के कारण चाहे जितना धनवान्

या प्रसन्न क्यों न हो; पर वह कभी किसी को कुछ भी नहीं देता। कहा भी है कि:—

देशपती जब रीझत है तब देत है ग्राम करत है निहाली।
ग्रामपती जब रीझत है तब देत है खेत या देत है बाड़ी॥
खेतपती जब रीझत है तब देत है धान पाली दो पाली।
बनियाँ भाई जब रीझत है तब काढ़त दाँत बजावत ताली॥

राजा प्रसन्न होने पर दो चार गांव देकर प्रसन्न करता है, गाँव का मालिक प्रसन्न होने पर दो चार बीघा खेत देकर खुश करता है, खेत का स्वामी जब प्रसन्न हो जाता है, तब दो पायली धान देकर संतुष्ट करता है; किन्तु कंजूस बनिया जब प्रसन्न हो जाता है, तब दाँत निकाल कर केवल ताली बजाता है।

आजकल उपर्युक्त कहावत के अनुसार अज्ञानी जीव धर्म कर्म का कुछ भी ख्याल न रखकर रात दिन इन्द्रिय वासना में रत रह-कर दूसरों को ठगने या फँसाने का यत्न किया करता है तथा कहता है कि देखो ! मैंने इसको फँसा लिया, उसको पराजित कर दिया; परन्तु वह मूर्ख यह नहीं जानता कि जो लोग दूसरे को फँसाने या ठगने का प्रयत्न करते हैं वे स्वयं उसके जालमें पहले फँस जाते हैं। संसारी जीव ने इन्द्रियजनित सुख तथा क्षणिक संपत्ति के लिये सब कुछ किया परन्तु अन्तमें मरने के बाद संपूर्ण धन यहाँ " यहीं रह गया। लेकिन जो लोग ऐसा न करके धर्ममें रुचि

रखते हैं तथा अपना धन धर्ममें लगाकर उसका सदुपयोग करते हैं उनका धन व यश उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है।

कहा भी है कि:—

धर्म के कारण लुटा देते हैं धन धर्मात्मा।
उनको दूना करके फिर देते हैं परमात्मा॥

लक्ष्मी का उपयोग करनेमें अनेक भागीदार हैं। वह एक ही के द्वारा कभी नहीं भोगी जाती। उसके भोग करनेमें चार मुख्य हैं जिनका नाम यह है कि:—राजा, धर्म, चोर और अग्नि। ये चार मुख्य हैं। जो लोग लक्ष्मी प्राप्त गरके धर्म की पुष्टि नहीं करते हैं उन पर राजा, चोर और अग्नि ये तीनों भागीदार कुपित होकर उसकी लक्ष्मी को उठाकर ले जाते हैं। तत्पश्चात् वह हाथ मलते हुये रह जाता है और धन संचय में जो कुछ पाप उसने इकट्ठा किया था उसका कटु फल वह अकेला भोगता रहता है।

लक्ष्मी पुकार कर कहती है कि जो धर्मात्मा धर्म के लिये धन को व्यय करते हैं, उनको मैं उससे दूना धन दे देती हूँ, परन्तु जो लोक ऐसा न करके जुवा, दास वेश्या आदिक सप्त व्यसनों में धन बरबाद करते हैं उनके वहाँ से भगकर मैं पुण्यात्मा पुरुषों के पास चली जाती हूँ।

मनुष्य जन्म की सार्थकता भगवान् की भक्ति, दान, पूजा आदिक धर्म कार्य से ही हो सकती है तथा इसी से स्वर्ग और मोक्ष

की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा धर्म के अतिरिक्त यह शरीर किसी काम का नहीं रहता है। कहा भी है कि:—

हाथी के दन्त से खिलौने बने भाँति भाँति।
बाघ का बाघंबर सभी लोग के मन भावै है ॥
मृग की मृगछाला ओढत हैं योगी यती।
बकरे की खाल में पानी भर लावैं है ॥
सांभर की खाल को बाँधत सिपाही लोग।
गैंडा की ढाल शूर वीर मन भावै है ॥
कहैं महासंत साधु राम के भजन बिन।
मानुष की खाल किसी काम के न आवै है ॥

मरने के पश्चात् पशु पक्षियों के चमड़े तथा हड्डियाँ काम में आजाती हैं, किन्तु यह मानव पर्याय ऐसी है कि यदि इससे भगवान् का भजन किया गया तब तो सफल है, अन्यथा मरने के पश्चात् इसके चमड़े भी किसी काम के नहीं होते। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को इन्द्रिय जनित सुख को पाप और दुःख का मूल कारण मानकर उससे विरक्त होकर भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुये सच्चे मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये।

प्राण का घात करना पाप तथा उसकी रक्षा करना सुख है। असत्य बोलना पाप और सत्य बोलना सुख है। चोरी करना पाप और उसका त्याग करना सुख है। काम क्रीड़ा करना पाप व ब्रह्म-

चर्य पालना सुख है, क्रोध करना पाप और शान्ति रखना सुख है, अभिमान करना पाप और उसका त्याग करना सुख है, छल करना पाप और सरलता करना सुख है, कृपणता रखना पाप और उदारता रखना सुख है। मोह करना पाप और निर्मोही बनना सुख है। द्वेष करना पाप और प्रेम करना सुख है। कलह करना पाप और जीव मात्र को अपनाना सुख है। दोष बुद्धि करना पाप और गुणानुरागी बनना सुख है। चुगली करना पाप और सत्य प्रशंसा करना सुख है। सुख प्राप्त होने पर प्रसन्न होना पाप तथा दुःख में प्रसन्न होना सुख है। खोटा व्यवहार करना पाप और सदाचारी बनना सुख है। बुरे को अच्छा मानना पाप तथा सत्य को अपनाना सुख है तथा भवभीत आत्माओं के लिए पाप को हेय समझकर त्यागना तथा पुण्य उपादेय समझकर ग्रहण करलेना सुख है। यही सच्चा मार्ग है। अतः इस मार्ग को ग्रहण करके भगवान् के चरण कमलों में दृढ़ भक्ति करनी चाहिये जिससे कि शाश्वत आत्म सुख की प्राप्ति हो जाय।

निन्न पदाब्ज भक्ति विषयार्थविरक्ति तपोभरक्के सं।
पन्नते वेत्त शक्ति तनुवं सले भेदिसि तन्न रूपन ॥
च्छिन्नदे काण्व युक्ति गुणदल्ल नुरक्ति इवागे मुक्ति जी।
वं नरनागिवं पडेयदिदोडेदेक पराजितेश्वरा ! ॥४२॥

हे अपराजितेश्वर ! आपके चरण कमलकी भक्ति, इन्द्रियोंके विषयों में विरक्ति, तपश्चरणके भारको उठाने की दृढ़ शक्ति, और

सम्यग्ज्ञान द्वारा शरीर को आत्मा से पृथक् जानकर उसे पृथक् ही देखते रहने की युक्ति, शद्गुणों में प्रीति, इत्यादि साधन प्राप्त हो जाने पर परमधाम मोक्षपद प्राप्त किया जा सकता है। यदि मनुष्य पर्याय प्राप्त करके भी ये साधन नहीं जुटाये जा सकते तो मनुष्य पर्याय प्राप्त होने से क्या प्रयोजन ? ॥ ४२ ॥

O' Aparajiteshwar ! The attainment of renunciation of sense objects, power to bear the weight of asceticism, the way of knowing the body & soul as different from each other through right knowledge (of both), and love with the good virtues can lead one to liberation. If even in human life these things are not attained than what is the good of human life ?

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि भगवान् के चरणों में भक्ति, इन्द्रिय विषय सम्बन्धी भोगोपभोग वस्तुओं में विरक्ति, तपश्चर्या रूपी भार को उठाकर उसके सहन करने की प्रबल शक्ति, ज्ञान के द्वारा इस शरीर को आत्मा से पृथक् जानकर आत्म स्वरूप को संपूर्ण रीति से देखने की युक्ति तथा सद्गुणों में प्रीति आदि गुण प्राप्त होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिन्होंने उपर्युक्त गुणों को नहीं ग्रहण किया उनके मनुष्य जीवन से क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं।

जब भगवान् के चरणकमलों में गाढ़ भक्ति उत्पन्न हो जाती है तब मनुष्य की इन्द्रिय वासना आदि कम हो जाती है। परन्तु

विना भगवान् जिनेन्द्र देव की भक्ति के कोई फल प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान् की भक्ति किस प्रकार से प्राप्त हो सकती है?

जिस समय अपने हृदय में विकार उत्पन्न करनेवाले दुर्गुणों का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है, उस समय भगवान् की भक्ति स्वयं उत्पन्न हो जाती है। परन्तु विकारोत्पादक दुर्गुणों को त्याग कर भक्ति प्राप्त करने के लिये सर्व प्रथम बहुत बड़ी बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। कहा भी है कि—

सहस्र वणिक बुद्धि मिले तब होय एक सोनार।
सहस्र सोनार मिले तब होय एक ठगार॥
सहस्र ठगार मिले तब होय एक विचक्षण।
सहस्र विचक्षण मिले तब होय एक वीरगण॥
वणिक् विचक्षण वीरगण ठग और सोनार की।
इनसे ऊंचा बोध जब मिले तब होय भक्ति भवतार की॥

हजारों बनियों की बुद्धि मिलकर एक सुनार की बुद्धि होती है, हजारों सुनारों की बुद्धि मिलकर एक ठगहर की बुद्धि होती है, हजारों ठगहरों की बुद्धि मिलकर एक विचक्षण को बुद्धि होती है, हजारों विचक्षणों की बुद्धि मिलकर एक वीर पुरुष की बुद्धि होती है तथा वनिया, विचक्षण, वीर, ठग और सोनार की बुद्धि से भी ऊपर सर्वथा निष्कपट बुद्धि जिसमें होती है उसे ही भगवान् की भक्ति उत्पन्न होती है।

मित्रं शत्रुगतं कलत्रमसतीं पुत्रं कुलध्वंसिनं ।
मूर्खं मन्त्रिणमुत्सुकं नरपतिं वैद्यं प्रमादास्पदम् ।।
देवं रागयुतं गुरुं विषयिणं धर्मं दयावर्जितम् ।
यो वा न त्यजति प्रमाद वशतः स त्यज्यते श्रेयसा ।।

जो अज्ञानी मनुष्य, शत्रुके आधीन मित्रको, पातिव्रत्य रहित स्त्री को, कुलनाशक पुत्र को, मूर्ख मन्त्री को, स्वार्थी राजा को, प्रमादी वैद्य को, राग युक्त देव को, विषयो सक्त गुरु को तथा दया से वर्जित धर्मको प्रमादवश नहीं छोड़ता है उसे पुण्य छोड़ देता है ।

नागो भाति मदेन कं जलरुहैः पूर्णेन्दुना शर्वरी ।
वाणी व्याकरणेन हंस मिथुनैर्नद्यः सभा पण्डितैः ।।
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरम् ।
सत्पुत्रेण कुलं नृपेण वसुधा लोकत्रयं धार्मिकैः ।।

हाथी मद से, पानी कमलों से, रात्रि पूर्ण चन्द्रमा से, वाणी व्याकरण से, नदियाँ हंसों के मिथुनों से, सभा पण्डितों से, स्त्री शीलव्रत से, अश्व दौड़ने से, मंदिर नित्य मंगलोत्सव करनेसे, कुल सत्पुत्र से, पृथ्वी राजा से तथा तीनों लोक धर्म से सुशोभित होता है । इसलिये मनुष्य को धर्म नहीं छोड़ना चाहिये ।

शर्वरी दीपकश्चन्द्रः प्रभाते दीपकः रविः ।
त्रैलोक्य दीपको धर्मः सत्पुत्रः कुलदीपकः ।।

रात्रि का दीपक चन्द्रमा, प्रभात का दीपक सूर्य, कुलका दीपक सत्पुत्र तथा तीनों लोक का दीपक धर्म है। इसलिये मनुष्य को धर्म कदापि नहीं छोड़ना चाहिये।

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ॥

अत्यन्त उग्र पुण्य व पाप का फल इसी लोक में ही तीन वर्ष में, तीन माहमें, तीन पक्ष में तथा तीन दिनमें मिल जाता है। अर्थात् मनुष्य अत्यन्त तीव्र पुण्य व पाप के फल को पाकर इसी काल में अपने कर्मानुसार सुख दुःख उठाया करता है। अतः भव्य जीवों को पुण्य संचय करना चाहिये।

राज्यश्च सम्पदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।
पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥

राज संपत्ति, भोग, उत्तम कुलमें जन्म, सौंदर्य, पांडित्य, आयु तथा आरोग्य ये सभी धर्म के ही फल से प्राप्त होते हैं।

धर्माज्जन्म कुले शरीर पटुता सौभाग्यमायुर्बलम्।
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशो विद्यार्थसम्पत्तयः ॥
कान्ताराच्च महद्भयाच्च सततं धर्मः परित्रायते।
धर्मः सम्यगुपासितो हि नितरां स्वर्गापवर्गप्रदः ॥

धर्म से ही उत्तम कुलमें जन्म, शरीर, चतुराई, यश, सौभाग्य, दीर्घ आयु वल प्राप्त होता है, धर्मके ही प्रभाव से निर्मल यश, विद्या धन, संपत्ति प्राप्त होती है तथा भयानक जंगल और अन्य आपत्तियों से भी धर्म ही निरंतर रक्षा करता है। इसलिये बुद्धिमान मनुष्य को स्वर्ग तथा मोक्ष पदको देनेवाले धर्म की उपासना भली-भांति करनी चाहिये। इस संसार में धर्मके अतिरिक्त सारी वस्तुयें अनित्य हैं। इसलिये धर्मात्मा भव्य जीवों को हमेशा धर्म की उपासना करनी चाहिये, जो मनुष्य उत्तम कुलमें जन्म लेकर भी भक्तिके साथ दान व पूजा नहीं करता है, उनका जन्म व्यर्थ ही है ऐसा समझना चाहिये। कहा भी है कि:—

पूजा न चेज्जिनपतेः पदपंकजेषु।
दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम्।
नो दीयते किमु ततः सदनस्थितायाः।
शीघ्रं जलांजलिरगाधजले प्रविश्य ॥२४॥
(पद्मनंदि०)

जिस गृहस्थाश्रममें जिन भगवानके चरण कमलों की पूजा नहीं है, भक्ति-भावसे संयमी के लिये दान नहीं दिया जाता है, उसके संबंध में आचार्य कहते हैं कि उसे अत्यन्त गहरे जल में प्रवेश करके जल की अंजुली दे देनी चाहिये।

कार्यं तपः परमिह भ्रमता भवाब्धौ ।
मानुष्यजन्मनि चिरादतिदुःखलब्धे ॥
संपद्यते न तदणुव्रतिनापि भाव्यं ।
जायेत चेदहरहः किल पात्रदानम् ॥

आचार्य कहते हैं कि चिरकाल से इस संसार रूपी समुद्र में भ्रमण करते हुये प्राणियों को बड़े कष्ट से इस मनुष्य भव की प्राप्ति हुई है, इसलिये मनुष्य जन्म में अवश्य तप करना चाहिये। यदि तप न हो सके तो अणुव्रत जरूर धारण करना चाहिये जिससे कि नित्य प्रति नियमित रूप से सत्पात्रों को दान दिया जासके। जिसने मनुष्य जन्म प्राप्त करके कुछ पुण्य कार्य नहीं किया उसके इस जन्म से क्या लाभ ?

उपर्युक्त कथानुसार जो मनुष्य दान पुण्यादिक धर्म कार्य तथा अरहंत देव की पूजा आराधना क्रम क्रम से करते जायँगे, वे भेद विज्ञान के द्वारा शरीर और आत्मा को नीर क्षीर के समान एक दूसरे से भिन्न मानकर आत्मा को पहचान कर निश्चय से मोक्ष पद प्राप्त करके सदा के लिये सुखी हो जायँगे।

इस प्रकार की भावना प्राप्त करने के लिये पहले अपने हृदय में भगवान् के प्रति गाढ़ श्रद्धान की आवश्यकता है।

आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि मन के विकारों को

विना दूर किये मोक्ष की प्राप्ति तथा तपश्चर्या का भार नहीं उठा सकते ।

निन्नोळगाद् भक्तिगड निवृत्ति वेकुगडं विशुद्धिदिं ।
तन्निरवु भवत्मति गडांतुदुदीचे गडं बळिक्क हो ! ॥
सन्निगडं विसिल्गड भयंगड वायुसविस्यासेयु गडं ।
नन्न मनोविकारलेयनाडुवेनेनपराजितेश्वरा ! ॥ ४३ ॥

हे अपराजितेश्वर ! सब से पहले आपकी भक्ति की आवश्यकता है । सुख अथवा मोक्ष चाहिये, परिशुद्ध होकर अपनी स्वात्म-भावना में लीनता चाहिये तभी जिन दीक्षा सफल हो सकती है परन्तु जिसको इन सब बातों में भूख प्यास, गर्मी सर्दी आदि शारीरिक क्लेश दुःख रूप अनुभूत होते हैं और इंद्रियो के विषय तथा मनो विकार सताते हैं वे मनुष्य प्राणी वास्तविक सुख अर्थात् मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४३ ॥

O' Aparajiteshwar ! for liberation, firstly, devotion in you is required. Thereby being pure one should be absorbed into self-contemplation. Then only the ascetic life (Muni-Diksha) is succesful. But how can he, who feels the hunger, thirst, hot and cold as painful and is troubled by the objects of senses and passions attain to the true happiness or liberation ?
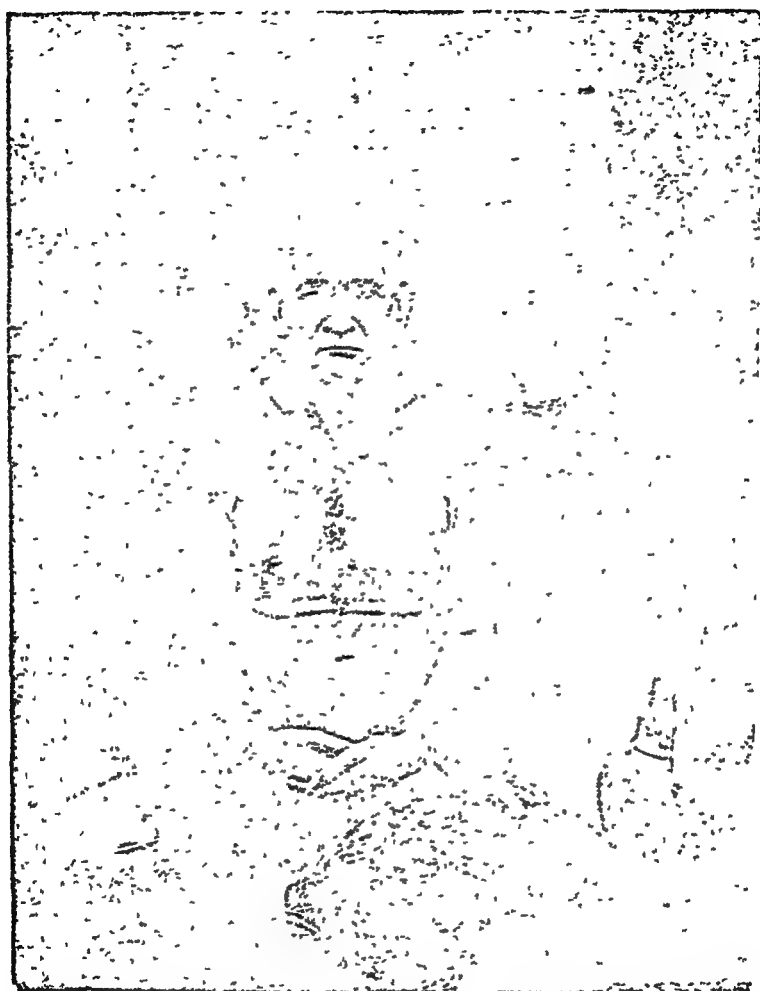
श्री १०८ श्री आचार्य कल्प श्री वीर सागरजी महाराज

विवेचनः —

ग्रन्थकार कहते हैं कि जब भगवान् अरहन्त देव के चरणों में भक्ति उत्पन्न हो जाती है तभी मोक्ष सुख के साधन की प्राप्ति, विशुद्धाचरण, धारण की हुई दीक्षा तथा मन में शान्ति प्राप्त हो सकती है, परन्तु जब तक हृदय में सच्ची भक्ति नहीं होती तब तक सुख शान्ति तथा मोक्ष पद कहाँ से प्राप्त हो सकता है ? उसके बिना तो मनुष्य को समस्त प्रकार की बाधायें भय और मनोविकार सताते रहते हैं, तो उसे सुख और शान्ति कैसे मिल सकती है ?

जब तक इस संसारी जीवात्मा की काल लब्धि नहीं आती है तब तक इन्द्रिय-वासना तथा स्पर्शन इन्द्रिय के वश विकारी होकर यह अनेक पापों को करता है और उस पाप के योग से नरकादि चारों गतियों में भ्रमण किया करता है। कभी मनुष्य जन्म धारण कर पूजा दान इत्यादि शुभ क्रियाओं को करते हुये पुण्य-संचय कर देव गति में जाता है। तत्पश्चात् वहाँ से च्युत होकर फिर मनुष्य गति में आता है। कभी पाप तथा मायाचार करने के कारण तिर्यंचादि नीच गति में जाकर अपराधी होकर विविध भाँति के दुःखों को उठाता है। इस प्रकार कभी पुरुष, कभी स्त्री तथा कभी पशु आदिक योनियों में यह जीव अपने कर्मानुसार भटकता रहता है। जब उस जीव की काललब्धि निकट आ जाती है तब सांसारिक पर पदार्थों से अरुचि उत्पन्न होकर कामादिक विकार शान्त

हो जाते हैं तथा भगवान के चरण कमलों में भक्ति व श्रद्धा उत्पन्न होकर आत्म-स्वरूप में सच्ची रुचि उत्पन्न हो जाती है और इस सच्ची रुचि के द्वारा आत्मा में निर्मलता उत्पन्न होकर मन वच काय का वेग रुक जाता है। तत्पश्चात् अशुभ कर्म की निर्जरा होने लगती है।

कोई यहां पर शंका करता है कि—अनादिकाल से आत्मा निश्चय रूप से नित्य है और पुद्गल तथा कर्म द्रव्यदृष्टि से नित्य हैं, इन दोनों का अनादि संबंध है। आत्मा अपने में रमण करता है और पुद्गल पुद्गल में रमण करता है, तो पुद्गल द्रव्य भावादि कर्मों से आत्मा को कैसे दुःख पहुँचता है ?

समाधानः—आत्मा और पुद्गल अनादिकाल से परस्पर में भिन्न होते हुये भी मित्र के नाते पानी और दूध की भांति मिले हुये एक हैं। इस प्रकार दोनों का परस्पर संबन्ध होने के कारण पुद्गल के संयोग से आत्मा का सच्चा ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप उसमें छिपा हुआ है, और पुद्गलमय कर्मों के संयोग से आत्मा मलिन तथा विकारी बना हुआ है। इन अशुद्ध कर्म परमाणुओंके द्वारा हमेशा पर वस्तुओं में राग करता हुआ अशुभ के द्वारा आने वाली कर्म वर्गणाओं को बांधता हुआ उनके संसर्ग से उसी के अधीन होकर नाचता है और अपने स्वरूप को एक दम भूल जाता है। उन दुष्ट कर्मों के निमित्त से होने वाले असहनीय दुःखों को यह जीव भोगता है और जब तीव्र वेदना होती है तब

उससे छुटकारा पाना चाहता है, परन्तु किसी सद्गुरु का समागम न मिलने के कारण उसी में पड़ा रहता है। तत्पश्चात् वह दूसरों का सहारा देखता है कि हमारी स्त्री व हमारे पुत्र, मित्र, माता, पिता तथा भाई बन्धु आदि यहां आकर हमारी रक्षा करेंगे; किन्तु उस दुर्गम स्थान में उसको सहायता करने के लिये कौन जा सकता है ? वह जीव अपने कुटुंबियों के विश्वास में पड़कर झूठी कल्पना करके मार्गभ्रष्ट हो जाता है।

अज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का अनुभव न करके इस जीव ने अनादि संतान द्वारा कर्म बांध रक्खे हैं। कहा भी है कि:—

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि ॥पंचास्ति०
१४२॥

विकार रहित शुद्ध आत्मा के अनुभव को न पाकर इस जीव ने जो अनादि संतान द्वारा कर्म बांध रक्खे हैं, जो मूर्तिक कर्म जीव की सत्ता में तिष्ठ रहे हैं, ये ही कर्म स्वयं स्पर्शादिमान होनेके कारण मूर्त्तिक होते हुये नवीन आये हुये मूर्त्तिक स्पर्शादिमान् कर्मों को संयोग रूप स्पर्श करते हैं। इतना ही नहीं वे ही मूर्त्तिक कर्म अमूर्त्तिक व अतीन्द्रिय निर्मल आत्मानुभव से विपरीत जीव के मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि परिणाम का निमित्त पाकर आये हुये नवीन मूर्तिक कर्मों के साथ अपने ही स्निग्ध रूक्ष परिणति के

उपादान कारण से एकमेक होने रूप वन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह मूर्तिक कर्मों के परस्पर वंध की विधि वताई।

अव इस मूर्तिक जीव का मूर्तिक कर्मों के साथ वन्ध क्या है उसे कहते हैं। शुद्ध निश्चय नय से यह जीव अमूर्तिक है तथापि व्यवहार नय से अनादि कर्म वन्ध की संतान चली आने से मूर्तिक हो रहा है—अमूर्तिक और अतीन्द्रिय विकार रहित व सदा आनन्दमयी एक लक्षणधारी सुखरस के स्वाद से विपरीत जो मिथ्यादर्शन व रागद्वेपादिक परिणाम हैं इन भावों से परिणमन करता हुआ यही कर्मवन्ध सहित मूर्तिक जीव उन कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलों को अपने प्रदेशों में अवकाश देता है। इसका अर्थ यह है कि यह उनको बांधता है। अर्थात यह जीव ही अपनी निर्मल आत्मानुभूति से विपरीत रागादि परिणाम द्वारा कर्मभाव में परिणत हुये कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल की वर्गणाओं से अवगाह पाता है अर्थात उनसे वंध जाता है। यहां यह भाव है कि निश्चय से अमूर्तिक है तथापि व्यवहार से मूर्तिक है इसी से जीव में कर्मवन्ध संभव है।

यह वंध कव तक होता है ?

यथा यथा न रोचन्ते, विपयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

(इष्टो०)

विषय भोगोंके प्रति अरुचिभाव ज्यों ज्यों वृद्धि को प्राप्त होते हैं त्यों त्यों योगी के स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। कोई शंका करता है कि संसार में इन्द्रियों के विषयादिक सुख अच्छे प्रतीत होते हैं, इसलिये संसारी जीव उन्हें छोड़ने की इच्छा नहीं करता है और दान पुण्यादिक धर्म कार्य करने से स्वर्ग के भोगैश्वर्य प्राप्त होते हैं, फिर आप इन दोनों सुखों से बढ़कर मोक्षमें अधिक व सर्वश्रेष्ठ सुख क्यों बतलाते हैं।

संसार संबंधी सुखमें ही सुख का आग्रह करनेवाले शिष्यको 'संसार संबंधी सुख और दुःख भ्रांत हैं'—यह बात बतलानेके लिये आचार्य कहते हैं कि:—

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥

देहधारियोंको जो सुख और दुःख होता है वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। देखो! जिन्हें लोकमें सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपत्ति (दुर्निवार, शत्रु-आदिके द्वारा की गई बेचैनी) के समय में रोगों (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह प्राणियों को आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। यही बात सांसारिक प्राणियोंके सुख दुःख के सम्बन्ध में है।

जो अज्ञानी जीव आत्म-तत्त्वसे भिन्न रहकर सर्वदा दुःख एवं जन्म मरण को उत्पन्न करनेवाले क्षणिक इन्द्रिय सुख को सुख मान कर परमार्थ को नहीं जानते हैं वे ही विषय सुखमें मग्न रहते हैं। कहा भी है कि:--

केचित् सातर्द्धिरसातिगौरवात् साम्प्रतेक्षिणः पुरुषाः।
मोहात्समुद्रवायसवदामिषपरा विनश्यन्ति ॥ ७६ ॥

(प्रशमरति०)

जो अज्ञानी परमार्थ को नहीं जानते हैं वे सांसारिक सुख, संपत्ति और इष्ट रसका स्वाद लेने में ही मग्न रहते हैं और उन्हीं की प्राप्ति का यत्न किया करते हैं। अतः वे केवल वर्त्तमान को ही देखते हैं, आगे का विचार नहीं करते। ऐसे मनुष्य अज्ञान के वशीभूत होकर मरे हुए हाथी के शरीर में गुदा मार्ग से घुस-कर मांस खानेमें आसक्त कौवे की तरह नाश को प्राप्त होते हैं। जैसे एक कौवा मांस खानेके लिये हाथी के पेट में घुस गया। जोर की वर्षा के कारण हाथी वहकर समुद्रमें जा पहुँचा। बेचारा कौवा हाथीके गुदेसे निकलकर स्थान पानेके लिये इधर-उधर उड़ा पर अन्य कोई स्थान न पाकर पुनः उसी हाथी के पेट में जा घुसा और इस तरह अन्तमें पानी में डूबकर मर गया।

इसी प्रकार विषय-सुखके लालची मनुष्य भी संसार-समुद्रमें डूब जाते हैं।

'मांस के स्वाद का लोभी' (आमिषपरा) विशेषण लगानेसे ग्रंथकार ने रसनेन्द्रिय के विषय की आसक्ति को अधिक बुरा बतलाया है। क्योंकि हिंसा किये बिना मद्य, मांस वगैरह की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे जीवात्मन्! यदि तू सच्चे सुख शांति मार्ग का पता लगाना चाहता है तो अपनी इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले विकारों को रोक दे।

कहा भी है कि:—

अक्षाश्वान्निश्चलं धत्स्व विषयोत्पथगामिनः।
वैराग्यप्रग्रहाकृष्टान् सन्मार्गे विनियोजयेत् ॥ ७८ ॥

(सारस०)

जैसे घोड़े की लगाम यदि हाथमें न हो तो वे घोड़े इच्छानुकूल कुमार्ग में घुड़सवार को ले जाकर पटक देते हैं, परन्तु यदि उनकी लगाम हाथ में हो तो घुड़सवार उन घोड़ों को ठीक मार्ग में चला सकेगा, उसी तरह विवेकी मानव का कर्तव्य है कि पाँचों इन्द्रियों को अपने वशमें रक्खे। वैराग्यरूपी लगाम के द्वारा उनको जिनेन्द्र भगवान् के कथित धर्म के भीतर जोड़ देवे। वैराग्य भावके बिना इन्द्रिय सुख की चाह कभी नहीं मिट सकती है। वैराग्य के प्रभाव से ही धर्म की उन्नति होती है, अन्यथा नहीं। आत्मसिद्धि के पश्चात् उनको अन्य बाह्य पदार्थ तथा रसनेन्द्रियोंके योग्य रसायन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

आगे ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव, आत्माका विचार कैसे करता है तथा किस वस्तुको इष्ट मानता है, सो कहते हैं:—

नालगेगावुदिच्छे तव नाम रसायनमोंदे नन्न जि—
त्तालयदोळ् बेळ्पं मणि दीप मदावुदु निन्न रूपे पो- ॥
यमालेय मेय्य भारणेय हिंगिसुवौषधि यावुदेन्न चि- ।
त्पालक निन्न मार्गद तपंगळला अपराजितेश्वरा ! ॥४४॥

हे अपराजितेश्वर ! मेरी जिह्वा को आपका वचनामृतरूपी रसायन हीं इष्ट है मेरे मनरूप मंदिर में प्रकाश करने के लिए आपका सुंदर रूपही रत्नदीपक है और अनादिकाल से साथ लगे हुए इस शरीररोग को नष्ट करने के लिए आपके मार्ग में सुचारु रूप से गमनरूप तपस्याही परम औषधहै। इससे विशेष क्या ?॥४४॥

O' Aparajiteshwar ! My tongue is satisfied only with the nectar of your words, my heart is illumined only by your beauty. To destroy the disease, this body which accompanies me from the infinite past, the path of asceticism told by you is the only medicine. What more is needed :

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि जिह्वा के लिये भगवान का नाम रूपी रसायन और मन रूपी मंदिर में प्रकाश करने वाले भगवान का रूप रूपी दीपक, अनादि से आत्मा के संग आनेवाले कर्म शरीर को नाश करने वाली तपश्चर्या इन तीनों गुणों को

प्राप्त करनेवाले जीव क्या इस संसार के अन्त को प्राप्त नहीं होंगे ? अवश्य वे थोड़े ही काल में निर्वाण के पात्र होंगे।

संसार में भगवान का नाम एक अनुपम रसायन है। रसायन का सेवन करने वाले को जिस प्रकार तत्काल रोग-निवृत्ति प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार जिह्वा को प्रभु नाम का रसायन खिलाने वाले की जिह्वा पूर्ण श्रुतज्ञान की पाठी हो जाती है, वचनबलीऋद्धि उसको प्राप्त हो जाती है, अन्तर्मुहूर्त्त में द्वादशांग का पाठ करने लगती है। भगवान के नाम की अतुल महिमा है। कल्याण मंदिर स्तोत्र में भगवान के नाम की महिमा की आचार्य ने इस प्रकारसे स्तुति की है कि:—

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिनसंस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥

अर्थ—हे प्रभु आपके स्तवन की अचिन्त्य महिमा है, सो आप का स्तवन तो दूर ही रहो केवल आपका नाम भी तीनों जगतके जीवोंकी संसार से रक्षा करता है अर्थात जीवों को संसार में गिरने से बचाता है। जिस तरह कमलों के सरोवर का पवन तो ग्रीष्मऋतु में तीव्र धूप की गरमी से तपे हुए पथिक जनों के ताप को हर कर उनको आनन्दित करता ही है परन्तु केवल जलके

सरोवर (जिसमें कमल नहीं हों) का पवन भी ज्येष्ठ के महिने की धूप से तपे हुए जीवों के तापको हरणकर प्रसन्नता तथा शान्ति देता ही है।

भावार्थ इसका यह है कि भगवान् के गुणों के स्तवन को अचिन्त्य महिमा है ही परन्तु जो गुण स्तवन न कर केवल भगवान् का नाम ही जपते हैं वे भी भवोदधि को तिरजाते हैं। अर्थात भगवान् का नाम संसार समुद्र से जीवको पार कर देता है। भगवान् के नाम की अतुल महिमा है।

अन्य आचार्यों ने भी भगवान् के नाम की शास्त्रों में सर्वत्र स्तुति की है तथा मंत्र शास्त्र में भी भगवान् के नाम को बीजाक्षरों के वीच में जोड़ा गया है। भगवान् के नाम से वडी २ विद्यायें सिद्ध हो जाती हैं, वड़े २ राज संकट व राज वंधन टूट जाते हैं। भगवान् आदीश प्रभु की स्तुति करते हुए मानतुंग स्वामी ने भक्तामर स्तोत्र में कहा है कि:—

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा।
　　　　　　गाढं वृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः ॥
त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः।
　　　　　　सद्यः स्वयं विगतबंधभयाः भवन्ति ॥

अर्थः—हे आदीश भगवन्! आपके नाम मंत्र को निरंतर स्मरण करनेवाले मनुष्यों की वड़ी २ लोहे की जंजीरें जो शरीर को

पदसे कण्ठ तक गाढ़रूप से जकड़कर बांधती हैं, क्षणमात्रमें टूट जाती हैं और वे मनुष्य बंधन रहित हो जाते हैं। इसमें भी नाम मंत्र की महिमा ही बताई गई है।

संक्षेप में ऐसा जानना योग्य है कि भगवान का नाम जपने वाले जीवोंके संसार के बंधन टूट जाते हैं और वे निर्वाण के पात्र हो जाते हैं।

दूसरे जो प्राणी चित्तमें मोहोदयसे छाये हुए अंधकार को दूर करने का विचार करते हैं वे मोह को नष्ट करनेवाले मोह विजयी अर्हंतदेव की छवि को जो असंख्य सूर्योंकी प्रभा को भी तिरस्कार करती है, चित्त में स्थापने की योजना बनाते हैं और इसकेलिये बड़े २ उद्योग करते हैं। ऋषि मुनि भी प्रभु की छवि चित्तमें सदा विराजमान रहे-ऐसी वांछा प्रकट करते हैं तथा प्रभुसे ऐसी ही याचना करते हैं। जैसे कि अमितगति स्वामी ने सामायिक पाठ में कहा है कि:—

मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव,
स्थिरौ निखाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा,
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥

अर्थः—हे भगवन् ! आपके दोनों चरण दीपक की तरह तम को नाश करनेवाले मेरे हृदयमें सदा विराजमान हों, तथा ऐसे विराजमान

हों कि मेरे हृदय में सर्वथा लीन ही हो जावें, तथा कीलित ही हो जावें, तथा सर्वथा स्थिर ही हो जावें तथा जड़ रूप ही हो जावें तथा चित्तके दर्पण में प्रतिविम्बित हो हो जावें। अर्थात् ये आपके चरण मेरे हृदयमें सदा विराजे रहें—यह ही प्रार्थना है।

सत्य तो यह है कि अन्धकार को दूर करने की शक्ति प्रकाशमें ही है, तम तमको नष्ट नहीं कर सक्ता है। इसीलिए ज्ञानी जीव मोहतम को नाश करने के लिये मोह विजयी प्रभुकी हृदय में स्थापना करने की वांछा करते हैं। जिसके हृदय में भगवान विराजते हैं उसके चित्त में से मोहतम एक दम भाग जाता है, परम शान्ति और वैराग्य की उसको प्राप्ति होती है तथा रत्नत्रय की उत्कृष्टता की प्राप्ति होती है कि जिसमे यह प्राणी कर्मों को नाश कर स्वयं भगवान वन जाता है। श्रीमानतुंग स्वामी आचार्य कहते हैं कि—

नात्यद्भुतं भुवनभूषणभूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभीष्टुवन्तः
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।

अर्थ—हे भगवन्! आपको आश्रय करने वाले जीव आपके तुल्य हो जाते हैं अर्थात् वे भगवान हो जाते हैं, परन्तु यह कोई अद्भुत वात नहीं है क्योंकि धनिक की सेवा करने वाले मनुष्य यहाँ धनवान होते देखेजाते हैं। अर्थात् सेठों के मुनीम जब

नौकरी करते २ व्यापारी बनकर सेठ हो जाते हैं तो आपका आश्रय लेनेवाले आपके तुल्य भगवान हो जावें तो इसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

सारांश इसका यह है की भगवान की ज्योतिर्मयी छवि जिसके मनरूपी मंदिर में विराजती है वह प्राणी इन्द्रियातीत केवलज्ञान-ज्योति-रूप स्वयं हो जाता है।

तीसरे तपकी प्राप्ति की अतुल महिमा है। कर्म के काष्ठ को जलाने वाली जगमें केवल एक तप रूप ही अग्नि है। तप के विना अनादि संचित कर्मों का काठ जलकर कभी नष्ट नहीं होता है। सूत्रकार भी कहते हैं कि "तपसा निर्जरा च" अर्थात् कर्मोंकी अविपाक निर्जरा तप करके होती है। तप क्या है 'कायक्लेशः तपः' जिसमें तथा जहां कायक्लेश है अर्थात् शरीर और इन्द्रियों के भोगों का त्याग है और जो त्याग सम्यक् चारित्र की वृद्धि के लिये है वह ही तप है। जहां शरीर और इन्द्रियों का आराम है वहां तप का लेश भी नहीं है। आगम में दो प्रकार का अंतरंग और बहिरंग तप कहा है और उसके भी छह छह भेद कहे हैं। उनके सबके साधन में शरीर और इन्द्रियों को पीड़ा है। जिनके हृदय में शरीर का राग है, जो मखमल के गद्दों पर उसका लालन पालन करते हैं और शरीर से तनिक भी श्रमका काम नहीं लेते हैं वे व्यवहार और धर्म दोनों को खो देते हैं। व्यवहार उनका ही अच्छा होता है जो निरन्तर धनोपार्जनादि कार्यों में शरीर से काम लेते रहते

हैं, तथा जो शारीरिक थोड़ा बहुत परिश्रम करते रहते हैं। कारण कि जो केवल गद्दों पर पड़े रहते हैं वे न धन कमा सकते हैं न घरको संभाल सकते हैं न शरीर की तन्दुरुस्ती प्राप्त कर सकते हैं। पडे २ वादी में फूलकर बेकार होजाते हैं और इसलिये व्यवहार के काम के भी वे नहीं रहते हैं। जिस तरह व्यवहार में शरीर के परिश्रम की जरूरत है उसी प्रकार धर्म की कमाई के लिये भी शरीर से काम लेने की जरूरत है। सारे धर्म वाले इन्द्रियों के तथा शरीर के भोगों के सेवन का निषेध करते हैं क्यों-कि ये पापमय हैं पाप सेवन करने से पाप का ही लाभ होता है धर्म का कभी नहीं। इसलिये इनको त्यागकर धर्म ध्यान में समय को लगाने से धर्म का लाभ होता है अन्यथा हरगिज नहीं। जो आत्मा आत्मा कहने से ही मोक्ष मानते हैं वे स्वयं भी डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं। जिनागम में कर्मों से छूटने वालों की हजारों कथायें हैं वे सब यह ही बताती हैं कि उन कर्म छेदी जीवों ने चौवीस प्रकार का परिग्रह त्याग शरीर से ममत्व त्याग परम तप तपा था। छह छह मासके कायोत्सर्ग धारण किये थे और हजारों वर्षोंतक घोर से घोर काय क्लेश तप तपा था तब मोहका नाश किया था। आगम में एक भी कथा ऐसी नहीं कि जो भोगी जीवोंको पाप कर्मों मे रत रहते हुए भी कर्मोंका नाश प्राप्त हुआ हो। वह तप शरीर से मोह छोडकर जिन मार्ग की आज्ञानुसार विशुद्ध भावों से उपवासादि करने में है, यह ही सत्य है। ऐसे आगम कथित

तप की प्राप्ति जिसको होजावे उसके चरणों को देव भी वंदते हैं और वह संसार में महान् जीव कहाता है। तपस्वी की सब सेवा करते हैं। तपस्वी को पूजते हैं। तप से जगत् में जो पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त होती है यह तो तृण समान है। साधु इसको नहीं अपनाते हैं वे तो कर्म शत्रुको नाश करने का सदा विचार रखते हैं सदा कायोत्सर्ग ध्यान में अपना समय व्यतीत करते हैं। क्षुधा तृपादि बाईस परीषह को सहते हैं तप के तपने में कभी निर्बलता नहीं दिखाते हैं। बड़ी वीरता के साथ घोर से घोर तप तपते हैं। जिसके प्रभाव से तपोतिशय ऋद्धि जिनको प्राप्त होकर अन्त में केवल ज्ञान सम्पदा प्राप्त हो जाती है। तप की महिमा वचन के अगोचर है। तपश्चर्या महान् पुरुषों की यानी मोक्षगामी जीवों की निधि है।

इस प्रकार भगवान के नामका जाप्य, भगवान की परमज्योति रूप छविका ध्यान तथा तपश्चर्या का धारण इन तीनों गुणों में से एक एक गुण ही जीवका कल्याण करने में समर्थ होजाता है, फिर जिसको ये तीनों गुण प्राप्त होजांय वह जीव तो परम निकट भव्य है। थोड़े ही काल में निर्वाण को प्राप्त होता है। इसलिये भव्य जीवों को इन गुणों को हृदय से अपनाना चाहिये और प्राप्त करना चाहिये।

तोगल पसुंबेयोळ् पोलसिनोबरि योळ् रुजेयेवं चेळ् गळा–।
पगर्विनोळिर्य वोल्तनुविनोळ्कचिदिर्दपनात्मनंवुदं ॥

चर्मेयद कापशं बर्दुकु रंजिसितल्लदे तूमिनोळ्पिनं !
नगलेडेयु'टेतुत्तिडे मनं बहुदे अपराजितेश्वरा ! ॥४५॥

हे अपराजितेश्वर ! चर्म के थैले के समान, अत्यंत मलिन सड़े हुए दुर्गंधियुक्त, घरके कोनेके समान रोगरूपी विच्छुओं से परिपूर्ण कुंड के समान इस शरीर में रहते हुये अथवा उलझे हुये इस आत्माकी स्थिति है। परन्तु जो इस प्रकार विचार करता हुआ उस महान् संकट से निकलनेकी इच्छा करता है वह हास्यास्पद नहीं होता। इस प्रकार चिंतन करने वाला मानव तो मुख में भोजन का ग्रास रखना भी पसंद नहीं करता ॥ ४५ ॥

O' Aparajiteshwar ! This sculd lives in the body which is like a leather beg, very dirty, giving decayed smell, full of the scorpions of disease like a corner of a old house. He who wants to get rid of it does not be come object of ridicule. He who meditates in this way dose not want even to feed suceh a body.

ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसे किसी गीले चमड़े की थैली में किसी अपवित्र वस्तु को रखकर दुर्गंधित अँधेरी कोठरी में रख दी गई हो उसी प्रकार मेरा यह आत्मा भी मल-मूत्र सहित रोगरूपी विच्छुओं के कुण्डमें पड़कर रोग के घर शरीर में आवरण सहित होकर छिपा हुआ बैठा है। इस प्रकार यदि यह आत्मा विचार करता रहे तो इसका कल्याण भी हो सकता है और यह हास्य का

पात्र कभी नहीं हो सकता। चाहे अनेक इन्द्रिय पोषक रसायन तथा रुचिकारक नाना प्रकार के पक्वान्न स्वरूप अमृतमय अन्नके ग्रास लेनेमें उसका मन नहीं लगता; क्योंकि वह अभी तक जो इन्द्रिय विषय वासना तथा मनोविकारादि जनक खोटी खोटी भावनाओं को उत्पन्न कर अनेक दुर्गुणों तथा मिथ्यामार्ग में डालनेवाले रसना रसके आधीन हुआ था, वह अब इन क्षणिक सुख शांति देनेवाले रसाभासों से श्रेष्ठ आत्मामृतरूपी रसायन का स्वाद प्राप्त करनेसे इसके विपरीत इन्द्रिय रसना रसको हेय तथा कटुक मान कर उससे मुख मोड़ा और सच्चे पवित्र आत्म रसायन की ओर मुख किया तथा उसी के स्वादमें रत हो गया। तब इस क्षणिक इन्द्रिय रसके स्वाद की तरफ ऐसे आत्मस्वादी ज्ञानी जीव का मन क्या कभी होगा? अर्थात् नहीं होगा। सो ही पूज्यपाद आचार्य कहते हैं कि:—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥ ३७ ॥
(इष्टो२०)

जिस जिस प्रकार से योगी की संवित्तिमें (स्वानुभवरूप संवेदन में) शुद्ध आत्मा का स्वरूप झलकता जाता है, सन्मुख आता है, तैसे २ विना प्रयास से सहजमें ही प्राप्त होनेवाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धि को पैदा नहीं कर पाते हैं। ठीक ही है, दुनियाँ में भी देखा गया है कि महान् सुख की प्राप्ति हो जाने

पर अल्प सुखके पैदा करनेवाले कारणों के प्रति कोई आदर या ग्राह्यभाव नहीं रहता है।

"जिनका मन शांति-सुखसे सम्पन्न है, ऐसे महापुरुषों को भोजन से भी द्वेष हो जाता है, अर्थात् उन्हें भोजन अच्छा नहीं लगता। फिर और विशेष भोगों की तो क्या चलाई ? अर्थात् जिन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उन्हें अन्य विषय भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं ? अर्थात् उन्हें अन्य विषयभोग रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकते। हे जीव ! देखो, जब मछली के अंगों को जमीन ही जला देने में समर्थ है, तब अग्निके अंगारों का तो कहना ही क्या है ? वे तो जला ही देंगे। इसलिये विषयों की अरुचि ही योगी की स्वात्म-संवित्ति को प्रकट कर देनेवाली है।"

स्वात्म संवित्ति के अभाव होने पर विषयों से अरुचि नहीं होती और विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर स्वात्म-संवित्ति भी बढ़ जाती है।

जिस समय ज्ञानी आत्मा की इन्द्रिय विषयोंके प्रति अरुचि हो जाती है उस समय विषय पास में रहने पर भी भोगने की इच्छा नहीं होती; क्योंकि उनकी भावना आत्मस्वरूप की ओर झुकने के कारण विषयादिक सुख उन्हें हेय मालूम होते हैं।

जिस प्रकार किसी पतिव्रता स्त्री के पति के परदेश जाने पर उसके लिये घर में खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, शृङ्गार

करने, मनोरंजन के लिये नाना प्रकार की नृत्य गायनादिकला तथा मनको लुभानेवाले अच्छे से अच्छे गुणवान् एवं रूपवान पर पुरुष के होते हुए भी उस पतिव्रता स्त्री को ये उपर्युक्त समस्त भोगैश्वर्य विषके समान लगकर उसका प्रेम अपने पतिदेव में ही प्रतिक्षण बना रहता है, इसी प्रकार आत्म रसमें लीन ज्ञानी पुरुष को, सांसारिक संपूर्ण भोगैश्वर्य हेय मालूम होकर एक परमात्मतत्त्व ही इष्ट रहता है।

इसलिये जीवको सुख शांति देनेवाला एक वैराग्य ही है। कहा भी है कि:—

अहो ते सुखितां प्राप्ता ये कामानलवर्जिता।
सद्वृत्तं विधिना प्राप्य यास्यन्ति पदमुत्तमम् ॥१२५॥
(सार०)

सुख शान्ति तभी मिल सकती है जब संतोष हो व विषयों की इच्छा न हो। जिन्होंने काम की दाह शमन करके उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत को भाव सहित धारण किया है वे ही निराकुल होने से सुखी हैं तथा वे ही मुनि धर्म की क्रियाओं को शास्त्रानुकूल विधि से पालते हैं। उनके भीतर आत्मानुभव रूप निश्चय चारित्र बढ़ता जाता है और वे शीघ्र ही कर्मों का क्षय करके मुक्त हो जाते हैं।

भोगार्थी यः करोत्यज्ञो निदानं मोह-संगतः।
चूर्णीकरोत्यसौ रत्नं अनर्घ्यसूत्रहेतुना ॥१२६॥ सार० ॥

वह मानव महा मूर्ख है जो सूत के लिये रत्न की माला में रत्नों को चूरा करके फेंक दे और केवल सूत को ले ले। इसी प्रकार वह मानव भी महा मूर्ख है जो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुये धर्म को पालते हुये आगामी भोगों की चाहना करके निदान भाव से अपने रत्नत्रय धर्म को नाश कर देवे। ये भोग रोग के समान त्यागने योग्य हैं और आत्मानन्द का भोग ही ग्रहण करने योग्य है। इसी के लिये जिनधर्म का सेवन किया जाता है। ज्ञानी मनुष्य नाशवंत संसार वर्द्धक भोगों की कभी चाहना नहीं करता है; किन्तु मुक्ति के अनुपम निराकुल सुख की भावना करते हुये ही जिनधर्म को पालता है, निदान कभी नहीं करता है।

भवरोग शरीरेषु भावनीयः सदा बुधैः।
निर्वेदः परया बुद्धयाकर्मारीति जिघृक्षुभिः ॥१२७ सारस० ॥

कर्मों को जीतने का उपाय वैराग्य भाव है, क्योंकि रागभाव ही कर्मों के बन्ध का मूल कारण है। इसलिये वीर संतों को कर्मों पर विजय पाने के लिये बड़ी बुद्धिमानी के साथ बारंबार यह मनन करना चाहिये। यह संसार असार है। चारों गतियों में जीवों को अनेक दुःख हैं। अज्ञानी को कहीं भी सुख शान्ति नहीं मिल सकती। यह शरीर क्षणभंगुर है व अत्यन्त अपवित्र है। इससे छूटना ही हितकर है। इन्द्रिय के भोग अतृप्तकारी हैं तृष्णा के बढ़ानेवाले हैं तथा विष के समान आत्मघातक हैं। जब संसार

शरीर भोगों से वैराग्य भाव होगा तभी मोक्ष मार्ग में प्रेम भाव होगा।

शरीर तथा इन्द्रियादि भोगों से विरक्त होकर सच्चा वैराग्य धारण करने से ही आत्म सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

सारांश यह है कि सांसारिक भोगोंसे विरक्त होकर इन्द्रिय और मन को वश में करने से उपयोग अपने आत्म स्वभाव के साथ क्रीडा करने लगता है। इस आत्मस्वभाव का अभ्यास जितना जितना आगे बढ़ता जाता है, उतना ही निर्वाण सुख निकट होता जाता है।

ऐसे ज्ञानी मनुष्य को शरीरादि पर पदार्थों में कभी ममत्व बुद्धि नहीं रहती तथा उनके भीतर रहने पर भी बन्ध का कारण नहीं होती और अन्त में वह पूर्ण आत्मरस का स्वाद लेकर ज्ञानानन्द समुद्र में मग्न होकर अनुपम संतोष को प्राप्त करता है।

आगे के श्लोक में यह वर्णन करते हैं कि ज्ञानी मनुष्य जन्म मरण के दुःख को विचार करके उससे घृणा तथा आत्मतत्व में दृढ़ता रखता है।

मासु मुसुंकि तायोडलोळिंतिर वपुर्दु मूत्रमार्ग दोळ्।
हेसदे वपुर्देंतु मरदोळ्मलमूत्रदोळाळुतेळुतं ॥

कूमेनिसिपुदेंतुटदनां मरेदागले ठवकु जव्वनं ।
सासदचेंदु नाच्चिदेनला मतिदोरपराजितेश्वरा ! । ४६॥

हे अपराजितेश्वर ! यह मनुष्य चमड़े से ढके हुए मांसपिंडके समान माता के पेट में रहना कैसे पंसद करता है ? उससे घृणा न करके मत्रद्वार से ही वाहर आना कैसे पंसद करता है ? उस मलमूत्रके पिंड माता के पेट में घूमना, फिरना, पड़े रहना ये सब वातें मैं माता के पेट से वाहर आते ही भूल गया और क्षणिक शरीर इंद्रिय यौवन को मैं नित्य और सुखरूप मानकर उनके विषयों में रम रहा हूँ सो मुझे इन दुःखों से मुक्ति का मार्ग वतलाइये ॥ ४६ ॥

O' Aparajiteshwar ! How does man like to live in the fleshy womb of mother ? How does he like to come out through the urinary way ? I have forgotten all that how did I move in the filthy womb after coming out of that, and I am absorbed in the sense objects, considering the youth & body as everlasting. Show me the way out to liberation.

विवेचनः— ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञानी जीव कहता है कि मैंने नवमास तक माता के उदर में वास किया, मांस की थैली का आवरण करके उसमें बैठा रहा, मल मूत्र में ही हलन चलन किया दुर्गंध पदार्थों को ग्रहण करके ही पोषित हुआ, श्वास लेने के लिये

शुद्ध हवा तक नहीं मिल सकी और अन्त में मूत्र द्वार से बाहर आकर जन्म धारण किया, परन्तु बाहर आते ही अज्ञान वश गर्भ के संपूर्ण दुःखों को भुला दिया। तत्पश्चात् मैं चंचल जवानी की तरंगों में वहकर विषयान्ध हो पापों में ही डूब गया। इसलिये हे महाप्रभो! मेरी दुर्बुद्धि को अपहरण करके आप मुझे सद्-बुद्धि प्रदान कीजिये। दुष्ट मोह की क्रिया आश्चर्य से भरी हुई है।

ज्ञानी जीव यह विचार करता है यह शरीर अनित्य और अशुचि है, इसमें अनेक दुर्गंध भरे हुये हैं। जैसे दुर्जन के साथ चाहे जितना उपकार किया जाय, किन्तु उससे कोई लाभ न होकर किये हुये सभी उपकार व्यर्थ जाते हैं, उसी प्रकार इस शरीर को चाहे जितना सुख पहुँचाओ, चाहे जिस तरह से इसका पालन पोषण करो तथा चाहे जितना इसका उपकार करो, किन्तु यह अपना नहीं हो सकता।

इसलिये इसको अधिक पुष्ट न करके केवल इसके रक्षणार्थ थोडा सा भोजन का ग्रास देकर मोक्ष साधन, केवलज्ञानादि गुणों को धारण, तथा पवित्र शुद्धात्म स्वरूप का आराधन करना चाहिये ज्ञानादि गुणों से रहित यह शरीर सप्तधातु मय होने से अत्यन्त अपवित्र है। इसलिये इससे ज्ञानादि उत्तम गुणों की प्राप्ति निर्मल वीतराग की सिद्धि तथा तप संयमादि द्वारा सारभूत आत्मतत्व की प्राप्ति करनी चाहिये।

जिस प्रकार नरक का घर अति जीर्ण तथा सैकड़ों छिद्रवाला है, उसी प्रकार यह काय रूपी घर साक्षात् नरक का केन्द्र है। इसमें सदा मल मूत्रादि महा अशुचि पदार्थ भरे रहते हैं तथा इसके नव द्वारों अर्थात् छिद्रों से मल मूत्रादि झरते रहते हैं। परन्तु आत्माराम जन्म मरणादि छिद्रों से सर्वथा रहित रहता है। भगवान् शुद्धात्मा, भाव कर्म, द्रव्यकर्म तथा नो कर्म मल से रहित हैं।

इस प्रकार शरीर और आत्मा का भेद जानकर शरीर से ममता त्यागकर निर्विकल्प समाधि में स्थिर होने के लिये निरन्तर भावना करनी चाहिये।

तीनों लोक में जितने दुःख हैं उनसे यह शरीर रचा गया है, इस लिये दुःख रूप है और आत्मद्रव्य व्यवहार नय से शरीर में स्थित रहते हुये भी निश्चय नय से देह से भिन्न निराकुल सुख स्वरूप है।

तीनों लोक में जितने पाप हैं उन पापों से यह शरीर बनाया गया है, इस लिये यह देह पाप रूप ही है तथा इससे पाप उत्पन्न होते रहते हैं, किन्तु चिदानन्द चिद्रूप अनुपम पदार्थ व्यवहार नय से शरीर में स्थित रहते हुये भी उस से सर्वथा भिन्न तथा परम पवित्र है। तीनों लोक में जितने अशुचि पदार्थ है उन सबको इकट्ठा करके शरीर का निर्माण किया गया है, इसलिये यह शरीर

महा अशुचि है और आत्मा देह में विराजमान होते हुये भी देह से पृथक् तथा अत्यन्त निर्मल है। इस प्रकार हे आत्मन्! तुझे शरीर और आत्मा का भेद जानकर निरन्तर आत्म कल्याण की भावना करनी चाहिये।

गर्भ के दुःखः—

ज्ञानी इस प्रकार का विचार करता है कि हे आत्मन्! तू ने अनादि काल से लेकर आज तक नाना प्रकार के दुःख भोगे, अनेक योनियों में जन्म लेकर नाना भाँति के दुःख सहन किये तथा अनेक शरीर धारण करके उन्हें छोड़ भी दिये हैं। इसलिये यहाँ पर संक्षेप में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि जीवों का यह शरीर ही पूर्ण आपदाओं का मूल कारण है। इस आत्मा के साथ जब तक शरीर का सम्बन्ध और स्नेह रहेगा तब तक दुःख भोगने ही पडेंगे। इसलिये इसका सम्बन्ध और स्नेह छोड़ना ही तेरे लिये हितकारक होगा। आत्मानुशासन में कहा भी है कि:—

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्तः प्रतीच्छन्।
कर्मायत्तं सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्ध्या॥
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो।
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्विभेषि॥ ९९॥

उदर एक मल मूत्र का कुंड है। उस कुंड में आयु कर्म के आधीन हुए तैंने बहुत से समय तक वास किया है। उस समय तुझे भूख प्यास के दुःख भी अत्यन्त सहने पड़े हैं। वहाँ रहते हुये

भी तेरी तृष्णा कम नहीं हुई। शरीर बढ़ाने पोसने की लालसा बढ़ती ही गई। माता ने जो खाया पिया उसकी सदा तू यह इच्छा करता रहा कि मेरे फाड़े हुये मुख में यह अन्न जल आकर पड़ें। गर्भाशय का स्थान छोटासा रहनेसे कभी तुझे वहां हलने चलनेको भी मौका नहीं आया। पेट में अनेक प्रकारके जन्तु उत्पन्न होते हैं और रहते हैं वहीं पर तू रहा। जन्मते समय तुझे और भी अकथनीय क्लेश सहने पड़े हैं। इन सब दुःख से तू डर चुका है। मरण होगा तो उसके आगे फिर जन्म भी धारण करना ही पड़ेगा। और प्राणी! यह समझकर ही मालूम पड़ता है कि तू मरने से डर रहा है।

हे आत्मन्! तुमने अनादि कालसे एक सागरोपम समुद्र का जल एक एक बूँद करके किसी दूसरे सागरोपम समुद्र में डालकर समाप्त कर देने से बूँदों की जो संख्या होती है ऐसे अनन्तानन्त जन्म धारण किये तथा कठिन से कठिन वेदनाओं को सहते हुये उससे भयभीत नहीं हुये, तो फिर इस एक शरीर में मोहित होकर इससे पुरुषार्थ करके आत्म कल्याण अर्थात् परम अविनाशी शाश्वत पद प्राप्त करने के लिये क्यों भयभीत हो रहे हो? तू ने नाशवान् वस्तु के लिये अनेक यत्न किया तथा विविध भांति का दुःख प्राप्त किया, किन्तु अविनाशी परम पद के लिये जरा भी ध्यान नहीं दिया यह तेरी कितनी मूर्खता है!

हे जीवात्मन्! यदि बाह्य पर-पदार्थों के त्यागने से तुझे अखंड अविनाशी-शाश्वत सुख प्राप्त हो जाय, तो पर वस्तुओं का त्याग

क्यों न किया जाय? देखो, महान् महान् तीर्थंकर चक्रवर्त्यादि जब अपने तीर्थंकर आदि पद को क्षणिक व घृणित समझकर उसे त्याग कर उसका ध्यान लेशमात्र स्वप्न में भी न करके आगमानुकूल आचरण करते हुये घोरातिघोर तपश्चर्या करके आत्म रस में रत हुये तभी उन्हें मोक्ष पद प्राप्त हुआ। इसलिये हे आत्मन्! तू भी शरीरादि मोह पिशाचों से स्नेह छोड़कर आत्म रसायन रस में रत होकर आत्म-कल्याण करके सुख शांति का निधान मोक्ष पद प्राप्त करले।

आगे आत्मनन्द रस में लीन ज्ञानी जीव की क्रिया का वर्णन करते हैं।

पगेय वशक्के सिल्कि सेरेयिर्द महानुभवंगे निद्रे ता।
नोगेवुदो भोगदिच्छेये त्रिडायवे मच्चरबुटे दिव्ययो॥
गिगे रिपुमोहमं जयिसि मेय्सेरेयं कळचंदु जोकेयु—
ज्जुगवदे चिंतेयैसे पेर्तोंदिहुदे अपराजितेश्वरा!॥ ४७॥

हे अपराजितेश्वर! जैसे शत्रुके हाथमें जाकर कारागार (जेल) में जकड़े हुए मनुष्य प्राणी को सुख निद्रा नहीं आ सकती है वैसे ही श्रेष्ठ योगी को श्रुतज्ञान के द्वारा मोह को जीतकर शरीर संबंध को हटाते समय विषय भोगोंके भोगने की इच्छा नहीं होती और न उसको मान सम्मान बड़ाई आदि की इच्छा होती क्योंकि वे विवेकशील योगी निरंतर जागृत अवस्था में ही रहते हैं। वे आत्म-चिंता के अतिरिक्त कोई दूसरी चिंता नहीं करते॥ ४७॥

47. O, Aparajiteshwar ! As a brave man can not sleep in the prison of the enemy so a man, who has come over delusion by Sruta-Jnana (scriptural knowledge), can not take a fancy of enjoying the sense objects being encaged in the body. He does not have a desire for fame & respect too. The intelligent yogi is always awake. He harbours only spiritual thoughts.

विवेचनः—ग्रंथकार कहते हैं कि शत्रुके वश होकर कारागार में पड़े हुये मनुष्य को जैसे रातमें नींद नहीं आती, इसीप्रकार शरीर सम्बन्ध को नष्ट करने के लिये मोहरूपी शत्रुको जीतकर श्रेष्ठ योगी की इच्छा क्या कभी भोग में होगी ? क्या वे कभी अपनी प्रतिष्ठा, कीर्ति, ख्याति, लाभ, पूजा तथा गर्व आदि बाह्याडम्बरों से प्रसन्न होंगे ? कभी नहीं। इनके मनमें संसार से जागृत (सावधान) होकर कर्मशत्रुको नाश करने के अतिरिक्त अन्य कोई विचार नहीं उत्पन्न होता। जंगल में व्याघ्र के पंजे में फँसा हुआ हरिण भाग्योदयसे छुटकारा पाकर अपना प्राण बचानेके लिए भागता हुआ सदा किसी गुप्त ऐसे स्थान का आश्रय ग्रहण करता है कि जहाँ उसके प्राण घातक शत्रु न पहुँच सकें। तत्पश्चात् वह हमेशा अपने शत्रुसे सचेत व भयभीत रहकर कभी उसके स्थान की तरफ अपनी दृष्टि नहीं डालता है, तो क्या फिर वह अपना प्राण प्रत्यक्ष देने के लिये कभी व्याघ्र की गुफा के सामने खड़ा

होना पसन्द करेगा ? कदापि नहीं। इसी तरह संसार शरीर और भोग से भयभीत होकर, क्षणिक सुखसे मुँह मोड़कर तथा अनन्त-काल पर्यंत दुःख देनेवाले अत्यंत भयंकर संसार सागर से दूर हट-कर आत्मरसायन से तृप्त हो आनन्द सागर में मग्न रहनेवाले सच्चे साधु क्या कभी इन्द्रियजनित भोग की इच्छा करेंगे ?

सार समुच्चय में भी कहा है कि:—

इन्द्रियाणां जये शूराः कर्मबन्धे च कातराः ।
तत्त्वार्थाहितचेतस्काः स्वशरीरेऽपि निःस्पृहाः ॥२१४॥
परीपहमहारातिवननिर्दलनक्षमाः ।
कषायविजये शूराः स शूर इति कथ्यते ॥ २१५ ॥

(सार समु०)

महाव्रती निर्ग्रंथाचार्य, उपाध्याय साधु संसार से परम वैरागी, जितेन्द्रिय, तत्त्वके अभ्यासी, परीपहों के जीतनेवाले, वीतरागी होते हुए उत्तम ध्यान का अभ्यास करते हैं जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है और आत्मा की शक्ति बढ़ती जाती है। वे ही सच्चे वीर योद्धा हैं। शरीरादि बाह्य वस्तु का ध्यान न रखकर धर्मतत्त्व को अपनाकर भ्रमर के समान आत्मा में रमण करने वाले सच्चे साधु की इच्छा इन्द्रिय भोगों में कभी होगी क्या ? कदापि नहीं।

कहा भी है कि:—

देहे निर्ममता गुरौ विनयता नित्यं श्रुताभ्यासता ।
चारित्रोज्ज्वलता महोपशमता संसारनिर्वेगता ॥

अंतर्बाह्य परिग्रहत्यजनता धर्मज्ञता साधुता ।
साधोः साधु जनस्य लक्षणमिदं संसारविच्छेदकम् ॥

शरीर से ममत्व रहित, गुरुजनों में विनय, शास्त्राभ्यास में सदा रत, सच्चारित्रों से सदा सुशोभित, अधिक उपशम भाव से युक्त, संसार से विरक्त, बाह्य और आभ्यन्तर संपूर्ण परिग्रहों से रहित, दशधर्म सहित, सच्चे धर्म मार्ग में जागृति और साधुगुणों से युक्त ये सभी गुण भव परंपरा को नाश करने के कारण सच्चे साधुओं के लक्षण हैं।

अवद्य मुक्ते पथि यः प्रवर्तते प्रवर्तयत्यन्यजनं च निस्पृहः ।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम् ॥

निर्दोष मार्ग के अनुसार आचरण करने में निष्णात, दृढ़तर रहनेवाले, प्रतिफल की अपेक्षा रहित, दूसरों को उसी मार्ग में लगानेवाले, अपना हित तथा मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले, सद्गुरु की आराधना आत्मकल्याण चाहनेवाले भव्य पुरुषों को सदा करनी चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त गुणों से भूषित गुरु स्वयं संसार सागर से पार होकर दूसरों को भी पार कराने में समर्थ होते हैं।

ऐसे साधु सदा संसार सम्बन्धी इन्द्रियजनक भोगोपभोग वस्तुओं से अलग रहते हैं। भोग सामग्री सामने रहने पर भी उनका मन तिल मात्र भी उसमें नहीं लगता, वह तो सदा आत्मिक सुखामृत में ही लीन रहा करता है। ये साधु पंच महाव्रत, पांच

समिति, पांच इन्द्रिय निरोध तथा अखंड निर्दोष ब्रह्मचर्यव्रत के धारी होते हैं। इस प्रकार के नियम धारण करनेवाले साधु यम व्रती कहलाते हैं।

गृहस्थाश्रम के पश्चात जो साधु हुये हैं वे यद्यपि दीक्षा कालके पूर्व गृहस्थाश्रम में रहने पर इन्द्रियादिक भोग भोगते हुये सुन्दर स्त्रियों के साथ रमण व क्रीडा करते थे तथा मन में क्रोध, मान, माया, तथा लोभादिक कषाय विद्यमान रहने के कारण लज्जा तथा विकारादि वासना भी उनमें उत्पन्न होती थी, तथापि उन वस्तुओं से पूर्ण घृणा हो जाने के बाद वे पुनः उन पर भूलकर भी अपनी दृष्टि नहीं डालते। जिस प्रकार मक्खी पेट में घुस जाने पर मनुष्य तुरन्त ही उसे उद्वान्त करके बाहर निकाल कर उसे कभी नहीं ग्रहण करता उसी प्रकार साधु राग रूपी मक्खी के उगलने पर कभी भूलकर भी सांसारिक वस्तुओं पर दृष्टि नही डालते और न कभी उसे उपयोग में ही लाते हैं।

संसार मे जिनको वैराग्य उत्पन्न होगया है ऐसे साधु, सांसारिक विषय वासना, कषाय काम विकार, लज्जा, भोगोपभोग मिथ्यात्व तथा इन्द्रिय वासनाके निमित्त संपूर्ण परिग्रहादि को मन, वचन, काय से त्यागने अर्थात् वमन करने के पश्चात् क्या उसे पुनः ग्रहण करेंगे? कदापि नहीं!

जब वे सभी प्रकार के बाह्य और अन्तरंग परिग्रहों से रहित हो जाते हैं तब वे तीन महीनेके बालकके समान निर्विकारी दिगं-

वर हो जाते हैं। तत्पश्चात् जैसे छोटा बच्चा अपनी माँ तथा अन्य स्त्रियोंके बीच में खेलता कूदता है, उनकी गोद में जा बैठता है और सभी स्त्रियोंके चूसने-चाटने व प्यार करने पर भी उसके मन में लेशमात्र भी विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु भी नवजात बालक के समान आचरण करते हुए आत्मध्यान में रत रहकर संपूर्ण स्त्रियों को माता बहिन व पुत्री मानते हैं तथा उनके मनमें कभी किंचित्‌मात्र भी मनोविकार न होकर यहाँ तक ध्यान नहीं रहता कि कौन स्त्री किस प्रकार की है?

जब वे आहार करने के लिये जाते हैं तो भी उनकी मनोवृति अपने आत्मा की ओर रहती है। उनकी चर्या को गोचरी वृत्ति कहते हैं। जिस प्रकार गाय घर में जाकर चारा देने वाले पुरुष, स्त्री, काली, गोरी, कुरूपा तथा सरूपा आदि का कुछ भी ध्यान न करके शान्ति पूर्वक भोजन ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार महाव्रती निर्गन्थ दिगंबर साधु भी चर्या के समय पवित्र श्रावक के घर जाकर स्त्री, कन्या, युवती, कुरूपवती तथा रूपवती आदि का कुछ भी ध्यान न रखकर केवल हाथ में पड़े हुये विशुद्ध ग्रास को शान्ति पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, तथा आहार ग्रहण करते समय आहार में केवल शुद्धि का ध्यान रखकर सरस नीरस, सूखा तथा रुखा आदि की कुछ भी परवाह न करके लोलुपता के विना आहार ग्रहण करके शान्तिपूर्वक चले आते हैं। उनके मनमें इस बात का बराबर ध्यान बना रहता है कि कहीं किसी गरीब श्रावक के मन में आहार देते

समय उत्तमोत्तम पदार्थ के अभाव में कुछ चिन्ता न हो जाय। इसी लिये वे सभी आहार को समान रूप से ग्रहण करते हैं। आहार दान देते समय दाता अपने घर में आये हुये साधु को विनय, भक्ति आदि सात गुणों से युक्त होकर बड़ी भक्ति के साथ आहार दान देते हैं तथा स्त्रियां उन्हें छोटा बच्चा जो कि बोलनेमें असमर्थ रहता है उसके समान जानकर निर्विकार चित्तसे नवधा भक्ति पूर्वक बड़ी भक्ति से आहार देती हैं और अन्त में वे पुण्यरूप स्त्रियां पुण्यभागिनी बन जाती हैं। ऐसी धर्मपरायण स्त्रियां गृह लक्ष्मी तथा स्त्रियों में सर्व शिरोमणि कहलाती हैं। रयणसार में भी कहा है कि:—

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिच्चा।
गब्भभवेव्वमादा वि दु वा णिच्चं तहा णिरालसया॥२५॥
(रयणसारे)

जिस प्रकार माता पिता अपने गर्भ से होनेवाले बालक का भरण पोषण लालन पालन और सेवा शुश्रूषा तन मनकी एकाग्रता और प्रेम भाव से करते हैं, सर्व प्रकार से बालक को सुरक्षित रखते हैं, इसी प्रकार सुपात्रकी वैयावृत्य सेवा शुश्रूषा आहार पान व्यवस्था निवास स्थान आदिके द्वारा पात्र की प्रकृति काय क्लेश वातपित्त आदि व्याधि और द्रव्यक्षेत्रकाल के उपद्रवों को विचार कर करनी चाहिये।

विशेषार्थ:—यदि सुपात्र (मुनिमार्ग) सुरक्षित है तो धर्म सुरक्षित है। मुनिमार्ग के नष्ट हो जाने पर धर्म का सर्व प्रकार से

लोप हो जाता है। गृहस्थ धर्म की स्थिरता भी मुनि मार्ग पर ही अवलंबित है। जिन शासन का प्रकाश मुनि मार्ग से ही है इस लिये जिस प्रकार से हो सके सर्व प्रकार के प्रयत्नों से मुनि मार्ग स्थिर करना चाहिये, मुनि मार्ग को बढ़ाना चाहिये तथा सर्व प्रकार की आपदाओं से सुरक्षित और निराकुल बनाना चाहिये।

तीर्थंकरों की परंपरा से आचार्यों ने धर्म की स्थिरता कर रक्खी है और वह धर्म आज इस पंचम काल में भी सच्चे मुनियों के द्वारा ही सुरक्षित है तथा भविष्यकाल में भी इसी प्रकार सुरक्षित रहेगा। मुनियों के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा सुरक्षित नहीं रह सकता। पंचम काल के अंततक मुनि रहेंगे। जिस दिन मुनि धर्म का लोप होगा उसी दिन निश्चित रुप से इस क्षेत्र में धर्म उठ जायगा। आचार्यों ने यह भी बतलाया है कि धर्म दक्षिण में रहेगा, मुनि भी दक्षिण में ही होंगे तथा धर्म और मुनियों की रक्षा अधिकांश में स्त्रियों के द्वारा ही होगी।

महान महान तीर्थंकरों, मुनियों तथा महात्माओं को जन्म देने वाली अथवा उनकी रक्षा करने वाली स्त्रियाँ सामान्य नहीं हैं। ऐसी स्त्रियों ने मोक्ष मार्ग को सुरक्षित प्राप्त करा देने का सामर्थ्य एवं मुनियों को दान देकर मोक्ष मार्ग को सुलभ किया है।

विद्वानों का ही नहीं बल्कि आचार्यों का भी मत है कि मुनियों से स्त्रियों को सात हाथ दूर रहना चाहिये; परन्तु यह सब ऐसे स्थान की बात है जहां मुनि अकेला हो और एकान्त स्थान हो। यह व्यवस्था प्रत्येक समय के लिए नहीं है। यदि कोई साधु अकेले

हों और स्त्री भी अकेली हो तो ऐसी अवस्था में सात हाथ दूर रहकर दर्शन करना चाहिये "यह एक व्यवहार मार्ग है" जिससे यह प्रयोजन है कि कभी साधु अकेला हो और अकेली स्त्री दैवयोग से वन्दना करने के लिये चली जावे तो उनसे सात हाथ, उपाध्याय से छः हाथ और आचार्य से पाँच हाथ दूर रहे। इसका यह अर्थ नहीं है स्त्री मुनि को आहार दान न दे। स्त्रियों द्वारा मुनियों को आहार देने के सैकड़ों उदाहरण हैं। मुनि बालकवत् निर्विकार होते हैं। निर्विकारता की परीक्षा नग्नत्व में ही होती है। अतः निर्ग्रन्थ नग्न वीतराग साधुओं में काम विकार की कल्पना अथवा संदेह मानकर स्त्रियों द्वारा आहार दान देने का भी विरोध करना अविवेक की पराकाष्ठा है।

श्रावक और श्राविका के षट्कर्म समान हैं। जिनाभिषेक, जिनपूजा, गुरुओं की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और पात्र-दान का जितना अधिकार पुरुषों को है उतना ही स्त्रियों को है। मनुष्य पर्याय के दो चिन्ह हैं:— पुरुष और स्त्री। ये दोनों ही द्विजाति (द्विजन्मा-ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) हों तो चाहे किसी भी चिन्ह में श्रावकीय षट्कर्म के अधिकारी हैं। स्त्री को मुनिदान से वंचित करनेवाला कोई चरणानुयोग में प्रमाण नहीं मिलता। प्रत्येक मनुष्य अपने अपने पर्याय तथा चिन्ह के अनुसार इन षट्-कर्मों को करने का अधिकारी है। यदि स्त्रियों को मुनिदान का अधिकार न माना जाय तो अन्य स्वाध्याय तप आदि का भी अधिकार नहीं होता; परन्तु स्त्रियों में आर्यिका क्षुल्लिका सभी होती

हैं। तपस्या होती है, संयमासंयम पाँचवाँ गुण स्थान होता है। आर्यिका को तप की दृष्टि से ऐलक तक नमस्कार करता है। इस लिये जो अविवेकी लोग स्त्रियों द्वारा मुनि को आहारदान देने का विरोध करते हैं, वे या तो अविवेकी हैं या उनकी यह इच्छा है कि मुनि भूखों मर जाय; क्योंकि स्त्रियाँ ही भोजन बनाती हैं। जब स्त्रियों के हाथ का मुनि भोजन लेंगे नहीं और पुरुष भोजन बनायेगा नहीं; तब अपने आप मुनि भूखों मर जायँगे। यही वे लोग चाहते हैं; परन्तु अभी पंचम काल में अधिक समय शेष है।

साधु की संगति से महान् पापी स्त्रियों तथा पुरुषों का कल्याण हो गया है, यह शास्त्र प्रसिद्ध बात है। यदि किसी साधु को चारित्रमोहनीय कर्म का उदय हो जाय तो वह स्त्रियों से रहित होकर चाहे पहाड़ की चोटी पर ही चला जाय; किन्तु वहाँ पर भी उसका चारित्र मनोविकारके दूर हुये विना, सुरक्षित नहीं रहेगा। इसी प्रकार यदि कोई कुलटा (व्यभिचारिणी) स्त्री है तो वह साधन न मिलने पर भी मनसे तो दूषित ही रहेगी। परन्तु जिनका मन परम विशुद्ध होकर योग में निरन्तर रमण किया करता है, जो कनक, कामिनी और कांचन आदि को तृणवत् समान देखते हैं ऐसे निर्विकारी साधु के मन में स्त्री, रमणी, अप्सरा, सुन्दरी, मनोहारिणी तथा कामिनी आदि की किंचिद् मात्र भी भावना नहीं उत्पन्न होती। अर्थात् जिनका मन निर्मल है उनके लिये सभी समान हैं। इस प्रकार परम निर्मल भाव से जो स्त्रियाँ भक्ति पूर्वक मुनियों को आहार दान देकर उनकी सेवा करती हैं उनके मनमें भी किसी

प्रकार का किंचिद् विकार नहीं होता।

देखो, जिस समय विजय नगर में मुनिराज चर्या करने के लिये पधारे थे, उस समय शील शिरोमणि लीलावती देवी उन्हें पड़गाकर अपनी भोजनशाला में ले गई तथा नवधा भक्ति के साथ पाद प्रक्षालन व पूजन करके जब अहार दे रही थी तब अचानक ही मुनिराज की आंख में एक छोटा सा तिनका पड़ गया और ऐसा होजाने से अहार ग्रहण करने में उन्हें कुछ तकलीफ होने लगी। तत्पश्चात् लीलावती देवी ने अपनी जिह्वा से आँख के तिनके को निकाल दिया। यह बात पुण्याश्रव कथा कोष में प्रसिद्ध है। और भी श्री नयसेनाचार्य ने अपने धर्मामृत ग्रन्थ में निर्विचिकित्सा अंग के कथन में वर्णन किया है कि—जब वैशाख नामक स्वर्गीय देव प्रभावती रानी के सम्यक्त्व की परीक्षा करने के लिये राजा उद्दायन के आँगन में कृत्रिम मुनि के वेश में महा दुर्गंधकुष्ठ रोगी का शरीर धारण करके गये। उस समय राजा उद्दायन अपनी प्रभावती रानी सहित बड़ी भक्ति से मुनिराज को अपने भोजनालय में ले जाकर एक उच्चासन पर विराजमान किया तत्पश्चात् उनका पाद प्रक्षालन व पूजन करके नवधा भक्ति पूर्वक विशुद्ध अहार मुनिराज को दिया। मुनिराज ने आहार ग्रहण किया हुआ संपूर्ण पदार्थ रानी प्रभावती के ऊपर उद्वान्त कर दिया। एक तो मुनिराज के अंग से कुष्ठ रोग के जर्जरित होने के कारण पहले से ही बड़ी दुर्गन्धि निकल रही थी और दूसरे ऊपर से उद्वान्त कर देने पर यदि कोई साधारण स्त्री होती, तो वह घृणा करने लगती,

परन्तु शील शिरोमणि आदर्श महिला रानी प्रभावती देवी ने मन में जरा भी संक्लेश या ग्लानि न करके अपने कपड़े उतार कर तुरन्त दूसरे कपड़ों को पहन लिया तथा अपना आहार मुनिराज के उदर में से वमन हो जाने के कारण आत्म-निन्दा करती हुई मुनिराज के शरीर पर पड़े हुये लार व थूक को गरम पानी से धो डाला और उसके बाद अपने कपड़े से उनका शरीर पोंछकर साफ़ कर दिया। तदनन्तर उनका पैर दबाती हुई कहने लगी कि महाराज ! यह शरीर सप्त धातुमय नसों और हड्डियों से गुँथा हुआ महान् अमंगल है। इसलिये इस शरीर से शुद्धात्मा की प्राप्ति करना चाहिये। इस प्रकार प्रभावती रानी कह ही रही थी कि उस बनावटी रूप को तत्त्तण बदलकर वह देव अपना वास्तविक रूप धारण करके प्रभावती रानी के सम्यक्त्व की प्रशंसा करता हुआ देवलोक को चला गया। यदि स्त्रियों को मुनि सेवा करने से पाप होता, तो ऐसी २ शील शिरोमणि स्त्रियों ने मुनियों की सेवा क्यों की ? क्या वे इस बात को नहीं जानती थीं ? अवश्य जानती थीं। अधिकांश में वे पढ़ी लिखी विदुषी धर्म शास्त्र की पंडिता थीं। अभिप्राय यह है कि स्त्रियों को किसी ऐसे ही प्रसंग के आने पर मुनियों का स्पर्श करने से भी पाप नहीं होता है। आहार के समय भी स्त्रियाँ अपने बच्चे की भाँति आवश्यकता तथा विशेष परिस्थिति में हर तरह से मुनि सेवा कर सकती हैं।

इसी प्रकार चेलना देवी ने उपगूहन अंग के द्वारा एक मुनिराज के दोष को छिपा दिया था, यह बात हरिषेणाचार्य के कथा

कोप में प्रसिद्ध है।

एक समय इस वसुधातल पर पाटली पुत्र नामक नगर में अनेक विद्वज्जन निवास करते थे। इस नगर का शासक राजा विशाख था, जिसने बहुत प्रसिद्ध होकर अपनी तलवार से अपने समस्त शत्रुओं का संहार कर दिया था। विशाख की प्रिया का नाम विशाखा था। उसके नेत्र कमलदल के समान, हाथ पद्म के समान तथा मुख कमल के समान अत्यन्त सुन्दर थे। दोनों की बहुत दिन से अभिलाषा थी कि कोई पुत्र होजाय, सौभाग्यवश कुछ दिनों के पश्चात् उनके एक पुत्ररत्न उत्पन्न होगया। दोनों को अपार हर्ष हुआ तथा पुत्र का नाम वैशाख रक्खा गया। वैशाख बड़ा विनीत तथा गुणों का समुद्र था। उसकी कीर्ति अखिल विश्व में व्याप्त हो चली थी। कुछ दिनों के पश्चात् वैशाख ने कनक श्री के साथ विधिवत विवाह कर लिया। कनक श्री का वर्ण और शरीर की छवि भी तपे हुये सोने के समान सुन्दर थी।

एक दिन की बात है कि वैशाख अपने उन्नत मकान पर बैठा हुआ अपनी नवोढ़ा पत्नी कनक श्री के साथ वार्तालाप करता हुआ उसे अलंकृत कर रहा था। इतने में इसके बाल-मित्र मुनिदत्त मुनि आहार के लिये इसके यहां आ पहुँचे।

कुमार ने जैसे ही मुनिराज को देखा, वह प्रिया के पास से उठकर चल दिया। मुनिराज के सामने आते ही उसका शरीर आनन्द और भक्ति से भर उठा। उसने भक्ति पूर्वक मुनिराज को नमस्कार किया और अपने भवन में लेजाकर अनेक प्रकार का

आहार कराया।

मुनिराज आहार करके कुमार के घर से चल दिये और पीछे से कुमार भी पत्नी को पूछकर इनके साथ चल दिया। वैशाख को वोध हुआ कि संसार असार है, शरीर रोगी और नश्वर है। इसलिए उसने शीघ्र ही मुनिदत्त के पास से दीक्षा ले ली। इधर जब कनक श्री को मालूम हुआ कि वैशाख मुनि होगया है तो उसे बड़ा संक्लेश हुआ। उसकी बुद्धि भ्रष्ट होगई और अन्त में वह मरकर व्यन्तरी हुई।

व्यन्तरी को विभङ्गावधि से वैशाख के विहार का पता चल गया और उसे वैशाख पर बड़ा क्रोध आया। उसने कहा कि—यह क्रूर मुझे भर जवानी में छोड़कर मुनि हो गया। इसे लज्जा नहीं आई! अब देखती हूँ, मेरे क्रोध के सामने यह कैसे तप करता है।

वैशाख मुनि महीनों के उपवास से खिन्न थे, अकेले विहार करते थे और जब आहार के लिये वे जाते तो उस समय वह व्यन्तरी विक्रिया से उनका पुरुषाकार बढ़ा देती। मुनिराज को उपसर्ग हो जाता और वे आहार नहीं लेते। इस प्रकार उपवास करते करते महा तपस्वी मुनि को एक महीना वीत गया।

एक दिन विहार करते हुये वैशाख मुनि पारणा के लिये राज गृह नगर में आये। चेलना ने देखा कि उसके मकान के आँगन में उपवास से परिश्रान्त एक मुनिराज आये हैं। वह उठकर खड़ी
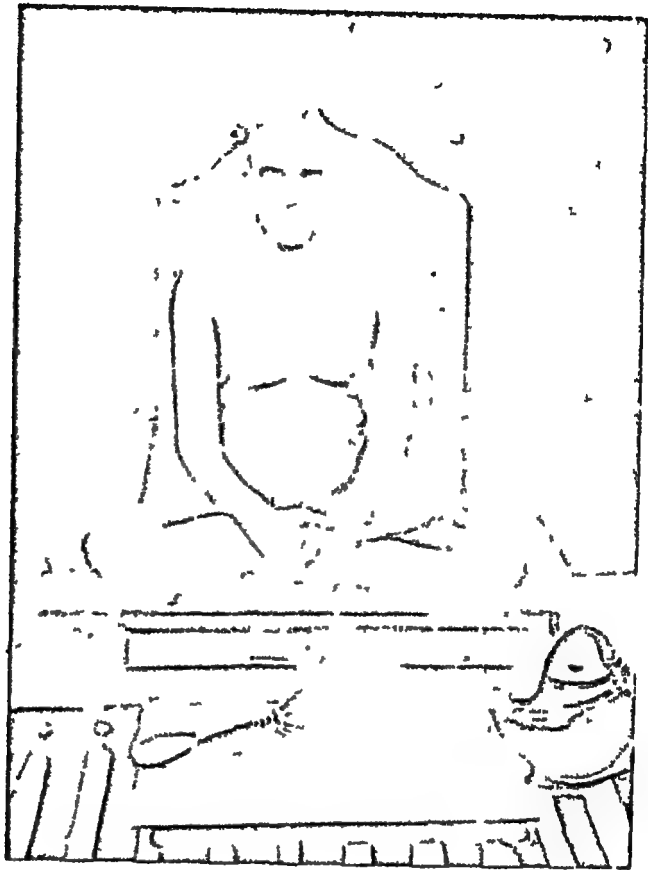
श्री १०८ श्री आचार्य श्री पायसागरजी महाराज

हो गई और मुनिराज को पड़गाह लिया। इसके बाद जब व्यन्तरी ने देखा कि मुनि पारणा लेने तैयार हो गये हैं तो उसने उनकी इन्द्रिय बढ़ा दी।

चेलना ने देखा कि मुनि पर उपसर्ग आ गया है, उसने तुरन्त भक्ति पूर्वक एक कपड़े का पर्दा कर दिया, जिससे लोग मुनिराज का अवर्णवाद न करें। वैशाख ने आहार ले लिया, किन्तु उनके मन में तीव्र वैराग्य हुआ। चेलना ने वैशाख की बड़ी वन्दना की और वे वहाँ से चल दिये।

वैशाख मुनि विपुलाचल पर्वत पर पहुँचे। वहां उन्होंने ध्यान के द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर दिया और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इस कथानक का सार यह है कि उन वैशाख मुनि के ऊपर आये हुये उपसर्ग को महासती चेलना देवी ने किस प्रकार दूर करके आहार दिया और उन्होंने उपसर्ग विजय के बल से अन्त में केवलज्ञान प्राप्त किया। क्या यह चेलना देवी स्त्री नहीं थी ? जैन शास्त्रों में मुनियों को आहार देकर उनकी देख भाल करने के ऐसे अनेकों उदाहरण मिलेंगे। इसलिये प्रत्येक प्राणी को मुनि धर्म की रक्षा वात्सल्य पूर्वक सदा अपना कर्तव्य समझकर करनी चाहिये।

इसी प्रकार आज इस पंचमकाल में शीलवती स्त्रियाँ अब भी विद्यमान हैं। यदि ऐसी शीलवती धर्म परायणा स्त्रियाँ न हों, तो मुनि धर्म चलना नितान्त कठिन हो जाय।

इस प्रकार शास्त्रों के अनेक उल्लेखों का दिग्दर्शन करने पर भी कुछ धर्म विध्वंसक देव गुरु शास्त्र द्रोही नास्तिकों का

कहना है कि—इस पंचमकाल में मुनि नहीं होते हैं तथा धर्म शास्त्रों की रचना भट्टारकों ने कर रक्खी है. इसलिये इसे पढ़ना या सुनना दोनों पाप हैं। इस प्रकार धर्म शास्त्रों की अवहेलना करके अपना कपोल कल्पित शास्त्र रचकर धर्म द्रोही विद्वानों ने धर्म और साधु मार्ग को गिरा दिया तथा उनकी निन्दा करने में भी किसी प्रकार की कसर नहीं उठा रक्खी।

परन्तु तीर्थंकर भगवान् के वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकते क्योंकि उन्होंने कहा है कि पंचम काल पर्यन्त मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रहेंगी तथा जैन धर्म विद्यमान रहेगा। षट प्राभृत में कहा है कि—

जिणमग्गे पव्वज्जा छहसंघयणेसु भणिय णिग्गंथा।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया॥
जिनमार्गे प्रव्रज्या षट् संहननेषु भणिता निर्ग्रन्थाः।
भावयन्ति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता॥

(५४ षट प्राभृते बोध०)

जिणमग्गे पव्वज्जा—जिनमार्गे आर्हतशासने प्रवज्या दीक्षा। छहसंघयणेसु—षटसंहननेषु वज्रर्षभनाराचवज्रनाराचनाराचार्धनाराचकीलिकाप्राप्तासृपाटिकनामसु षट् सु संहननेषु। भणिय णिग्गंथा—भणिता प्रतिपादिता श्रीइन्द्रभूतिनामगणदेवेनेति शेषः। कथंभूता भणिता, निर्ग्रन्था यथाजातरूपधारिणा .यतोऽस्मिन्क्षेत्रेऽन्यो निर्ग्रन्थो वीराङ्गजो यो भविष्यति पंचमकालस्यान्ते स किला प्राप्तासृपाटिको संहननो भविष्यति तेन षष्ठेऽपि संहनने निर्ग्रन्थ

प्रव्रज्या ज्ञातव्या । भावंति भव्वपुरिसा—भावयन्ति मानयन्ति एतद्वचनं, के ? भव्यपुरुषा आसन्नभव्यजीवाः । कम्मक्खयकारणे भणिया—पारम्पर्येण कर्मक्षयकारणे मोक्षप्राप्तिनिमित्तं भणिता प्रतिपादिता ।

भावार्थ—जिनेन्द्र देव के शासन में छहों संहननों में ही जिन दीक्षा बतलाई है। जिनदीक्षा निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा का नाम है। पंचम काल के अन्त में वीराङ्गज नामक मुनिराज होंगे, जिनके असंप्राप्तासृपाटिक संहनन होगा। इससे विदित होता है कि छठे असंप्राप्तासृपाटिक संहनन में भी निर्ग्रन्थ दीक्षा होती है। कर्मों के नाश करने में यह निर्ग्रथ दीक्षा ही कही गई है। और भी कहा है—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे णहु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।।

(७६ षट्प्रा० मोक्ष०)

भरहे दुस्समकाले भरहे—भरतक्षेत्रे भारतवर्षे, दुःषमेकाले पंचमकाले कलिकालापरनाम्नि काले । धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स धर्मध्यानं भवति साधोर्दिगम्बरस्य मुनेः । तं अप्पसहावठिदे तद्धर्मध्यानं आत्म स्वभावस्थिते आत्मभावनातन्मये मुनौ भवति। ण हु मण्णाइ सो वि अण्णाणी न मन्यते नाङ्गीकरोति सोऽपि पुमान् पापीयान् अज्ञानी जिन सूत्रबाह्यः

इस भरत क्षेत्र दुषम पंचम काल अर्थात् कलिकाल में दिगम्बर साधु मुनि के धर्म ध्यान होता है। वह धर्मध्यान आत्म-

स्वभाव में स्थित होकर आत्म भावना में तन्मय होने वाले मुनि में होता है। जो इस बात को नहीं मानता है या नहीं स्वीकार करता है वह पापी अज्ञानी जिन सूत्र अर्थात् भगवान के वचन के बाहर है।

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥

(७७ पट्० मोक्षप्रा०)

अज्ज वि तिरयणसुद्धा-अद्यापि पंचमकालोत्पन्नः समनस्काः पंचेन्द्रिया उत्तमकुलादिसामग्रींप्राप्ता वैराग्येण गृहीतदीक्षास्त्रिरत्न शुद्धाः सम्यक्त्वज्ञानचारित्रनिर्मला वर्तन्त एव, ये कथयन्ति महाव्रतिनो न विद्यन्ते, ते नास्तिका जिनसूत्रबाह्या ज्ञातव्याः। ते आसन्नभव्याः किं कुर्वन्ति? अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं आत्मानं ध्यात्वा भावयित्वा लभन्ते इन्द्रत्वं शक्रपदं। न केवलमिन्द्रत्वं लभन्ते, लोयंतिक देवत्तं केचिदल्पश्रुता अपि साधव आत्मभावनाबलेन लौकान्तिकत्वं लभन्ते पंचमस्वर्गस्यान्ते पर्यन्तप्रदेशेषु तेषां विमानानि संति, तत्र भवा लौकान्तिकाः सुरमुनयश्च कथ्यन्ते, ते स्वर्गे स्थिता अपि ब्रह्मचर्यं प्रतिपालयन्ति—स्त्री रहिताभवन्ति, तीर्थंकरसंबोधन काले मर्त्यलोकमागच्छन्ति अन्यथा स्वस्थानमेवावतिष्ठन्ते।

वर्तमान काल में भी पंचम काल में उत्पन्न संज्ञी पञ्चेन्द्रिय उत्तम कुल आदि साधनों को प्राप्त होकर वैराग्य से दिगम्बर जिन दीक्षा धारण कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करने वाले निर्मल आत्मा विद्यमान हैं। जो यह कहते हैं

कि इस समय महाव्रती नहीं हो सकते वे नास्तिक हैं तथा जिनागम के अज्ञाता हैं।

वे आत्मज्ञानी महाव्रती साधु अपने आत्म—स्वरूप का चिंतन कर आयु के अन्त होने पर इन्द्र पद प्राप्त करते हैं और कितने ही देवत्व को प्राप्त करके लोकान्तिक देव हो जाते हैं। इन लोकान्तिक देवों की देव मुनि संज्ञा भी है। ये स्वर्ग लोक में रहते हुये भी देवांगनाओं से रहित होते हैं तथा ब्रह्मचर्य व्रत पालते हैं। तीर्थंकरों के तप कल्याण के समय ये उनके संबोधनार्थ मनुष्य लोक में भी आते हैं और शेष समय वहीं पंचम स्वर्ग में रहते हैं।

ये आचार्यों के वचन हैं। अतः इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये। भगवती आराधना में भी शिवकोटि आचार्य ने इस प्रकार कहा है कि—

पदमक्खरंपि एक्कं वि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि य मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो ॥

जो आगम में बताये हुये एक अक्षर का भी श्रद्धान नहीं करता है, किन्तु अवशिष्ट सब का श्रद्धान करता है तो भी उसे मिथ्या दृष्टि समझना चाहिये।

परन्तु समझ में नहीं आता कि प्रत्यक्ष जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुये शास्त्र या वचन में अभी से श्रद्धा क्यों उठ गयी है? इससे स्पष्ट होता है कि मानों अब पंचम काल समाप्त हो रहा है, दुर्जन लोगों की संख्या बढती हुई और धर्मात्मा सज्जनों की संख्या

घटती हुई जा रही है, जिससे कि छठे काल का समय निकट ही दीखने लगा है।

सज्जन पुरुष सदा अपने और पर के हितकारी होते हैं, परन्तु दुष्ट लोग सदा उनका उपसर्ग ही किया करते हैं और अपने मतलब को साधने के लिये अनेक प्रकार की वृत्ति धारण करते हैं। कहा भी है कि:—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

कुछ ऐसे भी महान् सज्जन हैं जो कि अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरे का उपकार करते हैं, परन्तु ऐसे सज्जन अत्यन्त दुर्लभ होते हैं। अन्य को किसी प्रकार की तकलीफ न हो इस तरह दूसरे के प्रयोजन के लिये काम करने वाले सामान्य मनुष्य कहलाते हैं, अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का नाश करने वाले जो मनुष्य हैं वे राक्षस के समान अर्थात् राक्षस वृत्ति वाले हैं, परन्तु निष्प्रयोजन ही दूसरों को पीड़ा देने वाले जो मक्खी की तरह होते हैं, उन सभी को पीड़ा पहुँचाने वाले लोगों को क्या समझा जाय, यह बात समझ में नहीं आती है। उनको यही समझा जा सकता है कि वे नीच राक्षस से भी भयंकर महा नीच राक्षस के समान हैं। और भी कहा है कि:—

कालः संप्रति वर्तते कलियुगः सत्या नरा दुर्लभाः ।
देशाश्च प्रलयं गताः करभरैर्लोभं गताः पार्थिवाः ॥
नानाचोरगणा मुषन्ति पृथिवीमार्यो जनः क्षीयते ।
साधुः सीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रविष्टःकलिः ॥

इस समय घोर कलिकाल है। इसमें सत्यवादी मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ होगये हैं । इसीसे अनेक देशों में प्रलय होगया और उन पर नाना प्रकार के करों का भार लद गया है। शासक लोभी होगये हैं। नाना प्रकार के चोर बढ़ गये हैं । भले मानुष तथा साधुजन कष्ट पाते हैं, किन्तु दुर्जनों का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही चला जा रहा है, यह सब कलिकाल ही की महिमा है।

आजकल अनेक अविवेकी या धर्म से द्वेष रखने वाले ऐसी ऐसी बातें लाकर सामने खड़ी कर देते हैं जिससे भोले लोगों के हृदय में धर्म के प्रति आस्था कम हो जाती है, जो शोचनीय है। भद्र धर्मात्मा सज्जनों को चाहिये कि वे जिनागम का गहराई से स्वाध्याय करें और अपने श्रावकीय कृतिकर्म में सावधान रहें।

आगे यह बतलाते हैं कि पर्व तिथियों आदि में किस प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिये।

ओदुव पेळ्व केळ्व परिभाविप वल्लनितं पेरगेंता ।
नोदिप मूरू संजेगळनारू सुपर्वदिनंगळं सदा ॥
साधिसि तक्कतत्क्रियेगळं नेगळ्दितुट्ट दंदुगगळिं ।
पोदोडे कालमेल्ल शुभकालवला अपराजितेश्वरा! ॥४८॥

हे अपराजितेश्वर ! अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और दूसरे को उपदेशादि द्वारा तत्त्वज्ञान को समझाना, त्रिकालसंध्या, पंचमी अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों में निरंतर विशेष धर्म साधन करना एवं अनेक प्रकार के शुभोपयोग शुद्धोपयोग के कार्यों में समय को लगाना इस मानव-जीवन में शुभावसर नहीं है क्या ? अर्थात् अवश्य है ॥ ४८ ॥

48. O, Aprrajiteshwar ! Are the acts of self-study, teaching, hearing, contemplating & preaching others the Truth, three times meditations (San dhya), constant absorption into religious activities on the fifth, eighth & fourteenth days of a fortnight & other ways of Shubhopayoga & Shuddhopyoga not the (right) utilisation of human life ? Indeed, are.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्वचिंतन, त्रिकाल संध्या आदि धार्मिक कार्य अपनी शक्ति के अनुसार नित्य प्रति करते हुये दूसरों को भी शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्वचिंतन, त्रिकाल-संध्या आदि आदि धार्मिक कार्य का उपदेश देकर उनसे धर्म साधन कराने वाले तथा प्रत्येक पञ्चमी अष्टमी और चतुर्दशी को आगमानुकूल नियमों का पालन करते हुये हर्षपूर्वक समय व्यतीत करने वाले भव्य भक्तों के संपूर्ण कर्म शुभदायक नहीं हैं क्या ? अवश्य हैं ।

अब यहां पर कोई शङ्का करता है कि देव गुरु शास्त्र की पूजा शास्त्र-स्वाध्याय, त्रिकाल संध्या, पञ्चमी अष्टमी और चतुर्दशी को

प्रोपध उपवास तथा दान आदिक धार्मिक कार्य, पुण्योत्पादक होकर संसार की वृद्धि करने वाले पाप रूप ही हैं; क्योंकि जिस पुण्य के द्वारा कर्मच्छेद न होसके वह पुण्य पाप ही है, तो फिर ऐसे संसार-वर्द्धक पुण्य का उपदेश क्यों दिया जाता है ?

इसके समाधान में कहते हैं कि:—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं भत्तिए पुण्णु हवेई ।
कम्म-क्खउ पुणु होइ णवि अज्जउ संति भणेइ ॥६१॥

(॥ अ० २ परमात्म० ॥)

जैसे परदेश में स्थित कोई रामादिक पुरुप अपनी प्यारी सीता आदि स्त्री के पास से आये हुये किसी मनुष्य से बातें करता है, उसका सन्मान करता है और दान करता है, ये सभी बातें अपनी प्रिया के प्रति प्रेम से हैं, कुछ उसके कारण नहीं हैं। उसी प्रकार वे भरत, सगर, राम पाण्डवादि महान् पुरुप वीतराग परमानन्द रूप मोक्ष-लक्ष्मी के सुख अमृत-रस के प्यासे हुये संसार की स्थिति छेदने के लिये विपय कपाय से उत्पन्न हुए आर्त्त रौद्र खोटे ध्यानों के नाश का कारण श्री पञ्चपरमेष्ठी के गुणों का स्मरण करते हैं और दान पूजादिक भी करते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि केवल निज परिणति पर ही रहती है, पर-वस्तु पर नहीं। पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ क्रिया को परिणत हुये जो भरतादिक हैं, उनके बिना चाहे पुण्य प्रकृति का आस्रव होता है। जैसे किसान की दृष्टि अन्न पर है, तृण भूसादि पर नहीं है। बिना चाहा पुण्य का बन्ध सहज में ही हो जाता है। वह उनको संसार में कभी नहीं

भटका सकता है। वे तो शिवपुरी के ही पात्र हैं। परन्तु, आजकल के अधिकांश नवयुवक देव, गुरु शास्त्र की निन्दा व तिरस्कार करके पुण्य कमाना चाहते हैं, यह उनकी कैसी मूर्खता है! कहा भी है कि:—

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्दे सु करेइ।
णियमें पाउ हवेइ तसुजें संसारु भमेइ॥ ६२॥

देव शास्त्र गुरु की जो निन्दा करता है, उसके महान् पाप का वन्ध होता है. वह पापी पाप के प्रभाव से नरक निगोदादि खोटी गति में अनन्तकाल तक भटकता है। वीतरागदेव, जिनसूत्र और निर्ग्रन्थ मुनियों से जो जीव द्वेप करता है, उसके निश्चय से पाप होता है, जिस पाप के कारण से वह जीव संसार में भ्रमण करता है। अर्थात् परम्पराय मोक्ष के कारण और साक्षात् पुण्य वन्ध के कारण जो देव शास्त्र गुरु हैं, इनकी जो निन्दा करता है, उसके नियम से पाप होता है और पाप से दुर्गति में भटकता रहता है।

निज परमात्म द्रव्य की प्राप्ति की रुचि वही निश्चय सम्यक्त्व, उसका कारण तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यक्त्व, उसके मूल अरहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म, इन तीनों की जो निन्दा करता है वह मिथ्यादृष्टी होता है। वह मिथ्यात्व का महान् पाप बांधता है और उस पाप से चतुर्गति संसार में भ्रमता है।

यह जीव पाप के उदय से नरक गति और तिर्यञ्च गति पाता है, पुण्य से देव होता है, पुण्य और पाप दोनों के मेल से मनुष्य

गति को पाता है और पुण्य पाप दोनों के नाश होने से मोक्ष पाता है ऐसा जानो

सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव जो परमात्मा है, उससे विपरीत पाप कर्म के उदय से नरक तिर्यञ्च गति को प्राप्त होता है, आत्मस्वरूप से विपरीत शुभ कर्मों के उदय से देव होता है, दोनों के मेल से मनुष्य होता है और शुद्धात्मस्वरूप से विपरीत इन दोनों पुण्य पापों के क्षय से निर्वाण मिलता है। मोक्ष का कारण एक शुद्धोपयोग है, वह शुद्धोपयोग निज शुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप है। इसलिये इस शुद्धोपयोग के बिना किसी तरह भी मुक्ति नहीं हो सकती। ऐसा ही सिद्धान्त ग्रन्थों में भी हर एक जगह कहा गया है। जैसे—यह जीव पाप से नरक तिर्यञ्च गति को जाता है, धर्म से (पुण्य से) देव लोक में जाता है, पुण्य पाप दोनों के मेल से मनुष्य देह को पाता है और दोनों के क्षय से मोक्ष पाता है।

दान पूजा व्रत नियम पर्वोपवास ये सभी मोक्ष मार्ग के साधन हैं। जो अज्ञानी यह कहते हैं कि यह सभी पुण्य बन्ध के ही कारण हैं, निर्जरा के नहीं, सो ठीक नहीं है। क्योंकि व्यवहार सम्यक्त्व के बिना निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। आजकल के अपने को अध्यात्मवादी कहने वाले पुण्य के साधक व्यवहार क्रिया का जो लोप करते हैं और केवल उपादान से ही मोक्ष ढूंढते हैं वे एकान्तवादी हैं और उनकी ऐसी प्रवृत्ति व क्रियाओं से धर्म के साधनों का अभाव हो जाता है। यदि केवल निश्चय

तत्त्व से ही संसार से मुक्ति मानी जाय, तो उस निश्चय की प्राप्ति के लिये भी तो कोई प्रयत्न करना पड़ेगा।

जैसे कि बादल होने पर मेह चाहे न वरसे, परन्तु मेह बरसने के लिये बादलों का होना परमावश्यक है।

परमात्म प्रकाश की गाथा नं० ५५ में बतलाया गया है कि:—

यद्यपि असद्भूत (असत्य) व्यवहार नय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं और शुद्ध निश्चय नय से भाव पुण्य और भाव पाप ये दोनों भी आपस में भिन्न हैं, तो भी शुद्ध निश्चय नय से पुण्य पाप रहित शुद्धात्मा से दोनों ही भिन्न हुये बंध रूप होने से समान हैं। जैसे सोने और लोहे की दोनों ही बेड़ियां बन्ध के कारण हैं—इससे समान हैं। इसी प्रकार नय-विभाग से जो पुण्य पाप को समान नहीं मानता, वह निर्मोही शुद्धात्मा से विपरीत मोहकर्म से मोहित हुआ संसार में भ्रमण करता है।

ऐसा कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट ने कहा कि यदि ऐसा ही है तो कितने ही पुण्य पाप को समान मानकर स्वच्छन्द हुये रहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ?

इसके उत्तर में योगीन्द्र देव ने कहा कि जब शुद्धात्मानुभूति स्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुये पुण्य पाप को समान जानते हैं, तब तो जानना योग्य है, परन्तु जो मूढ़ परम समाधि न पाकर भी गृहस्थ-अवस्था में दान पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं और मुनि पद

में छः आवश्यक कर्मों को छोड़ते हैं वे दोनों बातों मे भ्रष्ट हैं। वे न तो यती हैं, न श्रावक हैं। बल्कि निन्दा के योग्य हैं तब इनको दोष ही है।

इसलिये गृहस्थ को अपनी शक्ति के अनुसार दान पूजा तथा अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों में व्रतोपवास करते रहना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से त्याग की भावना सुदृढ़ हो जाती है, इन्द्रियों की काम वासना घट जाती है तथा बाह्य भोगादिक क्षणिक सुख से ग्लानि उत्पन्न होकर मन आत्मानन्द रूपी रस में मग्न हो जाता है और तब सच्चे सुखशान्ति की प्राप्ति होजाती है।

इस प्रकार व्यवहार और निश्चय दोनों मार्ग का अवलंबन करने से जब शुद्धात्मभाव की प्राप्ति हो जाती है तब व्यवहार स्वयं छूट जाता है। इस प्रकार की भावना शुभ भावना कहलाती है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी शुद्धात्मरत जीव आत्मरस में लीन होकर जो भी आचरण करते हैं वे सभी पुण्यरूप होते हैं।

नुडि वोडे देव निम्मय महामभेयोळ्नुडिवंतिगेजेयिं ।
नुडिवुदु पोगुवल्लि मुळुवट्टयोळ्पुदुवनंति रोजेयिं ॥
नडेवुदु कुल्लिकितिर्पोरगुवुवेंडयोळ् सेरे सिल्किदातनं-
तोडने निजात्म चिंतेयोकिहंगववेनन्पराजितेश्वरा ! ॥४६॥

हे अपराजितेश्वर ! स्वामिन् ! यदि इस मनुष्य पर्याय में बात चीत करनेकी आवश्यकता हो तो आपकी उपदेश सभा या तत्त्वचर्चा में ही वार्त्तालाप करना उचित है। हे भगवन् ! यदि सन्मार्ग में

चलते समय किसी कुमार्ग में जाने की कुसंगति मिल जाय तो उस कुसंगति से कभी कुमार्ग में नहीं जाना ही उचित है। जैसे कारागार (कैद) में पड़ा हुआ प्राणी खाने पीने उठने बैठने सोने आदि में भी आनंद नहीं मानता और परतंत्रता से ही ये काम करता है उसी प्रकार सांसारिक भोगों को अरुचि और घृणा पूर्वक चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से भोगते हुए भी इस प्राणी को पाप का आस्रव कहां ? ॥ ४६ ॥

- O, Aparajiteshwar ! If it is repuired to talk then One should indulge into spiritual discussions only, in human life. O, Lord ! If one walking on the path of righteousness falls in evil company then he should not go to evil ways under its influence. If a man moves in the world of sense objects distastef-ully like a man in the prison regarding the activities of sleeping & eating, would he ever have the influx of sin ?

विवेचन:—ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रथम तो जहाँ तक हो चुप रहना ही ठीक है और यदि बोलने का अवसर भी आवे तो हित मित और प्रिय वचन ही बोलना चाहिये। हे भगवन् ! मैं यह चाहता हूँ कि जहाँ आपके प्रवचन की उपदेश सभा हो केवल वहीं मेरे बोलने का अवसर मिले। सुमार्ग से जाते हुये यदि कोई मनुष्य अपने साथ कुमार्ग पर लेजाना चाहे तो मुझे नहीं जाना चाहिये और जिस प्रकार जेलखाने में पड़ा हुआ मनुष्य समस्त

इन्द्रियादि भोगों को संकुचित कर सदैव उस जेलखाने के दुःखों से छूटने की चिन्ता करता रहता है उसी प्रकार भोजन, शयनासनादि समस्त विषयों में लोलुपता न रखकर भव्य प्राणी को आत्मा की ओर ही रुचि रखना चाहिये।

हे भगवन्! मेरी भी ऐसी ही संयत प्रवृत्ति हो। यदि मैं अपनी ऐसी संयत प्रवृत्ति रक्खूँगा तो क्या मुझे पापास्रव होगा?

विद्वान् धर्मात्मा मनुष्यों को कभी भी धर्म मार्ग से च्युत और चारित्र हीन मनुष्यों का संसर्ग नहीं करना चाहिये। समस्त प्राणियों के साथ मित्रता और धर्मात्मा विद्वानों के साथ प्रमोद आदि करने से ही उभयलोक की सिद्धि होती है। बृहत् सामायिक पाठ में कहा भी है कि:—

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु दयापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव॥

हे देव! हमारा आत्मा, प्रत्येक प्राणियों में मित्रता, गुणी जनों में हर्ष, दुःखी जीवों में दया तथा विपरीत वृत्ति में माध्यस्थ भाव धारण करे। जीव का हित बाह्य और अंतरङ्ग दोनों प्रकार के चारित्र के सुधार में ही है। जीवकी संसार के विषयों में निरर्गल व स्वच्छन्द प्रवृत्ति जीव के कर्मों से बंधने का कारण है और संसार के विषयों से विरक्ति संसार से छूटने का कारण है। संसार के प्रायः सभी जीव संसार को ही पसन्द करते हैं और इसलिये वे संसारी जीवों की ही संगति करते हैं तथा विषयी जीवों से ही प्रेम करते हैं। किन्तु थोड़े जीव जगत में ऐसे भी हैं कि जो संसार को

पसन्द नहीं करते और संसार निश्चय से दुःख रूप ही है ऐसा चित्त में विचार सदा करते हैं। वे स्वयं साधु बनते हैं, भोगों को तजते हैं तथा निरन्तर साधु संगति में रहते हैं। संसारी जीव जहां रहते हैं वहां वे रहते भी नहीं हैं किन्तु निर्जनवन, गिरिकन्दर, गिरि गुहाओं में जाकर तिष्ठते हैं जहां पर ये संसारी जीव जाते हुए भी डरते हैं और उन तक पहुंचने भी नहीं पाते हैं। जैसे मद्य पीने वाले मद्यपी जीवों की ही संगति चाहते हैं वैसे वे संसार से विरक्त जीव महाव्रती साधुकी संगति ही चाहते हैं। संसारी जीवों में उठना, बैठना, वार्तालप करना भी पसन्द नहीं करते। इन्द्रियों के विषयों को सर्वथा त्याग कर परम संयम भाव को धर कर आत्म चिंतवन, आत्मध्यान तथा पंच परमेष्ठी का ध्यान ही वे निरंतर चाहते हैं। इस प्रकार जिस जीव की जैसी भावना होती है वह उसी संगति में पड़जाता है और अपनी करनी का फल पाता है। जिन जीवों का भावी बुरा है वे पापी जीवों की संगति ही में रहते हैं किन्तु जिन का भला होनहार है वे सत्संगति को स्वीकार करते हैं और अपने चारित्र में सुधार करते हैं। जितने २ अंशों में चारित्रगुण आत्मा में प्रकट होता जाता है पाप तिमिर भी आत्मा से उतने २ अंशों में हटता जाता है। संसार में चारित्र ही बड़ी वस्तु है और यह चारित्र धारियों से ही मिलती है। इसीलिये ज्ञानी जीव चारित्र धारी साधुजन धर्मात्माजन की ही संगति करते हैं। चारित्र आत्मा का प्रधान गुण है रत्नत्रय की प्राप्ति चारित्र (अनन्तानुबंधी कषायों के क्षय, उपशम, क्षयोपशम) सेही होती है। वर्तमान के पंडित जन सम्य-

ग्दर्शन के विना सर्व धर्म कर्म को वेकार कहते हैं, धार्मिक सम्पूर्ण क्रियाओं को तजते जाते हैं तथा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टी अव्रती ही तिरजाता है इसलिये व्रत की कथा भी वे पसन्द नहीं करते हैं। उनके इन विचारों पर थोड़ा यहां विचार करना परमावश्यक है, क्योंकि आज का संसार इन विचारों में डूबता जाता है और हित को छोड़ अहित में फंसता जाता है।

प्रथम ऐसा कहना कि सम्यग्दर्शन के विना धर्म कर्म सब वेकार है, सर्वथा अनुचित है। क्योंकि संसार में कर्म दो प्रकार के हैं, एक धर्म कर्म और दूसरा अधर्म कर्म। जब धर्म कर्म को वेकार हम कहेंगे तो उसका अर्थ अधर्म के करने का उपदेश होगा अथवा धर्म कर्म छोड़ने पर स्वयं अधर्म प्रवृत्ति का प्रवर्तन जीवों में फैलेगा और उसका अर्थ आगे होकर इन अज्ञानी जीवों को नरक तिर्यंच योनि में फेंकना होगा। आज यही होता हुआ नजर आरहा है और ऐसे पंडितों के उपदेश में लोग विशेष संख्या में दौड़ २ कर जाते हैं और धर्म क्रिया सब वेकार है, ऐसा सुनकर आकर धर्म क्रियायें छोड़कर महा दुराचार प्रवृत्ति में लगते जाते हैं और ये अज्ञानी जीव अपना नाश अपने हाथों से करते जाते हैं। हम उन पंडितों से कहते हैं कि यदि धर्म क्रिया सब वेकार है तो शास्त्र पढ़ने की धार्मिक क्रिया भी वेकार है फिर वे वृथा शास्त्र के पढ़ने का वहाना क्यों करते हैं और संसारी जीवों को धार्मिक कर्म जो थोड़े वहुत दान, पूजा, उपवासादि करते हैं उससे भी क्यों छुड़ाते हैं, वे ऐसे मिथ्यात्वोपदेश के देने को स्वयं ही क्यों नहीं

छोड़ देते हैं ? मिथ्यात्व के भेदों में एकान्त मिथ्यात्व भी कहा है। इसका अर्थ एकान्त से किसी वस्तु को ग्रहण करना और कहना है। जो जीव एकान्त से इस वस्तु को ग्रहण करते हैं कि सम्यग्दर्शन बिना सब धर्म क्रियायें बेकार हैं वे एकान्त मिथ्यात्व कर अपनी आत्मा को दूषित कर संसार की खोटी योनियों में जन्म धारण करने को अपने को फेंक देते हैं। आचार्यों ने धर्म का लक्षण "चारित्तं खलु धम्मो" ऐसा कहा है। जिसका अर्थ है, श्रावक को यथावत् रूप से कुलाचार रूप धर्म को धारण कर सम्पूर्ण दान, पूजा, संयम, उपवासादि की क्रियायें करना चाहिये। षट्कर्म नियमित रूप से सदा करते रहना चाहिये। श्रावक का यही धर्म है। देव, गुरु और शास्त्र का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ऐसा जान दृढ़ श्रद्धान देव गुरु शास्त्र का धारण करना चाहिये। चारित्र क्रिया रूप तथा भाव रूप दोनों प्रकार के चारित्र को धारण कर अशुभ कर्मों का नाश करना चाहिये तथा अधर्म क्रियाओं से अपने को सदा बचाना चाहिये।

दूसरे यह कहना कि अव्रती सम्यग्दृष्टी तिर जाता है अतः व्रत की कथा बेकार है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि प्रथम तो अव्रती सम्यग्दृष्टी भी रत्नत्रय से युक्त होता है जिससे प्रकट है कि वह जीव भी चारित्र रहित नहीं होता है, अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के अभाव से होने वाला चारित्र तो उसके भी अवश्य ही होता है। अप्रत्याख्यान कषाय पुंज के उदय के कारण देशव्रत रूप चारित्र नहीं होता है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि

चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव में चारित्र नहीं है। कुलाचार रूप चारित्र तो उस में भी अवश्य होता है। और उसकी धार्मिक क्रियाओं में धार्मिक कर्मों में सम्यक्त्व के प्रसाद से अतुल प्रीति होती है। दूसरे संसार से तिरना तो महाव्रत रूप चारित्र को धारण किये बिना सर्वथा नहीं होता है। धर्म दो प्रकार का आगम में कहा है। उसमें श्रावकों के लिये कहे गये सागार धर्म को पढ़कर समझकर प्रत्येक श्रावक को उसे अवश्य धारण करना चाहिये। स्वकर्त्तव्य, क्रियाओं और कर्मों को यदि श्रावक लोग छोड़ देंगे तो धर्म को छोड़ देने से अधर्म कूप में पड़कर अपना विनाश करेंगे। शास्त्र के वचनों का अर्थ एकान्त रूप से कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। जैसे लोग कहते हैं कि रूपवती कन्या न होतो विवाह नहीं करना चाहिये ऐसा कहना अयुक्त है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन बिना धर्म कर्म नहीं करना चाहिये, ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है।

इस तरह उन्मार्ग में जाने वालों से बचकर सन्मार्ग में दृढ़ रहना चाहिये। जिस प्रकार अन्धजीव मार्ग में जाने वाले पथिक को दूसरे रास्ते से आगे जाने को कहकर उन्मार्ग में उसको फंसा देता है उसी प्रकार विषयान्ध, धर्म क्रिया कर्म नहीं करने वाला जीव भी भोले जीवों को उन्मार्ग में फंसा देता है। इसलिये केवल पंडित नाम पर ही नहीं मरना चाहिये। पंडित के चारित्र को भी देखना चाहिये कि वह स्वयं भी षट् कर्म थोड़ा बहुत करता है या नहीं। अगर पंडित धर्म कर्म विहीन हो तो उसको हजार कोश दूर से ही त्याग देना चाहिये और सन्मार्ग से चलायमान नहीं होना

चाहिये। इसी में आत्मा का कल्याण है।

वास्तविक में संसार में वे जीव धन्य हैं जो उन्मार्ग में नहीं जाकर सदा सन्मार्ग में दृढ़ रहते हैं। तथा उन्मार्गी जीवों से वृथा वचनों की वितंडा भी नहीं करते हैं। क्योंकि नीति में कहा है कि "दुर्जनेन समं सख्यं वैरं चापि न कारयेत्" जैसे विपरीत जीवों की प्रीति अहितकर है उसी प्रकार उनसे वैर भी अकल्याण कारी है। इसलिये उनमें माध्यस्थ्य भाव धारण कर उन धर्म विरोधी जीवों से जो दूर रहते हैं वे प्रशंसनीय हैं। ऐसे जीव सन्मार्ग की स्थिति के कारण और इन्द्रिय संयम और प्राण संयम के पालन के कारण पापाश्रवों से अपनी आत्मा को बचाकर शिव में थोड़े ही काल में पहुंचा देते हैं। इसलिये भव्य जीवों को सन्मार्ग पर दृढ़ रह कर धर्म का पालन सदा करते रहना चाहिये, यही कल्याणकारी है।

आगे के श्लोक में यह कहते हैं कि सांसारिक वातावरणों में बहिरा तथा दूसरों के शरीर शृंगार या दुष्टों में गूंगा रह कर आत्म-हित में रुचि रखना चाहिये। इस बात को बतलाते हैं।

लोकद वार्तयोळ् बधिरनात्महितं पोरगाद मातिनोळ् ।
मूकते तन्न देहपरदेहद नोटदोळंधकं प्रमा-॥
देकदे कंडु गगिसिदोडं सुडमांस चिकारमेंदु मे ।
य्गोकरि पातनतकननंजिसने अपराजितेश्वरा ! ॥५०॥

हे अपराजितेश्वर! लौकिक समाचारों तथा वार्ताओं के सुनने में बधिर, धर्म हीन प्राणियों से बातचीत करने में मूक (गूंगा) अपने और परके शरीर के देखने में अंधे ऐसे योगी पुरुष को यदि

कोई वस्तु दीख भी जाय और शरीर को मांस पिंड घृणा का पात्र जानता हुआ उससे प्रेम नहीं करता तो क्या यमराज उस योगी से नहीं डरेगा ? ॥५०॥

50. O, Aparajiteshwar ! Will not the Death be afraid of such a Yogi who is mute in hearing the worldly news & talks, dumb in talking with the unreligious people, blind in seeing his own & others bodies, which if come before his eyes considers them the formations of flesh & bone & does not get enamoured ?

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मानन्द रूपी रस में लीन हुआ ज्ञानी जीव बाह्य जगत् के सांसारिक वातावरण के समाचार में बहरा रहता है अर्थात् संसार की अनर्गल बातों में लक्ष्य न देकर सदा अपने आत्मस्वरूप में लीन रहता है । जैसे दो या तीन साल का छोटा बच्चा खेलने में रत होकर अपनी सुधि बुधि भूलकर खाने पीने की भी परवाह नहीं करता तथा किसी के पुकारने या प्यार करने पर भी किसी ओर ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार ज्ञानी भव्य जीव जब वीतराग आत्मानन्द रूप निर्विकल्प समाधि में रत होजाता है तब वह बाह्य वस्तु की ओर कुछ भी ध्यान न देकर अपने में रमण करता है । ऐसे भव्य पुरुष को सच्चा आत्म ज्ञानी तथा सच्चा धनी कहते हैं । कहा है

कबिरा सब जग निर्धना, धनवंता नहीं कोय ।
धनवंता सो जानिये जाहि राम धन होय ॥ १ ॥

करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिन रात ।
कूकर जिमि भूँकत फिरे, सुनी सुनाई बात ॥२॥
कहता हूँ कह जात हूँ, कहा बजाऊं ढोल ।
श्वासा खाली जात है, तीन लोक का मोल ॥३॥
कबीर मरे मर जायंगे, कोई न लेगा नाम ।
उजड़े जाय बसायंगे, छोड़ बसंता गाम ॥४॥
कबीरा खेत किसान का, मिरगो खाया झाड़ ।
खेत बिचारा क्या करे, धनी करे नहिं वाड़ ॥५॥
कबिरा गुरु की भक्ति बिन, राजा गदहा होय ।
माटी लादै कुम्हार की, घास न डारै कोय ॥६॥
कबिरा गर्व न कीजिये, रंक न हँसिये कोय ।
अबहीं नाव समुद्र में, क्या जाने क्या होय ॥७॥
कबिरा मन पक्षी भयो, उड़ उड़ दश दिश जाय ।
जाकी जैसी सङ्गती, सो तैसो फल पाय ॥८॥
कौड़ी कौड़ी जोर के, जोरे लाख करोर ।
चलती बार न कुछ मिल्यो, लियो लँगोटी छोर ॥९॥
कँकड़ पत्थर जोड़ कर, मसजिद लिया चुनाय ।
ता चढ़ि मुल्लाँ बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय ॥१०॥
कबिरा गर्व न कीजिये, अस जोवन की आस ।
टेसू फूला दिवस दश, खँखड़ भया पलास ॥११॥
कह जानो कहँ वा मुवो, ऐसे कुमति कमीच ।
हरि सों हेत बिसार के, सुख चाहत है नीच ॥१२॥

कहु रहीम कैसे निभैं, बेर केरु को सङ्ग ।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अङ्ग ॥१३॥
कमला थिर न रहीम कहँ, यह जानत सब कोय ।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चञ्चला होय ॥१४॥
करिये सुख को होत दुख, यह कहो कौन सयान ।
वा सोने को जारिये, जासों टूटत कान ॥१५॥
रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय ।
हीरा जन्म अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥१६॥

ज्ञानी जीवात्मा अपने आत्मा को सम्बोधन करते हुये कहता है कि हे आत्मन् ! तूने ऊपर कहे हुये दोहों के अनुसार बाह्य मान बड़ाई तथा ममता आदि के कारण पर पदार्थों में रत होकर अखंड अविनाशी आत्मानन्द को भूल गया । अरे ! अब तो जगत् की मोह निद्रा को छोड़ कर जागृत हो जाओ तथा आत्म स्वरूप-निजानन्द रसायन का दर्शन व मनन करो ।

इस प्रकार ज्ञानी आत्मा बारम्बार विचार करते हुये स्वात्मरत रहकर बाह्य वस्तुओं में बहिरा रहता है अर्थात् सांसारिक बातों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता है । और भी देखिये जिस समय श्री भरतेशजी आत्म-ध्यान में लीन होजाते थे उस समय उनके अङ्ग को यदि कोई अत्यन्त सुन्दर नवयुवती भी स्पर्श कर लेती तो वे जरा भी ध्यान से विचलित न होकर अचल स्तम्भ की भांति स्थिर रहते थे । राजसी वस्त्रालङ्कारादि शरीर पर रहने से भी वे सभी वस्तुओं को भूल गये थे । यह सब उनके आत्म-ध्यान का ही

प्रभाव था। इसी प्रकार ध्यान की महिमा का वर्णन करते हुये श्री अकलङ्क देव ने भी राजवार्तिक में कहा है कि:—

पुरे वने वा स्वजने जने वा प्रासादशृङ्गे द्रुमकोटरे वा।
प्रियांगनांऽकेऽथ शिलातले वा मनोरतिं सौख्यमुदाहरन्ति॥

आत्म ध्यान में रत हुआ ज्ञानी पुरुष चाहे नगर में रहे, चाहे वन में रहे, चाहे अपने जन में रहे, चाहे परजन में रहे, चाहे महल के शिखर पर रहे, चाहे वृक्ष के खोखले में रहे, चाहे अपनी प्यारी स्त्री की गोद में रहे, चाहे शिलातल पर रहे अर्थात् कहीं भी रहे परन्तु जहां पर अपने मन का प्रेम है, मन की चाहना अथवा प्रसन्नता है वहीं पर उसे सुख प्राप्त होता है। इससे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि सुख विशाल नगर में रहने से ही नहीं मिलता; किन्तु मन की प्रसन्नता हो तो जङ्गल में भी मिल जाता है। सुख महलों में ही नहीं धरा है, किन्तु ध्यानी के लिये वृक्ष के कोटर में ही सुख है वहीं पर उसकी मनःप्रसन्नता है। सुख प्रिय स्त्री की गोद में ही नहीं धरा है, क्योंकि जरा भी अरुचि होने पर वह स्त्री विषवत् प्रतीत होने लगती है, परन्तु जहां पर मन की प्रसन्नता रहती है वहां शिला पर बैठकर ध्यान लगाने से या किसी प्रकार निर्मल भावों को रखने से वहां भी सुख प्रतीत होता है। इसलिये कठिन से कठिन तपश्चरण करने में ही साधुजन मन की पवित्रता अथवा प्रसन्नता समझते हैं। इसलिये उन्हें वह कष्ट दुःखरूप नहीं भासता है किन्तु सुखरूप ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार ज्ञानी मुनि जब आत्मस्वरूप में रमण करता है

नव अपने शरीर तथा दूसरों के शरीर को देखने में अंधा रहता है। और यह शरीर अमङ्गल हड्डी और मास मज्जा से युक्त है। इसको धिक्कार हो, इस तरह अपने मन में ग्लानि करता है, ऐसे मुनिराज क्या यमराज को नहीं डरायेंगे ? अवश्य डरायेंगे । क्योंकि उनकी दृष्टि जहां जहां फिरती रहेगी तहां तहां उसे अपने आत्मस्वरूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीखता है । इससे वे योगी संपूर्ण जगत् के तथा देवों के द्वारा भी पूजनीय होते हैं और अन्य क्या ?

आगे के श्लोक में इसी विषय को पुष्ट करते हैं:—

नोडिदोडेल्लयुं तनुविनोळ् मति सोलदे शुद्धजीवनं ।
नोडुव मातनाडिदोडे शांत शुभं पवनागे पेळ्व तां- ॥
पाडिदोडत्तलित्त तोनेदाडदे निश्चोळ्के नट्टचित्तदिं ।
पाडुव नागियुं कडुविरागियला अपराजितेश्वरा ! ॥५१॥

हे अपराजितेश्वर ! कुछभी देखना हो तो शरीर में अपनी आत्माको लीन कर जो देखता है, वातचीत करनी हो तो भाषासमितिरूप हित मित और शांत वाणी वोलता है, स्तुतिगान भी करता है तो शरीर को निश्चल कर आपके गुणोंको ही गाता है, हे भगवन् ! वह क्या उत्कृष्ट वैरागी की कोटिमें नहीं आता ? ॥ ५१ ॥

O, Aparajiteshwar ! Does he not rank in the highest vairagins (persons detached from the world), who sees the things without indulging into the body, speaks only the beneficial in a concise

form very peacefully & sings the praises of your qualities, keeping the body steady.

विवेचन.—ग्रन्थकार कहते हैं कि ध्यानस्थ आत्मरत योगी अपने शरीर में लीन न होकर अपितु शरीर के अन्दर आत्मस्वरूप का अवलोकन करते हुये उसी के साथ बातचीत व हास्यालाप किया करता है। कदाचित् किसी अन्य से बातचीत करने की आवश्यकता पड़ जाय तो आत्मकल्याण की कामना से बहुत शान्ति पूर्वक शुभ कारक हितमित वचन बोलता है तथा गान करते समय शरीर का हलन चलन इधर उधर न करके आत्मरत होकर दृष्टि अपनी आत्मा के अन्दर भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करके एकाग्र मन से गाता है:—

कहा भी है कि:—मधुर वचन से मिटत है उत्तम जन अभिमान।
तनिक शीत जल से मिटे जैसे दूध उफान ॥

इस प्रकार ज्ञानी जीव के द्वारा होनेवाली समस्त क्रिया शुभ कारक अर्थात् उत्कृष्ट नहीं होगी क्या ? अवश्य होगी।

इस प्रकार आत्मानन्द रस में डूबे हुये ज्ञानी साधु को कर्म-बन्ध नहीं होता है। कुंदकुंदाचार्यजी ने भी समयसार में वर्णन किया है कि वीतरागी का उपभोग निर्जरा के लिये कारण है और मिथ्यादृष्टी के रागादि भावों के सद्भाव से चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग बंध के निमित्त ही होता है। इस कथन से ज्ञानी और अज्ञानी का भाव जानना चाहिये।

सम्यग्दृष्टी को ज्ञानी कहते हैं। ज्ञानी के राग द्वेष और मोह

का अभाव होता है। इसलिये वीतरागी पुरुषों की इन्द्रियों से जो भोग होता है उसे सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव ऐसा जानता है कि यह पर द्रव्य है, मेरा सम्बन्ध इससे कुछ भी नहीं, कर्म के उदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग हुआ है तथा यह चारित्र मोहनी कर्म के उदय से उत्पन्न हुई पीड़ा है। यह पीड़ा बलहीन होने से जब तक सहन नहीं की जाती तब तक रोग की तरह विषय रूप भोग उपभोग आदि सामग्री से औषधि करता है: परन्तु उपर्युक्त भोगादिक सामग्रियों से राग द्वेष व मोह नहीं करता है। इसलिये संसार से विरक्त सम्यग्दृष्टी के भोगादिक सामग्री निर्जरा करने के ही कारण हैं। जब कर्म का उदय होता है तब वह अपना रस देकर झड़ जाता है। उदय होने के पश्चात द्रव्य कर्म की सत्ता नहीं रहती है, बल्कि निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टी का उस कर्म के उदय से राग द्वेष व मोह नहीं रहता है, केवल उदय से आये हुये को जानता है और फल को भी राग द्वेषादिक के बिना भोगता है। इसलिये कर्म का आस्रव नहीं होता है और आस्रव के बिना उस विरागी सम्यग्दृष्टी के आगामी बंध नहीं होता है। और जब बंध आगामी नहीं हुआ, तब केवल निर्जराही हुई। इस कारण सम्यग्दृष्टी विरागी भोगोपभोग निर्जरा के लिये ही कारण कहा गया है तथा पूर्वकर्मों का द्रव्य उदय आकर झड़ जाना ही द्रव्य निर्जरा है।

इसी प्रकार श्री भरतेशजी ने भी आत्म विचार किया था कि:- मैं भिन्न हूँ, मेरा शरीर भिन्न है उससे कर्म भिन्न है। इस प्रकार

की भावना करते हुये भरतजी "मैं" शब्द को भूलकर एक दम सिद्धों के समान परमानन्द में मग्न हो जाते हैं।

ध्यान की अवस्था में आत्मा को देख रहे हैं और साथ ही साथ कर्मों के पतन को भी देख रहे हैं। उन्हें कर्मों का नाश करने वाली इस अद्भुत विद्या पर प्रसन्नता भी होती है। प्रसन्नता के कारण अन्दर ही अन्दर कभी कभी भरतजी इस प्रकार गुनगुनाते हैं कि हे परम गुरु परमाराध्य गुरु हंसनाथ! तुम्हारी जय हो। कभी इसे भी भूलकर वे पुनः एकाग्रावस्था में मग्न हो जाते हैं। फिर उसमें भी आनन्द आने पर एक दम कह उठते हैं कि श्री निरञ्जनसिद्ध! सिद्धान्तसार! नित्यानन्द! तुम्हारी जय हो। उनका यह कहना उन्हीं के सुनने में आता है। दूसरा कोई भी नहीं सुन सकता। उस समय भरतजी साक्षात् ऐसे मालूम पड़ते थे कि मानों उज्ज्वल अदृष्ट व अश्रुतपूर्व चांदनी में एक उज्ज्वल मूर्ति की स्थापना की गई हो। इतना ही क्यों, कहीं वे सूर्य व चन्द्र के समूह में ही जाकर बैठे तो नहीं हैं, या जिनेन्द्र की समवसरणादिक सम्पत्ति ही वहां एकत्रित नहीं हुई, अथवा अनन्त सिद्धों के बीच में जाकर तो नहीं बैठे? इस प्रकार राज योगीन्द्र को उस समय अनुभव हो रहा था।

इस समय पंचेन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है। यही क्या? देवेन्द्र के सुख को भी सामने रखने तो वह भी फीका पड़ता है। इस प्रकार भरतजी प्रमाद रहित होकर अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करने लगे।

बाहर से जो इन्हें देखते हैं उनको वे राजा के समान दीखते हैं; किन्तु अन्दर से वे राजयोगी हैं। साथ में निजानन्द रस को भी बराबर भोग रहे हैं इसलिये भोगी भी हैं। बाहर से देखें तो आभरण हैं, वस्त्र हैं, परन्तु अन्दर में ध्यान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि कहीं सिद्ध परमेष्ठी को वस्त्र व आभरण से सजाकर बैठा दिया हो। कभी कभी आभरणों को निकाल कर केवल एक धोती पहन कर वे ध्यान करने के लिये बैठते थे और कभी आभूषणों को वैसा ही रखकर ध्यान करते थे; परन्तु बाहर से ही वे सब कुछ करते थे अन्दर से उनका कुछ भी प्रभाव नहीं था।

भरतेश्वर का शरीर सग्रन्थ है, परन्तु आत्मा उस समय निर्ग्रन्थ है। इस विचित्र दशा में इन्हें अलौकिक सुख का अनुभव हो रहा है।

अब भरतजी के नेत्रों से आनन्दाश्रु बह रहे हैं। संभवतः यह आत्मानन्द उमड़ कर बाहर आ रहा है। सारे शरीर में रोमाञ्च होगया है; परन्तु वे अपने ध्यान में मग्न हैं।

इसी प्रकार ज्ञानी जीव का खेल अपने आत्मानन्द सरोवरों में मग्न होकर उसीके सुख स्वाद में हमेशा रमता है। ऐसे ज्ञानी को कर्मबन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी का विचार भगवान के भक्त को किस तरह रहता है :—

कण्मलरल्करिंदोसरे निम्मने नोडुतमंतरंगदोळ् ।
पोण्मे विसोधि भाविसुते नालगे रागिसे पाडुतंगदोळ् ॥
उण्मिरे रोमजालवेरगुतनुकंपनवेत्त केय्गळि ।
दण्मि तवांघ्रिगलगलरनर्चिपे नेदंपराजितेश्वरा ! ॥५२॥

हे अपराजितेश्वर ! आपके दर्शन से मेरे नेत्र आपके गुणों की स्तुति करती हुऐ मेरी जिह्वा, आपके अनंत गुणों में मेरे हृदय की भक्ति कब लगेगी और ये मेरे हाथ आपके चरणों पर भक्ति से प्रेरित होकर कब पुष्प भेंट करेंगे ?

O. Aparajiteshwar ! When will my eyes have your Darshan, my tongue sing the songs of your praise, my devotion be in your infinite attributes & my hands worship your feets with the flowers ?

ग्रन्थकार कहते हैं कि भव्यात्मा ज्ञानी भगवान् से प्रार्थना करते हुये कहता है कि हे भगवन् ! अपने हृदय में आपका ध्यान करते हुये परम विशुद्ध भाव से, प्रेम रस से पूर्ण आपके कान्तिमान् स्वरूप का दर्शन करके अपने नेत्र रूपी पुष्प को प्रफुल्लित करते हुये, जिह्वा से आपकी स्तुति तथा आपका गुणगान करते हुये, अपने शरीर में रोमांचित होकर वात्सल्य भाव से युक्त होकर आप के चरण कमलों में हम कब हृदय का प्रेम पुष्प चढ़ायेंगे ! इसी प्र र श्रीमदाचार्य चण्ण मुनि ने भी कहा है कि:—

हे भव्यात्मन् ! तू घबरा मत। ऐसे सांत्वनादायक अपने मृदु

वचनों से अनादि परंपरा से चले आये जैनधर्म रूपी अमृत को माता के समान-प्रेम से पिलाने वाले तथा जिन वचन रुपी जल से कुनय संशय तथा दुर्नय आदि रूपी रज को नष्ट करने वाले श्रेष्ठ तथा दिव्य मुनि के वचन को सुनकर हमारा कर्म रूपी धूल कब नष्ट होगा ?

हे भगवन् ! अखिल तीर्थों के दर्शन करने के निमित्त आकाश मार्ग से गमन करने वाले महान जिन मुनियों के चरणो में बैठकर भोगभूमि तथा पुस्कर विदेह सीता नदी महानेरु पर्वत इत्यादि के स्वरूप उन ऋषियों के द्वारा जानकर सभी क्षेत्रों का दर्शन मैं कब करूँगा ?

हे भगवन् ! कुल शैल अर्थात् कुलाचल पर्वत में विराजित भगवान् जिनेश्वर की दिव्य मूर्ति का दर्शन करके जाने वाले श्रेष्ठ चारण ऋद्धिधारी महामुनि मेरे पुण्योदय से स्वयं यहां कब पधार कर प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला धर्मोपदेश मुझे देंगे और कब मैं उनका अलौकिक दर्शन करके अपने नेत्रों को सफल करूँगा ?

ज्ञानी जीवात्मा भगवान् के प्रति अपनी लघुता प्रकट करते हुये उत्कंठित भावना से प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! इस संसार सागर से पार होने के लिये आपकी भक्ति ही नौका के समान है। भक्तामर स्तोत्र में कहा भी है कि:—

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना ।
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ॥

त्वत्पाद्पंकजरजोऽमृतदिग्धदेहा ।
मर्त्या भवंति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४५॥

हे जिनेन्द्र भगवन् ! अत्यन्त भयंकर जलोदर नामक रोग होने के कारण जो दुःख या तीव्र वेदना से पीड़ित हुआ है, जो अत्यन्त शोचनीय दशा को प्राप्त हुआ है तथा जिसने निराश होकर अपने जीवन व शरीर की आशा बिलकुल छोड़ दिया है, ऐसे दुःखी जीवात्मा के शरीर से यदि आप के चरण कमल रज का स्पर्श हो जाय, तो तुरन्त ही वह प्राणी कामदेव के समान अत्यन्त सुन्दर हो सकता है, इसमें किसी प्रकार का कुछ भी संदेह नहीं है।

हे भगवन् ! आपका मन तथा आप की वाणी प्रत्यक्ष प्रमाणानुसार सिद्ध है। अतः उसमें संसारी भव्य जीवों को किसी प्रकार की शंका नहीं उत्पन्न होती। यह आपके अन्दर महान् गुण है। कल्याण मन्दिर में भी कहा है कि:—

त्वं तारको जिन ! कथं भविनां त एव ।
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ॥
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून—
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥

हे जिनेन्द्र भगवान् ! आप संसार सागर में डूबते हुये संसारी प्राणियों को तारने वाले हैं, यह बात यों सत्य है कि जैसे चमड़े या मोटे कपड़े की कोई मशक बनाकर उसमें हवा भरकर अपने

कमर में बाँधले और अगाध समुद्र में भी पड़ जाय, तो वह तिर सकता है।

आनन्दाश्रु स्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्प—
न्यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम् ।।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देहवल्मीक मध्या—
न्निष्कारयन्ते विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः

।। एकी भाव० ।।

जिस प्रकार समीचीन मंत्रों के सामर्थ्य से बाँबी के मध्य भाग से साँप बाहर निकाल दिये जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिनेन्द्र देव के स्तवन रूप मंत्रों से स्तवन-पूजन करने वाले भव्य पुरुषों की विषम विषय रूपी व्याधियाँ भी दूर कर दी जाती हैं। अर्थात् जो मनुष्य भक्ति पूर्वक श्रद्धा से सम्पन्न होकर एकाग्र चित्त से जिनेन्द्र भगवान् का पवित्र स्तवन करता है उसके पुरातन विषम रोग भी दूर हो जाते हैं और उसका शरीर निरोग बन जाता है।

भगवन ! आप का मंत्र अचिन्त्य है, जैसा कि पंच पदाष्टक ग्रन्थ में कानड़ी के एक कवि ने कहा है कि:—

वृणिसी कोंडु पंचमिय नोंपिय पारणेयल्लि सर्पनिं ।
प्राणवियोगमागे रजकात्मजे रेवति निर्मलत्वदिं ।।
नोणिप पुत्रियागि गतजन्मद नालि सुखी णमोरहं ।
ताणपदादि पंचकमे वाचक मक्के मगागळ जिना ! ।।७।।

हे जिनेन्द्र भगवन् ! श्री पंचमी व्रत को धारण करके धोबी की लड़की रेवती को पारणा के दिन जब किसी विषधर सर्प ने काट

लिया तब सर्पदंश के विष से व्याकुल होकर प्राण प्रयाण काल में उसने णमोकार मंत्र स्मरण करने के प्रभाव से मरने के पश्चात राजा के यहाँ कन्या का जन्म प्राप्त किया। इसलिये हे नाथ। ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे यह आप का परम पवित्र पैंतीस अक्षर वाला णमोकार मंत्र हमारे मुख से सदा निकलता रहे।

अणाति तप्पिपालनेरेयल् मरदिर्दोडे त्रिक्कु त्रिक्कुतं ।
प्राणवियोगमागलनुकंपमना जिनदत्त सेट्टि तां ॥
माणदे पेळे दिव्य मुनिनायकनागि सुत्री णमोरहं—
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्के मगारळ्ं जिना ! ॥८॥

बिल्ली को दूध पिलाना भूल जाने के कारण जब यह बिल्ली दुःख के साथ आकुलित होकर अपने प्राणों को छोड़ने लगी तो उस समय उसे जिनदत्त सेठ ने दया दृष्टि से णमोकार मंत्र सुनाया। उसके प्रभाव से वह मरकर देव गति में पहुँची। वहाँ वह उत्तम ऋधि का धारक देव हुई। तदनन्तर उसने स्वर्गीय सुखों का भोग किया। देवगति पर्याय समाप्त कर जब वह वहाँ से च्युत हुई तब उत्तम कुल में मनुष्य पर्याय प्राप्त कर एवं अनेक विध भोगोपभोग के सुखों को भोगकर सम्यक्त्व सहित धर्म की आराधना करके अन्त में मुनिदीक्षा धारण कर मानव पर्याय को सफल किया। इसी कारण विविध घोर तपश्चरणों के प्रभाव से कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष पद प्राप्त किया।

हे भगवन् ! आप के नाम के मंत्र का यह प्रभाव क्या कम माना जा सकता है ?

मातिन मालेयेके जिन निन्नेडे तन्डेयल्लदन्यरोळ् ।
प्रीतियनावनेय्दिदनवं तळुवेनळलेय्दिदं महा- ॥
भीतियनेय्दिदं भवसमुद्रमनेय्दिदनेंदोडात्मस- ।
द्भूतिगे नीने मान्य पेररिं फलवेन पराजितेश्वरा ! ॥५३॥

हे अपराजितेश्वर ! हे भगवन ! मैं ज्यादा क्या कहूं ? जिन लोगों ने अपने स्वरूप को न पहचान कर पर स्वरूप को ही अपना स्वरूप मान लिया है उनको इस संसार समुद्र में डूबने में क्या विलंब लगेगा ? हे प्रभो ! मैंने भी पर पदार्थ को अपना जानकर उसमें मोह किया जिससे मैं संसार रूपी समुद्र में डूबरहा हूं। इसलिये आज संपत्ति दीजिए। इस आत्म-संपत्ति के दाता आप ही हैं। अब मुझे दूसरों से कोई प्रयोजन नहीं है॥ ५३॥

53 O. Aparajiteswar ! what should I say more? What time they would take in drowning inthe ocean of this world who are mistaking the nature of other substances for their own nature? O. Lord ! I have also been deluded into other objects considering them as mine. Please give me the spiritual wealth, of which you are the only giver. I have concern with none else.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि अधिक कहने से क्या प्रयोजन है ? हे भगवन् ! जिसने परम सुखदायी आप के स्थान को छोड़कर दूसरे के स्थान को अपना मानकर अपनाया उसे अत्यन्त दुःखदायी व भयंकर जन्म मरण प्राप्त होने में क्या देरी है ? यदि

वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो हे परमात्मन् ! आपने संसार में जन्म लेकर भी संपूर्ण कर्मों को नष्ट करके संसार सागर से पार होकर सच्चे आत्मिक सुख को प्राप्त कर लिया है, इसलिये आप हमारे परम पूज्य व मान्य हैं। आपके रहते हुये हमें अन्य से क्या प्रयोजन है ?

इसी प्रकार श्री समन्त भद्राचार्यजी ने भी भगवान् की स्तुति करते हुये कहा है कि—

श्रेयान् श्री वासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमांकोऽथ धर्मो।
हर्यंकः पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोऽनंतवाक् श्रीसुपार्श्वः ॥
शांतिः पद्मप्रभोरो विमलविभुरसौ वर्द्धमानोऽप्यजांको ।
मल्लिर्नेमिर्नमिर्मां सुमतिरवतु सच्छ्रीजगन्नाथधीरम् ॥

(श्री चतुर्विंशति संधा)

जो श्री अजितनाथ स्वामी कर्म रूपी शत्रुओं से कभी जीते नहीं जाते इसीलिये वे श्रेयान अर्थात् प्रशंसनीय कहलाते हैं। श्री समन्तभद्र स्वामी विरचित जिनशतकालंकार में लिखा भी है, "सकलराजराजित प्रभो दयस्व वर्द्धनः सतां तनो हरन् जयन् महोदयापराजितः।" अर्थात् "हे अजितदेव ! कर्म रूपी शत्रुओं ने समस्त संसार को जीत लिया, परन्तु वे आपको न जीत सके, इसलिये ही यह संसार आप को अजित देव करके पुकारता है। हे प्रभो ! आप विनाश रहित हैं, भव्यजीवों के अज्ञानरूपी अन्धकार को नाश करने वाले हैं, वर्द्धमान दयालु और विजयी हैं। हे अजितदेव ! जिसके प्रसाद से आप ऐसे हुये हैं वह सम्यग्ज्ञान

मुझे भी दीजिये।" फिर जो भगवान श्री वासुपूज्य हैं। वा धातु का अर्थ गमन करना व प्राप्त होना है। जो श्री अर्थात् महा विभूति को प्राप्त हों उनको श्रीवा कहते हैं। महा विभूति इन्द्रादिकों के होती है इसलिये इन्द्रादिक श्रीवा कहलाते हैं। जो इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य हों उनको श्री वासुपूज्य कहते हैं। भगवान अजित नाथ स्वामी इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य हैं इसलिये वे श्री वासुपूज्य हैं। फिर जो भगवान् वृषभाजिनपति हैं। महाव्रतादिक धर्म को वृष कहते हैं। जो महाव्रतादिक धर्म से शोभायमान हों उनको वृषभ कहते हैं। गणधरादि देवों को जिन कहते हैं तथा पति स्वामी को कहते हैं। जो महाव्रतादिक धर्म से सुशोभित होने वाले गणधर देवों के स्वामी हों उनको वृषभ जिनपति कहते हैं। भगवान अजितनाथ भी सिंहसेन आदि ऐसे नब्बे गणधरों के स्वामी हैं इसलिये वे वृषभ जिनपति कहलाते हैं। अथवा भगवान् अजितनाथ स्वामी भगवान् ऋषभदेव के समान ही सुवर्ण वर्ण के हैं इसलिये भी वे वृषभ जिनपति कहलाते हैं। अथवा वे वृषभ जिनपति के अनन्तर ही हुये हैं इसलिये भी वे वृषभ जिनपति के समान हैं अत एव वृषभ जिनपति कहलाते हैं। फिर जो भगवान् श्री द्रुमांक हैं। श्री लक्ष्मी को कहते हैं, द्रु अशोक वृक्ष को कहते हैं और म चन्द्रमा को कहते हैं। जिनकी अंक अर्थात् सभा में अशोक वृक्ष और चन्द्रमा हो उनको श्री द्रुमांक कहते हैं। भगवान् अजित देव की सभा में समवशरण रूप महा लक्ष्मी थी, अशोक वृक्ष था और ज्योतिषी देवों का इन्द्र चन्द्रमा सेवा में

उपस्थित था इसलिये वे द्रुमांक कहे जाते हैं। फिर जो भगवान् अथ धर्म हैं। थ थोड़े को कहते हैं। लिखा भी है कि 'थं स्तोकार्थे नपुंसकम्।' थ नपुंसक लिंग है और उसका अर्थ थोड़ा है। थोड़े धर्म को थ धर्म कहते हैं, पर जिनका धर्म थोड़ा न हो—महान् हो उनको अथ धर्म कहते हैं। भगवान् अजितदेव को महान् धर्म तीर्थंकर पद प्राप्त था इसलिये वे अथधर्म कहलाते हैं। फिर जो भगवान् पुष्पदन्त हैं। वे अठारह दोषों से रहित होकर जो पुष्टि को प्राप्त होते रहे उन्हें पुष्पदन्त कहते हैं। अन्त शब्द का अर्थ धर्म है। धनंजय कोश में लिखा है— अंतः पदार्थसामीप्यधर्म सत्त्वव्यतीतिपु। अर्थात् अन्त शब्द का अर्थ पदार्थ समीप धर्म जीव और नाश है। और श्री समन्त भद्र स्वामी ने जिनशता लंकार में भी लिखा है कि:—नानानंतनुतान्त। अर्थात् जिनके अनेक प्रकार के अनन्त अन्त अर्थात् धर्म स्तुति करने योग्य हैं और जिनके अन्त अर्थात् धर्म व स्वभाव अट्ठारह दोषों से रहित होकर सदा सर्वदा पुष्टि होते रहते हैं उनको पुष्पदन्त कहते हैं। भगवान् अजितनाथ भी ऐसे हैं इसलिये वे पुष्पदन्त कहलाते हैं। अथवा जो पुष्टि को प्राप्त हो उसे पुष्यत् कहते हैं। अ शब्द का अर्थ परब्रह्म है। अमान्तो ब्रह्मसंवादे परब्रह्मप्रवाचकः। अर्थात् अ का अर्थ परब्रह्म है तथा ब्रह्म का वाचक है। जो पुष्टि को प्राप्त होते हुये परब्रह्म को और भी बढ़ावे उसको पुष्पदन्त कहते हैं। भगवान् अजित देव ने अपने शुद्ध परब्रह्म स्वरूप आत्मा को समस्त कर्मों का नाश कर और भी शुद्ध किया था इसलिये वे

पुष्पदन्त कहे जाते हैं। फिर जो भगवान मुनिसुव्रत जिन हैं। साधुओं को मुनि कहते हैं। सुव्रत शब्द का अर्थ घिरा हुआ है। और जिन शब्द का अर्थ गणधर है। जिनके समवशरण में जिन अर्थात् गणधर देव मुनियों से घिरे हों उनको मुनिसुवृत जिन कहते हैं। भगवान अजितनाथ के समवशरण में भी गणधर देव अनेक मुनियों के साथ विराजमान थे इसलिये उनको मुनिसुवृत जिन कहते हैं। फिर जो भगवान् अनन्तवाक् हैं। जिनकी वाणी अंतरहित है उनको अनन्तवाक् कहते हैं। भगवान् अजितदेव की दिव्यध्वनि भी अनन्त है। इसलिये वे अनन्तवाक् कहलाते हैं। कदाचित् कोई यह कहे कि भगवान का केवल ज्ञान अनन्तज्ञान कहलाता है। उनके असंख्यातवें भाग में उनकी दिव्यध्वनि खिरती है तथा उस दिव्यध्वनि का असंख्यातवां भाग गणधरों की समझ में आता है। फिर उनकी वाणी को अनंत किस प्रकार कह सकते हैं ? परन्तु इसका समाधान यह है कि वाणी ज्ञान के अनुसार होती है भगवान् के ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा अभाव है। इसलिये उनका ज्ञान भी अनंत ज्ञान है और उनकी वाणी भी अनंतवाणी है। वास्तव में देखा जाय तो भगवान का ज्ञान अनन्तानंत है। यदि उनकी वाणी उसके अनंतवें भाग मात्र भी हो तो भी वह अनन्तरूप ही कही जाती है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि वह वाणी हम लोगों के ज्ञान की अपेक्षा से अनन्त है। फिर जो भगवान् श्री सुपार्श्व हैं। भुजाओं के नीचे कांख और कांख के पास के भाग को पार्श्व कहते हैं। भगवान् का शरीर समचतुरस्रसंस्थान

वाला होता है। इसलिये उनके दोनों पार्श्व भाग बहुत ही सुन्दर होते हैं। तथा वे पार्श्व भाग आत्मा के तेज से सदा शोभमान रहते हैं। इसीलिये वे भगवान श्रीसुपार्श्व कहे जाते हैं। तथा जो भगवान् शांति हैं। शं सुख को कहते हैं और अंति अंतिक वा समीप को कहते हैं (यहां पर अंति शब्द अंतिक के लिये आया है। किसी नाम का एक भाग भी पूरे नाम को बतलाता है।) जिनके समीप सब जीवों को सुख प्राप्त हो उनको शांति कहते हैं। भगवान् अजितनाथ के समीप भी सब जीवों को सुख प्राप्त होता है, इसलिये वे शांति कहलाते हैं। तथा जो भगवान् पद्मप्रभु हैं। पद् प्राप्ति को कहते हैं। मा लक्ष्मी को कहते हैं। जिसमें लक्ष्मी की प्राप्ति हो उनको पद्म कहते हैं। सुवर्ण में लक्ष्मी की प्राप्ति होती है इसलिये सुवर्ण को पद्म कहते हैं। जिनके शरीर की कांति वा प्रभा सुवर्ण के समान हो उनको पद्मप्रभ कहते हैं। भगवान् के शरीर की कांति सुवर्ण के समान थी इसलिये वे पद्मप्रभ कहलाते हैं। अथवा विहार करते समय देव जो भगवान् के चरण कमलों के नीचे सुवर्णमयी कमलों की रचना करते थे उन पर उत्तम कांति भगवान् के चरण कमलों के निमित्त से ही आती थी इसीलिये वे पद्मप्रभ कहलाते हैं। फिर जो भगवान् अर है। र का अर्थ धन है। लिखा भी है "रः सूर्ये-ग्नौ धने कामे" अर्थात् र का अर्थ सूर्य अग्नि धन और काम है। जिनके पास कोई किसी प्रकार का धन या परिग्रह नहीं है-सर्वथा निर्ग्रंथ हैं उनको अर कहते हैं। भगवान् अजितदेव भी चौबीसों प्रकार के अंतरंग बाह्य परिग्रहों से रहित हैं इसलिये

वे अर हैं। तथा जो भगवान विमलविभु हैं, जिनके कर्ममल नष्ट हो गये हैं ऐसे सगर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों को विमल कहते हैं। भगवान अजितदेव उन सगर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के स्वामी हैं इसलिये वे विमलविभु कहते जाते हैं। फिर जो भगवान् वर्द्धमान हैं। जो कभी नाश न हो उसको अवर्ध कहते हैं। मान का अर्थ केवल ज्ञान है। जिनका केवल ज्ञान कभी नष्ट न हो धारा रूप में सदा विद्यमान रहे उनको अवर्द्धमान कहते हैं। श्री अजितनाथ भगवान् का केवल ज्ञान भी सदा विद्यमान रहता है इसलिये वे वर्द्धमान कहलाते हैं। यहाँ पर अवाप्योरुपसर्गयोः इस सूत्र से अ का लोप हो गया है। फिर जो भगवान अजांक है। तीनो लोकों के स्वामी केवली भगवान को अज कहते हैं। जिनके अंक वा समीप में भी केवल ज्ञानी हो उनको अजांक कहते हैं। भगवान् अजितनाथ के समवशरण में भी केवल ज्ञानी थे इसलिये वे अजाँक कहे जाते हैं। तथा जो भगवान् मल्लि हैं। उन्होंने कर्म रूप शत्रुओं को जीत लिया है इसलिये वे महा मल्ल अथवा मल्लि कहे जाते हैं। फिर जो भगवान् नेमि हैं। भव्यजीव जिन से धर्म की पुष्टि को प्राप्त हो उनको नेमि कहते हैं। भगवान् अजितनाथ से भी अनेक भव्य जीव धर्म धारण कर मोक्ष पधारे हैं इसलिये वे नेमि कहे जाते हैं। फिर जो भगवान् नमि है। मि हिंसा को कहते हैं। जिनके मत में एकेंद्रिय आदि सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा नहीं है उनको नमि कहते हैं। भगवान अजितनाथ के मत में भी हिंसा नहीं है। इसलिये वे नमि हैं। फिर वे भगवान् सुमति अर्थात्

शोभायमान केवलज्ञानरूप ज्ञान को धारण करने वाले हैं इसलिये वे सुमति कहलाते हैं। तथा जो भगवान सत् अर्थात् सदा इसी अवस्था में रहने वाले हैं। जन्म मरण से सर्वथा रहित है। तथा वे हर्यंक है। हरि अर्थात् हाथी और अं अर्थात् चिन्ह। जिनके चरण कमलों में हाथी का चिन्ह है ऐसे श्री अजितनाथ स्वामी द्वितीय तीर्थंकर मेरी रक्षा करो।

हे भगवन ! आप ही सारी संपत्ति के स्वामी हैं। आपका स्थान ही संसारी प्राणियों को सुख देने वाला है इसलिये हे भगवन् ! संसार के सभी भव्य प्राणी आपके स्थान का ही सहारा प्राप्त करके सुखी होना चाहते हैं। पूज्य पाद आचार्य ने भी शान्ति भक्ति में इस प्रकार कहा है कि:—

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्पादद्वयं ते प्रजाः ।
हेतुस्तत्र विचित्र दुःखनिचयः संसारघोरार्णवः ॥
अत्यंतस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमंडलो ।
ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ॥१॥

हे भगवन् ! संसारी जीव आप के दोनों चरण कमलों की शरण आये हैं सो कुछ आप के स्नेह से नहीं आये हैं, किन्तु आप के चरण कमलों की शरण में आने का कारण अनेक प्रकार के दुःखों से भरा हुआ यह संसार रूपी महासागर ही है। इस दुःख स्वरूप संसार से त्रस्त होकर ही आपके चरण कमलों में शरण आये हैं। क्योंकि आप के चरण कमल इस संसार के दुःख को समूल नाश कर देते हैं। गर्मी के दिनों में चन्द्रमा की किरणों

से पानी और छाया से अनुराग होता है उसका कारण जिसकी अत्यन्त, देदीप्यमान तेज किरणों का समूह समस्त संसार में व्याप्त हो रहा है ऐसा ग्रीष्म ऋतु का सूर्य ही समझना चाहिये। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार गर्मी के दिनों में सूर्य से संतप्त होकर यह जीव छाया और जल से अनुराग करता है, क्योंकि छाया और जल उस संतप्त को दूर करने वाले हैं, इसी प्रकार आपके चरण कमल भी संसार के सकल दुःखों को दूर करने वाले हैं। इसीलिये संसार के दुःखों से अत्यन्त दुःखी हुये प्राणी उन दुःखों को दूर करने के लिये आपके चरण कमलों की शरण लेते हैं।

आगे यह बतलाते हैं कि जिनेंद्रदेव में ही भक्ति का क्या कारण है?

आवनुनक्के निम्मडिगळं नेनेवातने नन्न बंधु स-
द्भावदे पूजिपातने मखं श्रुतयोगसमृद्धनेन्न सं- ॥
जीवकनेंबेनेंकिनितु पन्नविदेंबय नन्न मेच्चिना ।
देवेन नच्चिदातननगन्यने पेळपराजितेश्वरा ! ५४ ॥

हे अपराजितेश्वर ! ऐसा कोई भी प्राणी हो जो आपके चरण कमलों की उपासना करता है वह मेरा बंधु है और जो अपने शुद्ध परिणामों से आपके चरणों की पूजा करता है वही मेरा प्रिय भी है। आपको तत्त्वों से परिपूर्ण उपदेश ही मुझ जैसे संसार रोगी के लिये संजीवन औषध है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। भगवन् ! यदि आप यह कहें कि जैसी मुझ पर भक्ति है वैसी अन्यदेव पर क्यों नहीं तो मैं कहता हूँ कि अब आप मुझे ऐसा न कहें क्योंकि

मैंने और सबको परख लिया है ॥५४॥

54. O, Aparajiteshwar! Any living being who worships your feet is my brother & a friend. The Preaching in your scriptures is the Sanjivan medicine (life-giving medicine) for such a worldpatient as I. This is my firm conviction. O Lord! If you say that why do I not have the devotion for oteer devas then I have simply to ask you not to say so. I have scrutinised them all.

विवेचन:—ग्रन्थकार यह कहते हैं कि कोई भी प्राणी आपके चरण कमलों का स्मरण करने वाला है तो वह मेरा परम मित्र व परम बन्धु है अर्थात् आपके चरण कमलों का जल, चन्दन, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप तथा फल आदि अष्ट द्रव्यों से पूजा करने वाला और दूध दही घी इक्षुरस तथा शर्करा आदि से आपका अभिषेक करने वाला भव्य जीव ही मेरा मित्र है। हे स्वामिन् ! आपके संपूर्ण शास्त्रों और तत्त्वों से परिचित हुआ भव्यात्मा जीव मेरे लिये संजीवन औषधि के समान अत्यन्त हितकारी है, ऐसा मैं समझता हूँ। इस प्रकार अपने प्रति सन्मुखता देख तथा सुनकर भगवान अपने भक्त से पूछते हैं कि हे भव्यात्मन् ! हमारे प्रति तुम्हारी इतनी भक्ति क्यों ? हमारे समान अन्य देवों में भी भक्ति करते हो क्या ? क्योंकि उनकी भी तो देव संज्ञा है।

भक्त कहता है कि:—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्रविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

(देवागम स्तोत्र)

हे भगवन् ! आप निर्दोष देव इसीलिये हैं कि आपके वचन युक्ति और शास्त्र दोनों से ही विरुद्ध नहीं हैं। अतएव आप सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी हैं। फिर भगवान कहते हैं कि हमारे वचन अविरोधी कैसे है ? तब भक्त कहता है कि आपका वचन या उपदेश ही संसार के समस्त प्राणियों का इष्ट है अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों का लाभकारी है और वह प्रसिद्ध से बाधित भी नहीं होता।

प्रथम तो अरहंत भगवान के द्वारा कहा हुआ है जो मोक्ष तत्त्व है वह प्रमाण से निर्बाध है। इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष प्रमाण तो मोक्ष का विषय है ही नहीं, फिर वह बाधक कैसे हो सकता है ? यदि बाधक या साधक होगा भी तो वह अपने विषय में ही होगा, परन्तु यह अनुमान और आगम से मोक्ष का अस्तित्व स्थापित ही है। जहां आवरणादि दोषों का अत्यन्ताभाव होकर अनन्त ज्ञानादि का लाभ हुआ है वहीं अनुमान आगम से मोक्ष प्रसिद्ध है। वैसे ही मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र है और वह प्रमाण से सिद्ध है। क्योंकि कारण के बिना कार्य का न होना प्रसिद्ध है और जो संसार तत्त्व है वह भी प्रमाण से बाध्य नहीं होता।

अपने उत्पन्न किये हुये कर्म के वश होकर आत्मा और कर्म

के एकीभाव होने के कारण अन्य भव की प्राप्ति करना संसार है, जो प्रत्यक्ष है। वह अनुमान का विषय तो है ही नहीं; फिर उसकी बाधा कैसे आ सकती है ? और इसका विषय हो तो वह साधक ही होगा बाधक नहीं हो सकता। संसार का कारणत्व भी प्रमाण बाधित नहीं है, इसलिये कारण बिना कार्य नहीं है। मिथ्यात्व इत्यादि संसार के कारण प्रसिद्ध हैं।

मोक्ष, मोक्ष का कारण और संसार, संसार का कारण होने मे प्रमाण के अनुसार बाधा नहीं आती। इसीलिये अरहन्त भगवान के वचन युक्ति शास्त्र के अनुसार होने से निर्बाधित हैं।

भगवान् के ऐसे निर्बाधित वचन उनके निर्दोषपने को सिद्ध करते हैं। यदि कोई कहे कि सर्वज्ञ वीतराग की इच्छा के बिना उपदेश रूप वचन की प्रवृत्ति कैसे होती है ?

उत्तर में कहते हैं कि वचन की प्रवृत्ति के कारण नियम से इच्छित नहीं हैं। जैसे प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुये आदमी की इच्छा के बिना भी नाक से घुर्राहट आवाज स्वयं निकलती रहती है, उसी प्रकार भगवान् के वचन नैसर्गिक रूप से स्वतः निकलते रहते हैं। इसलिये सर्वज्ञ वीतराग भगवान् की स्तुति करने योग्य है।

हे भगवन ! आप सांसारिक प्राणियों का दुःख दूर करने वाले हैं अतएव भव्य जीव, संसार रूपी दुःख से छुटकारा पाने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार पाषाण, सोने, चांदी तथा रत्नादिक धातुओं की आपकी मूर्त्ति बनाकर श्रद्धा पूर्वक उसका दर्शन पूजन

तथा स्तुति इत्यादि बड़े उत्साह से करते हैं और भाव पूर्वक आराधना करने के कारण संसार के बंधनों से छूट जाते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शंकाः—मूर्ति बनवाकर उसकी पूजा आराधना करके पुण्यबंध करना तो ठीक है, परन्तु अभिषेक करने का विधान क्या कहीं शास्त्र में मिलता है ? जो अभिषेक भगवान् का किया जाता है वह क्या आगमानुकूल है ?

इसके समाधान में कहते हैं किः—

कारयन्ती जिनेन्द्रार्चाश्चित्रा मणिमयीर्बहूः ।
तासां हिरण्मयान्येव विश्वोपकरणान्यपि ॥१७३॥
तत्प्रतिष्ठाभिषेकान्ते महापूजाः प्रकुर्वती ।
मुहुः स्तुतिभिरर्थ्याभिः स्तुवती भक्तितोऽर्हतः ॥१७४॥
ददती पात्रदानानि मानयन्ती महामुनीन् ।
शृण्वंती धर्ममाकर्ण्य भावयन्ती मुहुर्मुहुः ॥१७५॥
आप्तागमपदार्थांश्च प्राप्तसम्यक्त्वशुद्धिका ।
अथ फाल्गुननन्दीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेशिनाम् ॥१७६॥
विधायाष्टाह्निकीं पूजामभ्यर्चार्चा यथाविधि ।
कृतोपवासा तन्वङ्गी शेषां दातुमुपागता ॥१७७॥
नृपं सिंहासनासीनं सोऽप्युत्थाय कृताञ्जलिः ।
तद्दत्तशेषमादाय निधाय शिरसि स्वयम् ॥१७८॥

(महापुराणे चत्वारिंशत्तमे)

काशी नरेश महाराजा अकंपन की कन्या सुलोचना ने श्री जिनेन्द्र देव की अनेक प्रकार की रत्नमयी बहुतसी प्रतिमायें बनवाई थीं और उनके सब उपकरण भी सुवर्ण ही के बनवाये थे। प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी अभिषेक हो जाने के पश्चात् वह उन प्रतिमाओं की महापूजा करती थी, अर्थपूर्ण स्तुतियों के द्वारा श्री अर्हन्तदेव की भक्ति पूर्वक स्तुति करती थी, पात्र दान देती थी, महामुनियों का सन्मान करती थी, धर्मों को सुनती थी तथा उसे सुनकर आप्त आगम और पदार्थों का बारंबार चिन्तवन करती हुई सम्यग्दर्शन की शुद्धता को प्राप्त करती थी। अथानन्तर—फाल्गुन महीने की अष्टाह्निका में उसने भक्ति पूर्वक श्री जिनेन्द्रदेव की अष्टाह्निकी पूजा की, विधिपूर्वक प्रतिमाओं की पूजा की, उपवास किया और फिर वह कृशांगी पूजा के शेषाक्षत देने के लिये सिंहासन पर बैठे हुये राजा अकम्पन के पास गई। राजा ने उठकर और हाथ जोड़कर उसके दिये हुये शेषाक्षत को स्वयं अपने मस्तक पर रक्खे तथा यह कह कर कन्या को विदा किया कि हे पुत्री! तू उपवास से खिन्न हो रही है, अब घर जा क्योंकि यह तेरे पारणा का समय है। तत्पश्चात् पिता की आज्ञा सुनकर पुण्यशाली कन्या सुलोचना पारणा करने के लिये घर पर चली गई और अन्त में उपर्युक्त विधि से भगवान् की पूजा करने के प्रभाव से परम सुख प्राप्त किया।

प्रश्नः—भगवान् के ऊपर पाँचों रस अर्थात् दूध दही घी इक्षु रस तथा शर्करारस इत्यादि से पृथक् पृथक् अभिषेक करने का

क्या प्रयोजन है ?

उत्तर:—भगवान् के ऊपर घृताभिषेक करने का प्रयोजन यह है कि भगवान् के शरीर की कांति की तुलना घी के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से नहीं हो सकती। इसलिये उनके ऊपर विशुद्ध गाय के घृत का अभिषेक किया जाता है और उनका अभिषेक करते समय भव्य भक्त इस प्रकार की प्रार्थना करता है कि—हे भगवन् ! स्वर्ण सदृश आपकी मनोहर मूर्ति का अभिषेक स्वर्ण वर्ण के समान् स्वच्छ गोघृत से हम इस अभिप्राय से करते हैं कि जिससे हमें तीर्थंकर के समान कांतिमय शरीर प्राप्त हो। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार गाय का घी सेवन करने से शरीर में कान्ति शक्ति व पुष्टि आदि का विकास होकर मंगलकारी बन जाता है उसी प्रकार मंगलमय शरीर को उत्पन्न करने वाले जिनेन्द्र भगवान् के ऊपर घी का अभिषेक किया जाता है।

दुग्धाभिषेक—तीर्थंकरों के शरीर का रक्त (खून) दूध के समान सफेद होता है। इसीलिये इन्द्रादिक देव क्षीर सागर से क्षीर लाकर भगवान् के ऊपर अभिषेक करते हुये जिस प्रकार से भावना करते हैं कि हे भगवन् ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हमारा भी रक्त आपके समान सफेद हो जाय, उसी प्रकार भगवान दूध का अभिषेक करने वाला भव्य भक्त भी भगवान से प्रार्थना करता है कि हे नाथ ! आपकी कृपा से हमारा रक्त आपके समान सफेद हो जाय अर्थात् हम भी आप जैसे तीर्थंकर पद प्राप्त कर लें।

दध्यभिषेक:—

भगवान की मूर्ति पर दही का अभिषेक ऐसा लगता है कि मानो चारों घातिकर्म के नष्ट हो जाने से अन्तरङ्ग व्याप्त शुक्ल ध्यान ही बाहर उमड़ रहा हो ! भगवान की मूर्ति पर जो दही का अभिषेक करता है वह परम्परया शुक्लध्यान को प्राप्त होता है और स्वयं भगवान् बन जाता है।

इक्षुरस अभिषेक:—

इक्षुरस स्वभाव से ही मधुर होता है, बलकारी भी है, भगवान ऋषभदेव ने प्रव्रज्याकाल में सबसे पहिले इसी का आहार भी किया था। मुझमें भी यह स्वभाव माधुर्य तथा अनन्त बल की प्राप्ति हो इसीलिये हे भगवन् ! आपके ऊपर मैं इक्षुरस का अभिषेक करता हूँ। जैसे इक्षु के कण-कण में मधुर रस व्याप्त रहता है वैसे ही हमारे आत्मा में भी समस्त दर्शन ज्ञान चारित्रमय निज रस घुल जाय, इसी भावना से हम इक्षुरस से आपका अभिषेक करते हैं।

जैसे कदली फल (केले) में मधुरता तथा स्वादिष्टता है, उसी तरह भगवान में भी आत्मरस की स्वादिष्टता तथा अनुपम मधुरता है, वह मुझमें भी प्राप्त होजाय इसीलिये मैं कदली फल के रस से हे भगवन् ! आपके ऊपर अभिषेक करता हूँ।

चन्दन केसर कुंकुमादि में जिस प्रकार सुगन्धता और संताप हारक जो शक्ति है उसी प्रकार हे भगवन् ! आपके शरीर में भी सुगन्धता और संसार ताप नाशक शक्ति है, वही शक्ति मुझ में

भी प्राप्त होजाय और मेरा संसार ताप नष्ट होजाय इसलिये इन पदार्थों से हे भगवन्! आपके ऊपर मैं अभिषेक करता हूँ।

प्रश्न—क्या भगवान पर प्रत्येक ही मनुष्य पर्याय धारी अभिषेक कर सकता है?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—भगवान् तीन लोक के नायक हैं जैसे साधारण राजा के पास जाने के लिये अनेक गुणों युक्त मानवता की आवश्यकता है तो तीन लोक के स्वामी का अभिषेक करने के लिये विशिष्ट पात्रता आवश्यक है।

प्रश्न—उस मानवता या पात्रता का क्या लक्षण है?

उत्तर—भगवान् का अभिषेक या अभिषेक पूर्वक पूजा करने का वही अधिकारी है जो द्विजाति हो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो, जिसके कुल में व्यभिचार का दोष न आया हो, और न स्वयं व्यभिचार जात हो, विशुद्ध जाति वाला हो, अष्टमूल गुण का धारक सदाचारी हो, न तो हीनांग हो और न अधिकाङ्ग हो, मिथ्यादृष्टी न हो, पाप कर्मों से आजीविका चलाने वाला न हो, अभिषेक पूजादि की विधि जानता हो, ऊंघने की जिसकी आदत न हो, न अधिक वृद्ध हो और न अधिक बालक ही हो, अत्यन्त लोभी न हो, दूषित आत्मा न हो, अत्यन्त मायाचारी तथा अभिमानी न हो, अपनी जाति से पतित या निषिद्ध न हो, जिनसंहिता का ज्ञाता हो, यज्ञोपवीतादिक संस्कार से युक्त हो,

न बहुत अधिक लम्बा ही हो और न वावन ही हो, वही जिनेन्द्रदेव के पूजा अभिषेक का अधिकारी है।

प्रश्न—यदि अनधिकारी मनुष्य पूजा अभिषेक करे तो क्या होगा ?

उत्तर—यदि अनधिकारी पुरुष त्रिलोक नायक भगवान की पूजा अभिषेक करे तो करने वाला कराने वाला राजा और राष्ट्र सभी में घोर विपत्तियां आ जाती हैं।

प्रश्न—स्त्री को भी जिनाभिषेक या जिन पूजा करने का अधिकार है या नहीं ?

उत्तर—स्त्री और पुरुष यदि श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हों तो दोनों ही भगवान का अभिषेक या पूजा कर सकते हैं तथा मुनियों को आहार दान दे सकते हैं। चरणानुयोग के ग्रन्थों से कोई विरोध नहीं है तथा ऐसे हजारों उदाहरण भी शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

प्रश्न—बहुत से लोग स्त्री द्वारा जिनाभिषेक करने के विरोधी क्यों हैं ?

उत्तर—इसे तो वे ही जानें। इसका उत्तर क्या दिया जाय ? क्योंकि आगम में तो इसका निषेध है नहीं।

जिन संहिता में भी कहा है कि:—

न शूद्रः स्यान्न कुदृष्टिर्न पापाचारपंडितः।
न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नातंकपरिदूषितः॥
नाधिकांगो न हीनांगो नातिदीर्घो न वामनः।
नाविदग्धो न तन्द्रालुर्नाति वृद्धो न बालकः॥

नाति लुब्धो न दुष्टात्मानाति मानी न मायिकः।
नाशुचिर्न विरूपांगो नाजानन् जिनसंहिताम् ॥
निषिद्धः पुरुषो देवं यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ॥
राजाराष्ट्रादिनाशः स्यात्कर्तृकारकयोरपि ॥
तस्मात् यत्नेन गृह्णीयात् पूजकस्त्रिजगद्गुरुम् ।
उक्त लक्षणमेवार्यः कदाचिदपि नापरः ॥
यदीन्द्रवृंदार्चितपादपंकजं जिनेश्वरं प्रोक्तगुणः समर्चयेत् ॥
नृपश्च राष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत्तथैव कर्ता च जनश्च कारकः ॥

अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। इसलिये अनधिकारी पुरुष या स्त्री को जिनाभिषेक या जिनपूजा कभी नहीं करना चाहिये और न उनसे कराना चाहिये, क्योंकि अन्य मत में भी लिखा है कि:—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजा व्यतिक्रमः ॥
तत्र त्रीणि भविष्यन्ति दारिद्र्यं मरणं भयम् ॥

अर्थात् जहां अपूज्यों की पूजा होती है तथा पूज्यों की पूजा में हेर फेर होता हो वहां दरिद्रता मरण और भय इत्यादि आपत्तियां आती रहती हैं।

आगे के श्लोक में कहते हैं कि यह संसार इन्द्रजाल, मन्मथ तथा पिशाच के समान अनेक आडम्बर रचाने वाला है।

लोकमिदेल्लवुं स्मरपिशाचविजृंभितमिंद्रजालवि-
द्याकथनं यमासुरन दीपनदाहुतियल्लि पत्तदिं ॥

शोकमनार्गे मालुपेनोलिदिर्दैनदार्गे कन्ल्वेनार्गेनल् ।
मृकतेयु दयोक्कि येरडे हितमिन्नपराजितेश्वरा ॥५५॥

हे अपराजिश्वर ! यह सारा विश्व कामदेवरूपी पिशाच के आधीन है जो कि इन्द्रजाल विद्या के समान है और यमराज नामक दीपक में घृत डालने के समान है। कहिये भगवन् ! अब इस विश्व में किस के लिये शोक करूं ? किसके लिये पक्षपात करूं ? किस पर प्रेम करूं ? और किस पर राग करूं ? अब तो मुझे प्राणीमात्र के साथ उपेक्षा और संसार के कामों में मौन ही प्रिय लगता है ॥ ५५ ॥

55. O. Aparajiteshwar ! This whole world is enslaved by the devil Kamadeva, who is a delusion & who enkindles the fire of Death. Tell me Lord, for what should I be sorry in this world, favour, love & get attached. Now I like the indifference with all the living beings & silence with regard to the worldly activities.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि समस्त संसार मन्मथ रूपी पिशाच के आधीन हुआ है, इन्द्रजाल विद्या के समान क्षणिक है तथा यमराज नामक दैत्य के हाथ के दीपक की आहुति है। इसलिये जीव को किसी के प्रति पक्षपात नहीं करना चाहिये।

इस संसार में माता, पिता, भाई बन्धु, स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्बादि के सम्बन्ध अनादि काल से होते और छूटते चले आरहे हैं पर किसी ने स्थायी साथ न दिया, इसलिये अब मैं किसके लिये रुदन

तथा किससे प्रेम करूँ ? हे भगवन् ! मौन धारण करके प्राणी मात्र के साथ दया करने से ही हमारा हित है, अन्य से नहीं कहा भी है कि—

कति न कति न वारान् भूपतिर्भूरिभूतिः ।
कति न कति न वारानत्र जातोऽस्मि कीटः ॥
नियतमिह न कस्याप्यस्ति सौख्यं न दुःखं ।
जगति तरल रूपे—किं मुदा किं शुचा वा ॥

अधिक सम्पत्तिशाली चक्रवर्ती राजा महाराजा इत्यादि वैभवशाली होकर मैंने इस पृथ्वीतल पर कितने कितने वार जन्म नहीं लिया ? कीड़े, मकोड़े, डांस, मच्छर आदि पर्यायों में मैं कितने कितने वार जन्म नहीं लिया ? तथा चंचलमय इस संसार में किसी को भी सुख और दुख निश्चित रूप से नहीं प्राप्त हुआ । ऐसे क्षणिक संसार में सुख और दुःख से क्या होगा ? अन्त में इस जीव के लिये एक मात्र धर्म ही शरण है, दूसरा नहीं । कहा भी है कि:—

धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः ।
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरं पुत्रार्थिनां पुत्रदः ॥
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नाना विकल्पैर्नृणां ।
तत्किं यन्न ददाति किं च तनुते स्वर्गापवर्गावपि ॥

यह धर्म धन की इच्छा करने वालों को धन देता है, अभीष्ट की इच्छा करने वालों के अभीष्ट को पूर्ण कर देता है, सौभाग्य की कामना रखने वालों को सौभाग्य देता है और क्या ? पुत्र की

इच्छा करने वालों को पुत्र देता है, राज्य की इच्छा करने वालों को राज्य देता है, इसलिये नाना प्रकार से संकल्प विकल्पों से क्या लाभ है ? संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे धर्म न देता हो और अन्त में यह धर्म स्वर्ग और मोक्ष पद प्राप्त कराकर जीव को सदा के लिये सुखी बना देता है। अतः आत्म हित चाहने वाले जीव को सदा धर्माराधन करते रहना चाहिये क्योंकि धर्म के अतिरिक्त इस जीव का रक्षक कोई दूसरा नहीं है। अब मनुष्य जीवन को क्षण भंगुर बतलाते हैं।

प्रसुप्ते मरणाशंकां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम् ।
प्रत्यहं जनयत्येष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम् ॥

जब जीव सो जाता है तब तो मरा हुआ सा दीखा करता है और जाग उठता है तब जीने की खूब चेष्टा करने लगता है। ऐसा हाल किसी एक दिन का नहीं है किन्तु प्रतिदिन ऐसा ही हुआ करता है। जो कि इस तरह प्रतिदिन अन्त होने का सा अभ्यास किया करता है वह कहां तक इस शरीर में ठहरेगा ? बहुत ही शीघ्र कभी न कभी सचमुच ही निकल जायगा अथवा जो सदा ऐसा धोखा देता है उसका कहां तक यह विश्वास किया जा सकता है कि यह कभी सचमुच ही न निकल जाय ? वह तो कभी न कभी अवश्य निकलेगा। इसलिए उसके रहते २ जो करना हो वह कर लेना चाहिए। करना यही है कि विषय से प्रीति हटाकर तपश्चरण द्वारा परभव का सुधार कर लिया जाय। इस प्रकार शरीर से आत्मा के हित की आशा रखना सर्वथा निर्मूल है।

मोन्ने वरुत्त कंडेनवनं मृतवादने यादनक्कटा ! ।
निन्ने सुगोष्टि गेय्देनिवनोळ् लयवादने यादनय्यो ! इं-
देन्नोडचंदनीतकटा ! कंडेगंडने कंडनेंव मा- ।
तं नेरे केळ्दुतेन्नोडलनच्चुवेनेंतपराजितेश्वरा ! ॥५६॥

हे अपराजितेश्वर ! जिसे मैंने परसों बहुत अच्छी दशा में देखा था और जो कल ही मेरे साथ एक सभा में भी बैठा था वह आज ही मृत्यु को प्राप्त होगया। जब मैं ऐसी घटनायें रोज अपनी आंख से देखता हूँ, कान से सुनता हूँ तो प्रभो ! ऐसे शरीर पर मैं कैसे निश्चय करूं कि यह क्षणिक नहीं है ॥ ५६ ॥

56. O, Aparajiteshwar ! whom I saw day before yesterday alright & who sat with me in the meeting yesterday, has died today. When I see such things with my eyes & hear with my ears, then Lord ! how can I believe in the body that it is not momentary.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि कर्म की कैसी विचित्रता है ! मनुष्य जीवन बिजली के समान क्षणभंगुर है। ओहो ! मैंने उस मनुष्य को परसों ही मार्ग में आते हुये देखा था, पर क्या आज उसकी मृत्यु हो गई ? अरे, परसों की बात तो दूर करो, वह कल ही हमारे साथ सभा में गया था; किन्तु क्या आज वह मर गया ? हा ! सचमुच में आज ही वह मर गया "यह कितने आश्चर्य की बात है," ! हे भगवन् ! इन सब सांसारिक बातों को प्रत्यक्ष

आंखों से देखते हुये तथा कानों से सुनते हुये मैं संसार का कैसे विश्वास करूं ? अरे ! इन वातों को जान समझकर भी मैंने अपना आत्म-कल्याण अभी तक नहीं किया, तो मेरे समान अन्य कौन मूर्ख होगा ?

काल दिवस का काज जो आज होय तो श्रेष्ठ ।
निष्ठुर हृदया काल की गति नहिं जाने ज्येष्ठ ॥१॥
अस्थिर जीवन मरण है जा मन निश्चय होय ।
वलि वेदी के जीववत् जीवन क्या तस जोय ॥२॥
ऋद्धिवंत सुरगण सभी दानवेंद्र प्रख्यात ।
बलशाली भूपाल भी कालग्रास विख्यात ॥३॥
नरवर जाके मरणते होय स्वर्ग अपवर्ग ।
ता मानव को मरण भी परमोत्सव को स्वर्ग ॥४॥
धर्यवान की मृत्यु हो है कायर भी मर्त्य ।
धैर्य मरण तव श्रेष्ठ है क्यों हो कायर कृत्य ॥५॥
कृषक पक्व ज्यों धान्यको काटे तद्वत् जीव !
निजकृत दुष्कृत कर्मका फल भोगे वहु भीव ॥६॥
व्याधि जरा दुख रोग औ मनुष्यत्व है व्यर्थ ।
तज्जीवन पल मात्र भी होय मृत्यु के अर्थ ॥७॥
मृग प्रति ज्यों मृग को ग्रसै तावत् मुझ को जान ।
तात मात सुत वन्धु भी नहीं सहायक मान ॥८॥
क्रूर कालके वश सभी तीन लोक के जीव ।
दुष्ट मृत्यु से मुक्ति तो सिद्ध मांहि हो जीव ॥९॥

संसार की अनित्यता के सम्बन्ध में आचार्य और भी कहते हैं कि:—

एलेयेले इत्तलिर्द् मोगवन्नोलेढीविरे मुन्न कंडरोळ् ।
केलवरनल्लि काणलरिदिदु तोरुत मायमप्प मे—
य्वले योळ् वालवेनेंब मनवल्लदे तत्तनुवं तपंगलोल ।
सलिसि निजत्वमं पडेयलंजुवनेकपराजितेश्वरा ॥५७॥

अपराजितेश्वर ! अहो ! इधर से उधर मुंह घुमाने जितने समय में भी जब संसार की स्थिति कुछ से कुछ अर्थात् सर्वथा विपरीत दशा में देखता हूँ तो ऐसे क्षण में अदृष्ट होने वाली वस्तुओं तथा शरीर में ममत्व रखने से कोई लाभ नहीं प्रतीत होता। इसलिये इस शरीर से मुझे अपने आत्म-साधन में ही कल्याण दीखता है। यदि मैं ऐसी दशा में भी इस संसार से भय-भीत हो अपनी ओर नहीं झुकता हूँ तो मेरे समान अन्य कोई मूर्ख नहीं है ॥५७॥

57. O. Aparajiteshwar ! When I percieve a complete change in the conditions of the world even in the little time of eyewinking, then I think no good in having attachment with the body & such other evanescent things The use of this body in spiritual elevation is the only benefit I percieve. If I do not become afraid of this world even in these conditions then there is no one more foolish than me.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि मैंने अभी अभी जिस मनुष्य को मुड़कर देखा था उसी मनुष्य को दुबारा देखने के लिये जब मैंने दृष्टिपात किया तो वह नहीं दीख पड़ा अर्थात् वह न जाने कहां गायब होगया। फिर ऐसे क्षणिक तथा अदृश्यमय शरीर के जाल में कौन बुद्धिमान फँसने की इच्छा करेगा ? ऐसा विचार कर हे जीव ! तू अपने शरीर से जीने की आशा छोड़कर इसको तप साधन के उपयोग में लगाकर आत्म-साधन करलो। इसके लिये तू व्यर्थ में भय करता है। आत्मानुशासन में कहा भी है कि:—

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं।
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराबबहुलं।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः,
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥१०५

खूब विचार करो तो मालूम पड़ेगा कि गर्भ से लेकर आखिर तक यह शरीर क्लेशों से भरा हुआ है, अति अपवित्र है, सदा भयदायक है, कुटिलता का पुंज है, तिरस्कार कराने का मुख्य हेतु है, पापों की सदा उत्पत्ति करता रहता है। इसीलिये विवेकी मनुष्य इसे छोड़ना पसन्द करते हैं और फिर भी जिसके छोड़ने से यदि मुक्ति प्राप्त होने वाली हो, या सब प्रकार के क्लेश दुःख दूर हो सकते हों तो उसे कौन ऐसा मूर्ख होगा जो छोड़ना न चाहता हो ? ठीक इस शरीर का सम्बन्ध एक दुष्टजन के सम्बन्ध के तुल्य है। दुष्टजनों के सम्बन्ध से क्लेश होता है, अपवित्रता रहती है,

अनेक प्रकार के भय होते रहते हैं, तिरस्कार सहने पड़ते हैं। वैसे ही इस शरीर के सम्बन्ध से भी ये सब बातें पैदा होती हैं। दुष्ट-जन निष्कारण दुःखदायक होते हैं, शरीर भी निष्कारण ही दुःख देता है। इसलिये जबकि दुष्टजन के समागम से सभी दूर रहना चाहते हैं तो शरीर से भी दूर होने का प्रयत्न करना चाहिये। इसका जब तक सम्बन्ध है तब तक दुःखों से छुटकारा मिलना या परम कल्याण प्राप्त होना भी असम्भव है। इसलिए इसका छोड़ना सभी विवेकी जनों को पसन्द होना चाहिये।

परन्तु सीधे शरीर को छोड़ने से शरीर थोड़ा ही छूटता है ? एक शरीर छूटेगा तो दूसरा नवीन शरीर धारण करना होगा। राग द्वेष तथा मिथ्याज्ञान जब तक निर्मूल नहीं हुये हों तब तक शरीर का सम्बन्ध इसी प्रकार लगा रहेगा। पूर्व बद्ध कर्म से उदय काल में नवीन रागद्वेष उत्पन्न होते हैं जिससे कि नूतन कर्म बन्ध हो जाता है। इस कर्म का भी उदय प्राप्त करके फिर नये कर्मों को बांधता है। इस प्रकार कर्म तथा राग द्वेष की लड़ी शरीरों को उत्पन्न किया करती है। इसलिये शरीर नाश करने से पहले इस लड़ी का धीरे-धीरे नाश करना चाहिये। तब सम्भव है कि शरीर का नाश कभी पूरा हो जाय।

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं,
त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवर्तिभि-
र्ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ॥१०६॥

अहो भव्य ! तू आजतक जन्म मरण के अनेक दुःख सहता आया है, यह किसका फल है ? विपरीत ज्ञान तथा राग द्वेष के द्वारा उत्पन्न हुई अनेक कुचेष्टाओं का यह फल है । ऐसे दुःख कुछ एक दो वार ही नहीं बल्कि तुम्हें अनेक वार भोगने पड़े हैं और तू ही उनका भोक्ता है दूसरा कोई नहीं है । जबकि बार-बार उन्हीं राग–द्वेषादि की चेष्टाओं के होने से वे दुःख सदा आजतक मिलते आये हैं तो इस कार्य-कारण सम्बन्ध का तू विचार कर। जिस क्रिया के होने से जिस फल की प्राप्ति वार वार देखने में आ चुकी हो उस क्रियाको उस फल का कारण मान लेना बहुत ही सीधी बात है । चाहे एक दो बार धुएँ को गीला ईंधन तथा अग्नि से उपजते हुये देखकर भी कार्य-कारण का ज्ञान न हो पाता हो पर, बार वार वैसा देखने से अवश्य उनके कार्य कारण सम्बन्ध का निश्चय हो जायगा । इसी प्रकार जबकि अनेक वार प्राणी यह बात देख चुका हो कि राग द्वेष तथा मिथ्याज्ञान द्वारा होने वाली बाह्य प्रवृत्ति से मैं शरीर धारण करता हूँ, विषयों में फँसता हूँ और दुःखी होता हूँ तो उसे क्यों न इस बात का विश्वास होगा कि ये ही राग-द्वेषादि मेरे दुःख के कारण हैं ? जबकि यह निश्चय हो चुका हो कि ये रागद्वेषादि मेरे दुःख के कारण हैं तो यह भी समझ लेना सुगम है कि इनसे उलटा चलने पर वह दुःख नष्ट हो जायगा । इसीलिये आचार्य कहते हैं कि हे भव्य ! तूने रागद्वेषादि के द्वारा संसार के जन्म मरण संबंधी दुःख तो निरंतर अनुभव किये, अब इससे उलटी प्रवृत्ति से चलकर भी देख, और एक वार ही देख कि

क्या होता है ? इस रागद्वेषादि से उलटी प्रवृत्ति धारण करने पर निश्चय से तुझे उसका उलटा ही फल मिलेगा। अर्थात् जब कि रागद्वेषादि से जन्म मरण के दुःख प्राप्त हुये हैं तो उससे उलटी प्रवृत्ति का फल यह होगा कि जन्म मरणादि दुःख नष्ट हो जाय। रागद्वेष से उल्टी प्रवृत्ति समीचीन चारित्र एवं मिथ्याज्ञान का उलटा श्रेष्ठज्ञान हो सकता है।

इसलिये हे बुद्धि मान जीवात्मन् ! यदि तू अपनी तपश्चर्या में भयभीत होगा तो फिर तुझे इस शरीर रूपी जाल में हमेशा फँसकर दुःख ही दुःख भोगना पड़ेगा। अतः अब जल्दी सावधान होकर आत्महितका ख्याल करना ही तुझे इष्ट है।

अब आगे के श्लोक में इस संसारी प्राणी को सावधान होने की सूचना देते हैं—

> पेळ्वे वेळ्गिळ्विायुवर्ना गलियारसन्नेयु ।
> कोलियुमोदुत्तिर्पे तियिपाठिकघोषणे तळ्तु पेळ्युं ॥
> केळ्तमंतवक्कगिपदंगत्रिदं स्थिरमेंद नच्चिनि-।
> न्नूलिगदिच्छेयं मरेदु केडुनला अपराजितेश्वरा ! ॥५८॥

हे अपराजितेश्वर ! प्रति समय क्षीण होने वाली आयु की दशा में प्रति समय सूचना देने वाली घड़ी से प्रातः काल बोलते हुए मुर्गे की आवाज से एवं प्रातः समय स्तुति पाठकों द्वारा किये हुये उच्चारण से जागृत होने की सूचना मिलने पर भी और सूचना को प्रति समय सुनते हुये भी जो आयु की क्षीण होती हुई दशा को नहीं जानता और इन्द्रियों के सुखभासों में सोता रहता है उससे

मैं आपको भूल गया और आपकी सेवा छोड दी जिससे मैंने दुःख ही दुःख अवतक पाया है ॥५८॥

58. O, Aparajiteshwar! I am made aware of the dwindling of the life moments be the strokes of clock, by the crows of the cock, by the sounds of the morning prayer, but I do not become aware rather sleep in the pseudo-pleasures of the senses. Being oblivious in them I have left your worship & meditation, due to which I have undergone pains & pains.

विवेचनः—ग्रन्थकार यह कहते हैं कि हे संसारी प्राणियो! तुम्हारी आयु क्षण-क्षण क्षीण होती जा रही है और इसकी सूचना घड़ी के द्वारा, बाँग देने वाले मुरगे के द्वारा, राजमहल के तोते के द्वारा, बीते हुये रात दिन के द्वारा तथा नित्यप्रति प्रातःकाल उदय राग गान करनेवाले स्तुति पाठकों के द्वारा तुम्हें बराबर मिलती रही, परन्तु तुम इसे मिथ्या समझकर निर्भीकता पूर्वक शरीर को स्थायी व स्थिर मानकर भगवान् की सेवा अर्थात् पूजा आराधना भूल कर संसार में लिप्त हो गये, यह कितनी बड़ी अज्ञानता है!

आचार्य कहते हैं कि हे संसारी जीवो! जिस प्रकार अंजुली का जल एक एक बूँद निरन्तर गिरकर थोड़े समय में समाप्त हो जाता है उसी प्रकार तुम्हारी अवस्था प्रतिक्षण बीतती जा रही है। इसलिये तुम्हें जो कुछ सत्कार्य करना हो वह शीघ्रातिशीघ्र कर लो। समय की सूचना के विषय में एक कविता अंग्रेजी में इस प्रकार लिखी गई है कि:—

Tick, the clock says, tick, tick, tick.
What you have to do, do quick.
Time is running fast away.
We must work and work to day.
Wait not for another tick.

घड़ी टिक टिक टिक शब्द का उच्चारण करती हुई कहती है कि तुम्हें जो कुछ सत्कार्य करना हो वह शीघ्रातिशीघ्र कर लो, क्योंकि समय बड़ी तेजी से समाप्त होता जा रहा है। हमें कार्य अवश्य करना चाहिये और वह आज ही करना चाहिये। किसी दूसरे टिक (क्षण) की प्रतीक्षा कभी मत करो, क्योंकि समय का कोई ठिकाना नहीं कि किस दिन पूर्ण हो जाय। और भी कहा है कि:—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब।
पल में परलय होयगा बहुरि करोगे कब॥

जो काम तुम्हें कल करना है उसे आज और जो आज करना है उसे अभी कर लो, नहीं तो पल में परलय हो जाने के पश्चात् पुनः कैसे कर सकोगे ?

अभिप्राय यह है कि मनुष्य जीवन इन्द्र जाल के समान शीघ्र नष्ट होने वाला है। इसलिये बुद्धिमान मनुष्य को शीघ्र ही आत्म कल्याण कर लेना चाहिये। कहा भी है कि:—

सर्वं नश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं।
कार्यं रूपमिव क्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा॥

यत्तत्रापि विधीयते वत कुतो मूढ प्रवृत्तिस्त्वया ।
कृत्ये क्वापि हि केवलश्रमकरे न व्याप्रियंते बुधाः ॥८०तत्त्व०॥

जैसे मिट्टी की मूर्ति पानी में रखने से गल जाती है वैसे संसार के जितने काम हैं वे सब क्षणभंगुर हैं। जब अपना शरीर ही एक दिन नष्ट होनेवाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओं के रहने का क्या ठिकाना है ? असल बात यह है कि जगत् का यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नहीं होते और न नवीन पैदा ही होते हैं, परन्तु उन द्रव्यों की जो अवस्थायें होती हैं वे उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं। अवस्थायें कभी भी स्थिर नहीं रह सकती हैं। हम सबको अवस्थायें ही देखती हैं तभी यह रात दिन जानने में आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक गिर पड़ा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई। राज्य, पाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सभी पदार्थ नाश होने वाले हैं। करोड़ों की संपत्ति क्षण भर में नष्ट हो जाती है। बड़ा भारी कुटुम्ब क्षण भर में काल के गाल में समा जाता है। यौवन देखते देखते विलय हो जाता है, बल जरासी देर में जाता रहता है। संसार के सभी कार्य थिर नहीं रह सकते हैं। जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अथिर कार्यों के लिये उद्यम नहीं करता है। वह इन्द्रपद और चक्रवर्ती पद भी नहीं चाहता है, क्योंकि ये पद भी नाश होने वाले हैं। इसलिये वह तो ऐसे कार्य को सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह कार्य अपने स्वाधीन व शुद्ध स्वभाव का लाभ है। जब यह आत्मा बन्ध रहित पवित्र हो जाता

है फिर कभी मलीन नहीं हो सकता और तब यह अनन्तकाल के लिये सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमें परिश्रम तो बहुत पड़े पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचार शील होते हैं, वे सफलता देने वाले ही कार्यों का उद्यम करते हैं। इसलिये सुख की इच्छा करने वाले जीव को आत्मानन्द के लाभ का ही यत्न करना उचित है।

सुभाषित रत्न संदोह में भी वर्णन किया है कि:—

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजा ज्ञानदृष्टिस्वभावो।
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि ॥
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे।
पर्यालोच्येति जीवः स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रयत्वम् ॥४१६॥

(तत्त्वभावना)

मेरा तो एक अपना ही आत्मा अविनाशी सुखमयी, दुःखों का नाशक, ज्ञान दर्शन स्वभाव धारी है। यह शरीर, धन, इन्द्रिय, भाई, स्त्री सांसारिक सुख आदि मेरे से अन्य पदार्थ कोई भी मेरा नहीं है, क्योंकि ये सब कर्मों के द्वारा उत्पन्न हैं, चंचल हैं क्लेशाकारी हैं। इन सब क्षणिक पदार्थों में मोह करना वृथा है। ऐसा विचार कर हे जीव! तू अपने हितकारी इस सच्चे मुक्ति के मार्ग का आश्रय ग्रहण कर।

आगे के श्लोक में आयु क्षणिक होने से आत्म कल्याण करने का विवेचन करते हैं।

पोक्कु समानचित्तवनें साधिसि कर्मनिबंधर्म लय- ।
क्किक्कुवेनेंदु ताळ्दु तपमं नडेयुत्त डेयोळ् केलंबरोळ् ॥
नक्कु केलंबरोळ् मुनिदु बाळ्वुदिदें बिडपोगिमूरुगं- ।
टक्किद गादेयादेनुपशांतियनीयपराजितेश्वरा ! ॥५६॥

हे अपराजितेश्वर ! संसार के समस्त पदार्थों में अनासक्ति और समता बुद्धि रखने वाले तपश्चरण करके आत्म शुद्धि करने वाले, कर्मबंध के नाश की इच्छा रखनेवाले भव्यात्माको पर पदार्थों में मोह करके रागद्वेष करने से क्या प्रयोजन ?

हे भगवन् ! जो एक गांठको खोलने के लिए प्रयत्न करे और साथ में तीन गांठ और लगावे तो क्या प्रयोजन ? इसलिए मुझे अब शांतिका मार्ग ही चाहिये और वही दीजिए । ॥५६॥

O. Aparajiteshwar ! what purpose may the promising soul have with the attachment and aversion with the worldly things who has indifference with all the worldly objects, who purifies his soul by the observence of penances. and who has a desire to destroy the Karmas? O. Lord. what good shall he have who tries to untie one knot and therewith ties three knots? Hense, I desire the path of peace only and give me that.

विवेचनः—ग्रन्थकार यह कहते हैं कि संपूर्ण बाह्य अन्तरंग परिग्रह को मन वचन काय से त्यागकर समता भावको अपने आत्मा के अन्दर रखकर कर्मबंध को नाश करने की इच्छा से मुनि

दीक्षा लेकर कठिन तपश्चरण करनेवाला कोई भव्यात्मा जीव किसी में राग-द्वेष करके अर्थात् पक्षपात करके क्या पुनः इसी संसार में फँसने की इच्छा कर सकता है ? यदि ऐसा करता है तो जैसे एक गाँठ को छोड़कर तीन गाँठ में फँसनेवाला व्यक्ति इतस्ततः भ्रष्ट होकर पश्चात्ताप करता है इसी तरह ऐसा जीव भी घोर तपश्चरण करने पर भी कर्म निर्जरा से रहित होकर इतस्ततः भ्रष्ट हुआ अन्त में पश्चात्ताप ही करता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो जीव अपने कर्मों की निर्जरा करने की इच्छा तो करता है और साथ में तपश्चरण भी करता है, परन्तु सांसारिक वस्तुओं से, रगड़े-झगड़े से, संसारी पदार्थों के साथ राग-द्वेष के सम्बन्ध से एवं पर वस्तुओं के ममत्व से अपनी यदि रक्षा नहीं कर सकता है, तो ऐसा जीव इतो भ्रष्टः, ततो भ्रष्टः ही कहलायेगा; क्योंकि पर पदार्थों का राग-द्वेष कर्म बन्ध का कारण ही माना गया है। राग-द्वेष के सद्भाव में आत्म कल्याण का सद्भाव नहीं हो सकता—कारण ऐसी स्थिति में जीव आर्त्त और रौद्र ध्यान का ध्याता हो जाता है । इस ध्याता का किया हुआ कठिन से कठिन तपश्चरण भी कर्म निर्जरा का कारण न होने से निरर्थक ही हो जाता है । इसीलिये बताया है कि मुमुक्षु जीवों को इष्टानिष्ट पदार्थों में सदा समभाव रखना चाहिये। कहा भी है कि:—

अरि मित्र महल मशान कंचन काँच निंदक थुति करण ।
अर्घावतारण असि प्रहारण मैं सदा समता धरण ॥

आत्म कल्याण के लिये यह परमावश्यक बात है कि मुमुक्षु समताशाली बने। इसके बिना आत्म कल्याण जैसी वस्तु तो बहुत ही दूर रहती है। भले ही वह जनता में आदर पात्र बन जाय; परन्तु इससे निज कल्याण का कोई सम्बन्ध नहीं है। आजकल प्रायः ऐसा ही देखा जाता है। चारित्र को धारण करके भी जीव लोकैषणा के वशवर्ती होकर भिन्न प्रकार के रगड़े झगड़े में पड़ जाया करते हैं। इससे वितंडावाद के अतिरिक्त स्व पर के कल्याण का कुछ भी पोषण नहीं होता है। सदा स्वपक्ष साधन और पर पक्ष निराकरण रूप आर्त रौद्र ध्यान ही आत्मा में चलते रहते हैं। अतः मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि वह संसार सम्बन्धी विषय कषाय वर्द्धक प्रपंच में न पड़कर केवल समताभावशाली होकर निज हित करने की चेष्टा में ही सदा प्रयत्नशील रहे। कहा भी है कि:—

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिंदोः ।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जङ्गमत्वम् ॥
न पुनरिह कदाचिद्घोरसंसारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म पुंसा ॥९८

॥ तत्त्वभावना ॥

मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा आत्मज्ञान रहित ही जीव चतुर्गति मयी संसार के चक्कर में नित्य भ्रमण किया करता है। अज्ञानी को संसार ही प्यारा है। वह संसार के भोगों का ही लोलुपी होता है। इसलिये वह गाढ़े कर्मों को कभी दुःख कभी कुछ सांसारिक सुख उठाया करता है। उसको स्वप्न में भी आत्मिक सच्चे सुख का

लाभ नहीं होता है। आचार्य ने यहां तक कह दिया है कि असम्भव बातें यदि हो जावें अर्थात् सूर्य की किरणें गरम होती हैं वे ठण्डी हो जायें व चन्द्रमा में ठण्डक होती है सो गर्मी मिलने लगे तथा सुमेरु पर्वत सदा स्थिर रहता है सो कदाचित् चलने लगे, परन्तु मिथ्यादृष्टी जीव को कभी भी आत्मसुख नहीं मिल सकता हैं। इसलिये हमें उचित है कि मिथ्यात्वरूपी विष को उगलने का यत्न करें और सम्यग्दर्शन को प्राप्त करें। भेद विज्ञान को हासिल करें व आत्मा के विचार करने वाले हो जावें; क्योंकि इसी उपाय से मुक्ति के अनन्त सुख का लाभ होता है। कहा भी है कि:—

दुःखव्याल समाकुले भववने हिंसादिदोपद्रुमे।
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यंति सर्वांगिनः॥
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो।
यात्यानन्दकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं परं ॥१०

॥ तत्त्वभावना ॥

इन दुःखों रूपी हाथियों से भरे हुये व हिंसादि पापों के वृक्षों को रखने वाले तथा खोटी गतिरूपी भीलों को पल्लियों के खोटे मार्ग में नित्य पटकने वाले संसार वन में सभी प्राणी भटका करते हैं। इस वन के बीच में जो चतुर पुरुष सद्गुरु के दिखाये हुये मार्ग में चलना प्रारंम्भ कर देता है वह परमानन्दमय उत्कृष्ट व स्थिर एक निर्वाणरूपी नगर में पहुँच जाता है।

आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टी पुरुष संसार में रहते हुये भी आत्मतत्त्व की ओर अपनी दृष्टि रखता है।

तुट्टिद् पट्टणक्के पयणं वरुतिर्द्दवनल्लिगल्लितां ।
बिट्टु डेयोळ् पलंबरोळ्गेंतु समंबडेदिर्पनंतेक- ॥
रिणट्टु निजात्मसिद्धिगे तपं बडेवं पलरल्लिमुट्टियु ।
मुट्टिद भावदिं नडेयवेळ् कुमला अपराजितेश्वरा ! ॥६०॥

हे अपराजितेश्वर ! जैसे कोई अपने इष्ट स्थान को प्रयाण करने वाला यात्री अपने मार्ग में जितने भी लोग मिलते जुलते हैं उनसे किसी प्रकार का स्नेह या मोह न रखता हुआ भी उनसे ऊपरी दिल से व्यवहार करता है और अपने इष्ट स्थान को जाने का ध्यान रखता है वैसे ही भव्यात्मा संसार में रहता हुआ भी उसमें रत न रहकर अपने आत्मोद्धार के मार्ग में चलता रहकर इष्टस्थान को पहुंचता है। भगवन् ! भव्यात्मा संसार में इसी प्रकार प्रवृत्ति करै न ? ॥६०॥

60. O, Aparajiteshwar ! As a, traveller, having a fixed destination in his mind, does not have any attachment with the wayfarers, rather only has surface level contacts & keeps in view the destination. In the same way the promising soul lives in the Samsara without getting attached with any thing, reaches to the destination. O, Lord. Should promising souls not behave in this way ?

विवेचनः—ग्रन्थकार यह कहते हैं कि अपने इष्ट नगर को पहुँचने वाला बुद्धिमान् सेठ मार्ग में मिले हुये स्टीमर, ट्रेन, नगर तथा अनेक व्यापारियों के साथ समान व्यवहार करते हुये अन्त

में सब को छोड़कर अपने नगर को प्राप्त करने के पश्चात् जिस प्रकार परमानन्द को प्राप्त करता है उसी प्रकार आत्म सिद्धि प्राप्त करने वाला आत्मज्ञानी भव्यप्राणी संसार में रहते हुये भी सांसारिक पदार्थों एवं प्राणियों के साथ विशेष रुचि न रखकर समताभाव धारण करके हित मित व्यवहार करते हुये अन्त में सब को छोड़ कर अपनी आत्मा की ओर दृष्टि लगाकर मोक्ष पद प्राप्त करके सुखी हो जाता है।

हे भगवन्! इस प्रकार का आचरण करने वाला भव्य जीव ही आपकी आज्ञा का पात्र बन सकता है, दूसरा नहीं।

जिस प्रकार मचलते हुये बच्चे को शान्त करने के लिये माता बच्चे के साथ कृत्रिम रूप से स्वयं खेलती है, नाचती है तथा अनेक प्रकार से हिलती डुलती है, परन्तु इतना होने पर भी वह इससे पृथक् रहकर सदा अपने स्व स्वभाव में स्थिर रहती है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष संसार के समस्त कार्यों को उदासीनता से करते हुये सदा अपने आत्मस्वभाव में लीन रहते हैं। वे कभी संसार से राग नहीं करते हैं। भरतेश वैभव में भी कहा गया है कि:—

जिस प्रकार किसी दुष्ट राजा के राज्य में जब तक कोई सज्जन पुरुष रहे तब तक उसे भी उस राजा की बात सुननी पड़ती है उसी प्रकार श्री भरतेशजी भोजन करते समय इस प्रकार का विचार करते थे कि जब तक दुष्ट कर्मजन्य शरीर के साथ मैं हूँ तब तक मुझे इसकी रक्षा करनी ही पड़ेगी।

जैसे घर पर आये हुये अतिथि का सत्कार करने के पश्चात्

गृहस्थ अपने घर में निश्चिन्त होकर सुख उठाता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष शरीर को अतिथि की भांति खिला पिलाकर अपने आत्म रूपी घर में निश्चिन्त होकर सुख उठाता है। भोजन करते समय भरतजी शरीर को पुष्टिकारक बनाने की अभिलाषा न रखकर इस प्रकार की भावना करते थे कि इस शरीररूपी नौकर को यथा योग्य आहार देकर इसके द्वारा आत्मसुख का साधन करना चाहिये।

इसी प्रकार ज्ञानी की दृष्टि संसार में रहते हुये भी उससे विरक्त होकर हमेशा आत्मस्वरूप की ओर लगी रहती है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने कहा कि :—

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणमि दराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥

सम्यग्दृष्टी को ज्ञानी कहा गया है और ज्ञानी को राग-द्वेष मोह का अभाव कहा है इसलिये विरागी के जो इन्द्रियों का भोग होता है उस भोग की सामग्री को वह सम्यग्दृष्टी ऐसा जानता है कि ये पर द्रव्य हैं, मेरा इनका कुछ संबंध नहीं है लेकिन कर्म के उदय के निमित्त से इनका मेरा संयोग वियोग है। वह चारित्र मोह के उदय से उत्पन्न हुई पीड़ा है सो वलहीन होने से जब तक सही नहीं जाती तब तक रोगी की तरह विषय रूप भोग उपभोग सामग्री से इलाज करता है परन्तु कर्म के उदय से तथा भोगोपभोग की सामग्री से राग-द्वेष मोह नहीं रखता है। इसलिए सम्यग्दृष्टी इस तरह विरागी है, सो इसके भोग उपभोग निर्जरा के ही निमित्त हैं। कर्मोदय होता

है वह अपना रस देकर झड़ जाता है। उदय आने के बाद द्रव्यकर्म की सत्ता नहीं रहती निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टी का इस कर्म उदय से राग-द्वेष नहीं है, उदय में आये हुए को जानता है और फल को भी भोगता है, पर राग-द्वेष मोह के बिना भोगता है इसलिए कर्म का आस्रव नहीं होता, आस्रव के बिना उस विरागी सम्यग्दृष्टी से आगामी बंध नहीं होता और जब बंध आगामी नहीं हुआ तब केवल निर्जरा ही हुई। इस कारण सम्यग्दृष्टी विरागी का भोगोपभोग निर्जरा ही के निमित्त कहा गया है। तथा पूर्व कर्मों का द्रव्य उदय आकर झड़ जाना ही द्रव्य निर्जरा है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जो कार्य करता है वे सभी शुभदायक अर्थात् कर्म निर्जरा के कारण होते हैं। जैसे कोई माता अपनी पुत्री को खुश रखने वाले दामाद को खूब खुशामद करके खुश रखती है इसी तरह ज्ञानी आत्मा अपने आगे के आत्म सुख के साधन के लिये व्यवहार क्रिया को ठीक संभालकर आत्म सुख की स्थिरता बना लेता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टी जीव अपने आत्म-सुख की प्राप्ति के निमित्त व्यवहार क्रिया की खुशामद करता है।

आगे कहते हैं कि हर समय पाप क्रियाओं को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये।

आवनोळादोडं कुमति काळ्गुडि कीळ्नडॆ तोरुतिर्दोडा।
जीवने नॆजवॆन्नदॆ तदीय कषायगुणंगळॆंदवं॥
भाविसि या कषायतति तन्नोळगाद्वोळ् निजात्मनं।
कावुतमिर्प्पवं स्वपरवॆदियला अपराजितेश्वरा! ॥६१॥

हे अपराजितेश्वर! यदि किसी में दुर्बुद्धि, दुर्गुण, दुराचार और दुर्वचन आदि दोष देखने में आजावें तो उनको सद्गुण मानकर उनकी प्रशंसा न करते हुये यह समझना चाहिये कि ये सब राग द्वेष मोह आदि दोषों के विकार हैं और ये विकार तथा उससे उत्पन्न होने वाले दोष अपनी आत्मा में न आजाय इसका पूर्ण ध्यान रखना और इन दोषों को अपने आत्मा में न आने देना ही अपनी आत्मा की वास्तविक रक्षा है ॥६१॥

61. O, Aparajiteshwar ! If one finds ill. bad character & ill- *speech in some person than one* should not praise them thinking to be virtuses rather should think that these are all the abnormalities created by attachment & aversion. He should keep eyes upon his character & not allow these defects an entrance into his soul.

विवेचन— ग्रन्थकार कहते हैं कि किसी के अंदर दोष यानी दुर्बुद्धि, दुर्व्यसन, दुर्वचन; दुराचार इत्यादि दोष हों तो उनको अच्छा या ऐसा दुर्गुणी जीव अच्छा है ऐसा कभी न कहे और उनके अंदर रहने वाले राग द्वेष को सोचकर अपनी आत्मा में राग द्वेष कषाय भावना को अपने अंदर उत्पन्न न करे। और इस तरह अपने आत्मा की रक्षा करे। तथा निज पर का स्वरूप का बोध प्राप्त कर निःकषाय परणति को धारण करे। यही भव्य और ज्ञानी आत्मा का गुण है।

इसमें ग्रन्थकार ने यह उपदेश दिया है कि संसार में जो जीव दुर्व्यसनों में फंसा हुआ हो; दुर्बुद्धि हो, दुराचरण में प्रवृत्त हो ऐसे जीव की कभी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये तथा वह जीव जुआ में चोरी में बड़ा प्रवीण है तथा शिकार खेलने में बड़ा निशाना बाज है गुण्डागीरी में एक नम्बर है, सब बदमाश पार्टियों में शेखर है, इस प्रकार के पापी जीव की बड़ाई कभी निज मुख से नहीं गानी चाहिये। इससे पाप का बंध तो होता ही है किन्तु अच्छे जीवों पर भी इसका बुरा असर पड़ता है। घर में बैठकर व्यभिचारी पुरुष तथा व्यभिचारिणी स्त्रियों के कार्य की प्रशंसा करने का असर घर की स्त्रियों पर और संतान पर बहुत बुरा पड़ता है तथा निज की आत्मा के बिगाड़ का कारण भी बन जाता है। इसलिये भव्य जीव को दुर्गुणों की प्रशंसा तथा दुर्गुणी जीवों की महिमा कभी नहीं करनी चाहिये। ऐसा वचन सदोष कहा जाता है।

आगम सार समुच्चय में " निरवद्यं वदेद्वाक्यं " ऐसा इस प्राणी को उपदेश दिया है। यानी सदोष वचन मुख से न कहकर निर्दोष वचन कहना योग्य है। इसलिये पाप की तथा पाप करने वाले की तारीफ जो दोष रूप है मुख से नहीं करनी चाहिये।

तथा दुर्व्यसनी और दुराचारी जीवों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे सदाचारी जीवों से सदा द्वेष करते हैं। निशाचर जीवों को सूर्य बुरा ही मालूम होता है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि दुराचारी जीव जो सुजनों से चित्त में द्वेष करते हैं उनके चित्त की राग द्वेष परणति का अपने चित्त में विचार कर अपने चित्त

में राग द्वेष को उत्पन्न नहीं करना चाहिये। फलां प्राणी हम से द्वेष करता है, फलां प्राणी हमारी बुराई करता है ऐसा चित्त में कभी विचार नहीं लाना चाहिये, क्योंकि अपने चित्त में ऐसे विचार बनाने से निज के विचारों में भी राग द्वेष की मलिनता आजाती है और उससे कषाय परणति होजाती है। परन्तु अपनी आत्मा को कषाय से बचाने का सदा प्रयत्न करना चाहिये। कषाय से अपनी आत्मा की सुरक्षा सदैव करनी चाहिये कषाय परणति संसार में डुबोने वाली होती है। कषाय आत्मा के गुणों की घातक है।

धवलकार कहते हैं कि:—

सुह दुःख सुबहु सस्सं कम्मक्खेत्तं कसदि जीवस्स।
- संसार दूर मेरं तेण कसायोत्ति णं वेंति ॥

सुख दुःख रूपी बहुत धान्य उत्पन्न करने वाले कर्म क्षेत्र को जो कृषंते अर्थात् जोतते हैं वे कषाय हैं, यानी ये कषाय इसी कारण से कहाती हैं कि ये कर्म क्षेत्र को जोतती हैं जिससे संसार दूर तक चलते हैं। इन संसार में घुमाने वाले कषायों से सदा बचना चाहिये, यही गुरु का उपदेश है। जहां जीव में राग द्वेष कषायों की उत्पत्ति है वहां ही जीव का बिगाड़ है। जीव का हित राग द्वेष रहित साम्य भाव (समता भाव) धारण करने में ही है। क्योंकि मोक्ष मार्ग में जीव को प्रथम उपदेश आगम में यही कहा है। जीव को राग द्वेष से बचाने वाला एक निज और पर का भेद-विज्ञान है इसलिये जीव को स्व और पर को जानना

चाहिये। जब यह जीव जान लेता है कि वास्तविक में संसार के सब पदार्थ पर हैं, मेरे सर्वथा नहीं हैं तब वह अपने विचार में उनका चिंतवन करना तज देता है। देखिये संसार में अगर किसी दूसरे का पुत्र मर जाता है, धन चोरी जाता है तथा किसी के भार्या का वियोग होजाता है तो यह प्राणी चित्त में दुःख नहीं मानता, देखकर चुप होकर चला जाता है परन्तु यदि खुद का बेटा मरता है तथा स्त्री मरती है या धन चोरी में जाता है तो हाहाकार मचाता है, रोता है, चित्त में बार बार चिंतवन कर के दुःखी होता है इसमें कारण क्या है ? तो इस जीव का पराया और मेरा जानना अपना जानना मानना ही कारण है, जिसको यह पराया मानता है उसके मरने का दुःख नहीं करता और जिसको अपना मानता है उसके मरण को देखकर दुःखी हो जाता है। सारांश यह है कि संसार में "मेरा मेरा करना और मानना" ही परम दुःख का बीज है। मेरा अर्थात् ममत्व भाव ही को मूर्छा अर्थात् परिग्रह कहते हैं और यह अंतरंग परिग्रह ही संसार-भ्रमण की जड़ है। जहां ममत्व है वहां राग द्वेष है। निजमें राग और पर में द्वेष करना यह जीव को ममत्व भाव ही सिखाता है। इसलिये पर में ममत्व भाव तजकर निज को ग्रहण करके संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में समता भाव प्राप्त करना चाहिये। इसी में जीव का कल्याण है। आचार्य प्रवर श्री अमितगति स्वामी इस समता भाव की ही प्राप्ति चाहते हुए सामायिक पाठ में कहते हैं कि:—

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धु वर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।

निराकृतं शेषममत्वबुद्धे, समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥२॥

अर्थात् मेरे मन में से निःशेष ममत्व बुद्धिका अन्त होकर मेरे दुःख में और सुख में समभाव हों, वैरी में और बन्धुजन में भी समभाव हों तथा इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग में राग द्वेष भाव न होकर समभाव हों और रत्नों के महल में और वन में बिलकुल समभाव हों। इस प्रकार जिस ममत्व बुद्धि के कारण राग द्वेष भाव होते हैं वे न होकर मेरे तो मन में सम भाव की ही प्रवृत्ति हो। यह आचार्य महाराज भगवान से प्रार्थना करते हैं। इसलिये प्रत्येक जीव को भी किसी से द्वेष वैर भाव न करके समभावों को अपनाना चाहिये। स्व पर बोध को काम में लाना चाहिये।

संसार में सब जीव अपने को श्रेष्ठ समझते हैं और दूसरे को पतित समझते हैं। हे प्राणी! तुम धर्म का अभिमान कर संसार के किसी जीव की बुराई करना मत सीखना। धर्म का फल समता भाव है द्वेष भाव नहीं है। द्वेष तो किसी से भी नहीं करना चाहिये। वस्तु का स्वरूप का विचार कर महान् दुर्जन से भी द्वेष कर वैर मोल लेना नहीं चाहिये। नीति में कहा है कि "दुर्जननेन समं सख्यं वैरं चापि न कारयेत्।" दुर्जन से तेरी मित्रता नहीं होती है तो शत्रुता भी दुर्जन से नहीं करनी चाहिये। ऐसा समझ कर पराये दुर्गुणों में द्वेष बुद्धि तज कर अपने गुणों की प्रशंसा का राग तज कर राग द्वेष रहित निर्मल बुद्धि धारण करनी चाहिये। तथा स्व और पर तत्व का सदा चिंतवन करते रहना चाहिये। और इस तरह से संसार के भ्रमण से अपने को बचाना

चाहिये। यही भव्य और ज्ञानी जीव का गुण तथा यही ग्रंथकार का उपदेश है।

आगे के श्लोक में यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टी पुरुष आत्म प्रशंसा तथा दूसरे की निंदा कभी नहीं करता है।

गुणियेनिसुत्त तां नडेयुतिर्दोडमन्यर दुर्गुणंगळ ।
गणियिसिदंदु तां गुणविहीननेयंतदरिंये सर्वरोळ् ॥
गुणवने काण्ओडुत्तमगुणक्करं तरलापोंडेह्लरं ।
गणियिपुदल्लदंवर न्तिंतेयदेकपराजितेश्वरा ! ॥६२॥

हे अपराजितेश्वर ! जो गुणवान् अथवा विद्वान् अपने को गुणी मानता हुआ भी दूसरों के दुर्गुणों की तरफ ध्यान देकर उनकी गणना करता है तो वह गुणी तथा विद्वान नहीं हो सकता क्योंकि जो दूसरों के दुर्गुणों की तरफ ध्यान देता हुआ उनकी गणना करता है तो वह स्वयं अपने गुण तथा विद्वत्ता से दूर होता है। यदि उसको औरों की तरफ देखना है तो उसका कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह दूसरों में अपने सद्गुणों और ज्ञान का प्रवेश करने का प्रयत्न करे। ऐसा न करने पर गुणवान और निर्गुण में कोई भेद नहीं रह जाता है ॥ ६२ ॥

62. O, Aparajiteshwar ! If one pays attention to other's weaknesses & defects then he can not be learned and virtuous (though he might think himself to be). Learning and virtues fly away from such a person, If he, any way, looks upon other

people then it is his duty to try to get these virtues in their lives. otherwise what makes the difference between his virtuous character and other's non-virtuous character.

विवेचनः—ग्रन्थार कहते हैं कि जो अपने गुणों को चित्त में सदा चिंतवन करता है और उन गुणों को सदा धारण भी करता है तथा उन गुण रूप सदा अपनी परणति को भी धारता है परन्तु साथ में पर के दोषों को भी गिनता रहता है तथा चित्त में पर के दोषों का विचार चलाता रहता है तो वह जीव गुणी होते हुये भी निर्गुण है। गुणी जीव वही है जो निज के गुणों को कभी नहीं गिनता है परन्तु अन्य में स्थित स्वल्प गुण को भी वड़ा गुण कह कर उसके अन्य गुणों की मन वचन से प्रशंसा करता है और उस अन्य जीव को गुणों की वृद्धि में उत्साहित करता है तथा सर्वथा निर्गुण को भी गुणवान बनाने में सदा प्रयत्न करता है।

यहां ग्रन्थकार ने यह वताया है कि वास्तविक गुणवान वह है जो अन्य को गुणवान बना लेता है। महान् पुरुष की चित्त की वृत्ति सदा अन्य पुरुषों को महान् बनाने की होती है। संसार में इस परोपकार की वृत्ति की सब प्राणी, क्या संसारी क्या साधु सदा प्रशंसा करते हैं। परन्तु परोपकार है क्या? इसको थोड़े ज्ञानी जीव ही जानते हैं। सच्चा उपकार वही है जो सच्चे हित का साधक हो। अहित करने वाले कार्य को उपकार नहीं कहते हैं। सच्चा हित क्या है इसके लिये आगम में इस प्रकार कहा है कि "जीवस्य

सद्धितं ज्ञेयं कर्मबन्धनमोचनम्" कर्म के बन्धन से छुड़ाना यह ही जीव का सच्चा हित है। इसका स्वरूप ऐसा है कि कर्मों का बन्धन आत्मा के गुणों का घात करता है। आत्मा का असली गुण 'अव्याबाधसुख' है इस गुण का घात आठों कर्म ही करते हैं। आठों कर्मों से जब जीव छूटता है तब ही अव्याबाध सुख की प्राप्ति होती है। आचार्य कहते हैं कि कर्म महा दुःखदायी है यथाः—

भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात् ।
वज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टिवै ॥२४६॥
व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम् ।
वह्नियोगाद्यथावारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः ॥२४७॥
सातासातोदयाद्दुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात् ।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदात्मनः ॥२४८॥
आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरूपलब्धितः ।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु संधयः ॥२४९॥

(पंचाध्यायी)

सारांश यह है कि सम्पूर्ण कर्मों का उदय एक क्षण मात्र में वज्र से होने वाले आघात (चोट) की तरह आत्मा को पीस डालता है। यह कर्म बड़ी कठिनता से दूर किया जाता है ॥२४६॥ जिस प्रकार अग्नि का स्पर्श होने से जल तपता है (खदबद खदबद करता है) उसी प्रकार यह जीव भी कर्मों के उदय से अपने सम्पूर्ण प्रदेशों में नियम से व्याकुल तथा परमदुःखी हो रहा है।

॥२४७॥ वेदनीय कर्म के उदय से दुःख होना है। यह कथन तो मोटी रीति से है वास्तव में सम्पूर्ण कर्मों का ही उदय जीवात्मा को उसी प्रकार आघात पहुँचा रहा है जिस प्रकार वज्र की चोट होती है।

॥२४८॥ सम्यग्दृष्टी के प्रदेशों में भी उस कर्म का आघात होरहा है जिस प्रकार वात व्याधि से घुटनों कमर आदि की हड्डियां दुखती रहती हैं उसी प्रकार कर्म का आघात भी दुख पहुंचा रहा है।

इसलिये सच्चा हित इन कर्मों के बन्धन से छुड़ाना ही है। उसका उपाय यह है कि जीव को प्रथम पाप कर्मों के करने से बचावे। जीव को पापों का फल समझावे, पापों का स्वरूप बतावे, हेयोपादेय का बोध करावे। कुमार्ग से हटाकर, सुमार्ग में लगावे। जीव का हित रत्नत्रय गुण के धारण में ही है। यह उस प्राणी को सब प्रकार से समझाकर रत्नत्रय गुण धारी उसको बनावे और इस गुण की प्राप्ति इस गुण के धारी सज्जन जीवों की संगति से है। अतः दुर्जनों की संगति में से निकाल कर सज्जनों की संगति में लगावे। ये सब सच्चे उपकार के कार्य हैं। अन्य जीवों के साथ में इन कार्यों का करना और पाप से बचाकर उनको धर्म में लगाना परम उत्कृष्ट उपकार है।

सब गुणों में उत्कृष्ट गुण 'धर्म' है। धर्म का अर्थ क्या है इसके लिये समन्तभद्र स्वामी महाराज कहते हैं कि "संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे स धर्मः" जो जीव को संसार के दुःखों से बचाकर उत्तम सुख में धरता है वह धर्म है। यह धर्म अहिंसा रूप है। अज्ञानी बहुत जीव धर्म के लिये हिंसा करते हैं और उसमें

धर्म मानते हैं वह सर्वथा अयुक्त है। आचार्यों ने ऐसा समझाया है कि:—

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्माया धर्मसेवनम्।
भावि धर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ।७६१।
परस्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वह्निमाविशेत् ।७६२।

अर्थ—धर्म के लिये भी अधर्म का सेवन करना वृद्ध पुरुषों ने स्वीकार नहीं किया है। आगामी काल में धर्म की आशा से कोई मूर्ख अधर्म सेवन का उपदेश देते हैं ॥७६१॥ अधर्म सेवन से परम्परा धर्म होता है इस प्रकार परम्परा पक्ष का लेश मात्र भी यहां अवकाश नहीं है। मूर्ख को छोड़कर ऐसा कौन पुरुष है जो मोह से शीत के लिये वह्नि में प्रवेश करे ।७६२।(पञ्चाध्यायी द्वि.अ.)

भावार्थ—मीमांसक आदि दर्शनकार यागादि में हिंसारूप अधर्म सेवन से धर्म प्राप्ति मानते हैं और उसी यागादि का फल स्वर्ग प्राप्ति से बतलाते हैं। परन्तु जिन धर्म कहता है कि यह उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। जीव हिंसा करने से धर्म प्राप्ति स्वर्ग प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है हिंसा करने से पाप ही का बन्ध होता है और पाप बन्ध का फल नरक निगोद के दुःख भोगना पड़ता है। अतः कभी भूल कर भी धर्म के लिये जीव हिंसा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार अज्ञानी जीवों को समझाकर हिंसा मार्ग में प्रवृत्त जीवों की हिंसा क्रिया छुड़ाकर विशुद्ध अहिंसा के मार्ग में जीवों का लाना ही उनका सच्चा उपकार है। इसी प्रकार के जीव

अज्ञान वश कुपथ में धर्म मानते हैं, रागी मोही देवों को देव मानते हैं, विषय लम्पटी कुभेषधारियों को साधु मानते हैं तथा हिंसा के पोषक शास्त्रों को शास्त्र और उन शास्त्रों में वर्णित विपरीत धर्म को सच्चा धर्म मानते हैं उन जीवों को पूर्ण प्रयत्न करके सच्चे देव, गुरु, धर्म का उपासक बनाना परम उच्च और प्रशंसनीय उपकार है।

रोटी मांगने वालों को रोटी देकर, वस्त्र मांगने वालों को वस्त्र देकर, धन मांगने वालों को धन देकर सन्तुष्ट कर देना उपकार नहीं है यह तो केवल विषय सेवन की पुष्टि है और विषय सेवन दुःखरूप है। इसलिये सच्चा हित धर्म में जीव को लगाना है।

जो ज्ञानी जीव हैं वे सदा धर्मोपकार को उपकार मानकर अन्य जीवों को अपने समान धर्मात्मा बनाने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं और जीवों को कर्मों के दुःखों से छूटने के मार्ग में लगाते हैं। वास्तव में वे ही सच्चे गुणी हैं। इसलिये सभी भव्य जीवों को सदा संसारी जीवों को धर्म में लगाने का कार्य करना चाहिये इससे बड़ा कोई उपकार नहीं मानना चाहिये। और संसार में जो जीव धर्म रहित हैं पतित हैं उनके दोषों को चित्त में रखकर उनसे उदासीन होकर उनसे अलग होकर बैठ नहीं जाना चाहिये किन्तु उनके सुधार का आगम की आज्ञा के अनुसार सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। वास्तविक में वही सच्चा धर्मात्मा महान् पुरुष गुणी पुरुष है जो डूबे हुये जीवों को सुधार कर संसार से तिरा देता है।

आगे के श्लोक में यह कहते हैं कि:— इस पञ्चमकाल के

मनुष्यरूपी कीटकों में भगवान् ही संपत्ति शाली हैं तथा उन्हीं का गुण सर्वप्रधान है।

सर्वगुणंगळोळ् तुलभरार् जिननीं पोरगागि लोकदोळ् ।
पर्विद मिथ्येयोल विपमकालदोळी नरकीटकं गळोळ् ॥
ओर्वरोळिर्दु दों गुणमं गुणकोटियेनुत्त वंडु ता- ।
नुर्ब्रवंगे निन्न गुणमोल्दिरवे अपराजितेश्वरा ! ॥६३॥

हे अपराजितेश्वर ! हे भगवन् ! मिथ्यात्व अज्ञान और दुश्चरित्रता रूप अंधकार से भरे इस मानव समुदाय में आपके सिवा समस्त गुणों से परिपूर्ण कौन है ? फिर भी इस सांसारिक मानव के एक एक गुणाभास को देखकर विपयांध लोभी लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। परन्तु आपके वास्तविक गुणों की तरफ यदि सद्बुद्धि से देखा जाय तो क्या वे आपके गुणप्रिय न लगेंगे ? अवश्य लगेंगे ॥६३॥

63. O, Aprajiteshwar ! O, Lord ! Who is full of virtues like you in this human race full of blind faith, wrong knowledge & bad conduct ? But the sensual and greedy people prise such persons who have a mere show of virtues. They do not see towards you with intelligent eyes, otherwise they would be filled with a devotion in you.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे भगवन् ! इस जगत में फैले हुये मिथ्यात्व अर्थात् विपम काल के मनुष्य रूपी कीटकों में आपके अतिरिक्त सकल गुण निधान तथा सरल स्वभाव से संसार

में स्थिर होकर निवास करने वाला अन्य कौन है ?

हे नाथ ! असंख्यात गुणों से युक्त आपका शान्त स्वरूप किसको प्रिय नहीं लगेगा ? सभी को लगेगा। कहा भी है कि:—

गुणा गभीराः परमाः प्रसन्नाः ।
बहुप्रकारा बहवस्तवेति ॥
दृष्टो ऽयमन्तस्तवनेन तेषाम् ।
गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति॥२१ (विपापहारस्तोत्र॥)

हे नाथ ! आपका गुण गम्भीर, निर्मल, उत्कृष्ट तथा अनेक प्रकार का है। हे भगवन ! आपके अनन्त गुणों की महिमा का पार पाना छद्‌मस्थ अज्ञानी जीवों के लिये नितान्त कठिन है अर्थात् आपके गुणों का पार नहीं है।

परन्तु महा मिथ्यात्व से ग्रस्त अज्ञानी जीव मोह के वशीभूत होकर विषय-वासना को बढ़ाने वाले दुर्गुणों का वर्णन करके उसी में मग्न रहते हैं। वे हमेशा रोम रोम से विषय वर्द्धक दुर्गुणों की प्रशंसा व भावना किया करते हैं तथा विषयान्ध कामी पुरुष, रात दिन उठते बैठते कामिनी के रूप व अंगोपांग की प्रशंसा करते हुये उसकी प्राप्ति के लिये अनेकों यत्न किया करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि काम मद्य से भी अधिक उन्माद बढ़ाने वाला और विवेक का भ्रंश करने वाला है। इसीलिये जिनको काम ने सताया हो उन्हें विवेक कहाँ से होगा ? यदि विवेक होता तो वे इतना विचार भी न करते कि हाड़ मांस आदि अपवित्र वस्तुओं से बने हुये शरीर में चन्द्रादि की सी योग्यता कहाँ से आ सकती है ?

अथवा यदि चन्द्रादिकों के तुल्य होने से स्त्री को प्रेम का पात्र मानना हो तो उन असली चीजों से ही क्यों न प्रेम करो। एक कवि ने कहा भी है कि:—

पन्नगवेणी चंद्र मु आनन कंचन कलस युगल कुच भार।
लट्टू कवि सब हुये जगत के देख मेरा यह रूप अपार॥

यदि सचमुच के चंद्रमा आदि की ही आकृति मुखादि की जगह बना दी जाय तो कुछ भी सुन्दरता नहीं दीखती। एक तो इसलिये चंद्रादि की उपमा केवल फँसाने के सबब से दी जाती है। दूसरे यदि चन्द्रादि की तुल्यता हो भी, तो इतने से उसमें प्रेम पात्रता क्यों होनी चाहिये? क्या पन्नग कोई रमणीय वस्तु है? इस पर कुछ लोगों का कहना है कि एकेक गुण के साथ उपमा है, न कि सर्वथा। तो भी इतने से स्त्री प्रेमपात्र नहीं हो सकती। जिन चीजों की इसे उपमा दी जाती है उन चीजों से ही प्रेम करना उत्कृष्ट तथा ठीक है, क्योंकि वे असल हैं और यह केवल उनकी नकल है। आखिर वे असल हैं और यह उनके एक एक गुण की ही तुल्यता रखती है। जिसका एक एक गुण स्त्री में रहने से स्त्री प्रेम का पात्र हो सकती है उसके सर्व निर्दोष गुण जिसमें मिलते हों वह मुख्य पदार्थ ही क्यों न प्रेम का पात्र हो। इसके अतिरिक्त एक दो गुणों की तुलना रहते हुये भी जबकि बाकी अनेक दोष स्त्री में भरे हुये हैं तो वह प्रेम का पात्र कैसे बन सकती है? पर यह सूझता किसको है? कामान्ध हुये जनों का यह विचार कदापि नहीं उठ सकता है। काम जीवों को असली अन्धा या विवेक शून्य

बनाने वाला है। परन्तु यह काम वेदना ज्ञानियों को नहीं पैदा होती। देखो कहा भी है कि:—

> प्रियामनुभवत् स्वयं भवति कातरं केवलं,
> परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ह्लादते।
> मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः,
> सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥१३७ आत्मा०॥

कितने ही लोगों का यह कहना रहता है कि मन बड़ा ही बलाढ्य है। जब उसकी प्रवृत्ति विषयों की तरफ होने लगती है तब उसे कोई भी रोक नहीं सकता। इसीलिये चाहे स्त्री का सम्बन्ध परिपाक में दुःखदायक ही हो पर उससे निवृत्ति होना असंभव है। इसका उत्तर यह है कि:—

जो स्त्रियों को आप तो भोग न सकता हो, किन्तु दूसरों को भोगते देखकर प्रसन्न होता है और स्वयं भोग न सकने पर भी इच्छा भोगने वाले से भी अधिक रखता हो वह नपुसंक या हिजड़ा कहा जाता है। वह वास्तव में कायर होता है। शूरता के काम उसके हाथ से कभी नहीं बन पाते हैं। यह बात लोक प्रसिद्ध है।

मन, यह भी नपुंसक ही है। मन यह शब्द भी नपुंसक है व मन जिसको कहते हैं वह भी नपुंसक ही है। मन की जितनी क्रियायें हैं वे सब निस्सत्त्व नपुंसक प्राणियों की सी ही हैं। देखिये, आप तो यह स्त्रियों को भोग भी नहीं सकता है। भोगने वाले इन्द्रिय दूसरे ही हैं। उन्हें देख देखकर केवल प्रसन्न होता है। तो भी भोगने की इच्छा उन इन्द्रियों से भी अधिक सदा बनी

रहती है। इसलिये मन, यह केवल शब्द दृष्टि से ही नपुंसक नहीं है, किन्तु काम भी इसके कुल निस्सत्व नपुंसकों के से ही हैं। तब इसे हर तरह से नपुंसक ही समझना चाहिये। नपुंसक के हाथ से पुरुषार्थी पुरुष कभी जीता नहीं जा सकता है। पुरुष क्या पुरुषार्थी है? हाँ।

जो मोक्ष-पुरुषार्थ में लगने वाला व उसको हितकारी समझने वाला पुरुष है वही सच्चा विवेकी और सच्चा पुरुष है। जब कि वह विवेकी है तो उसके हाथ से मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि होनी ही चाहिये। इस प्रकार जब कि वह पुरुष अपने यथार्थ कर्त्तव्य में प्रवृत्त हो रहा हो और उस प्रवृत्ति में इतना दृढ़ रहे कि विषयों के सम्बन्ध उसे उस प्रवृत्ति से डिगा न सकें तो वह पुरुष सच्चा पुरुष है,—पुरुष के कर्त्तव्य को पालने वाला होने से पुरुषार्थ का सच्चा आश्रय है और पुरुष यह शब्द तो पुल्लिंग है ही। इस प्रकार जो पुरुष विवेकी है व सच्चे मार्ग में प्रवृत्ति करके मोक्ष-पुरुषार्थ को साधना चाहता है वह शब्द अर्थ दोनों तरह से असली पुरुष है। ऐसा जो पुरुष होगा उसे दोनों प्रकार से नपुंसक मन क्या कभी भी अपने वश कर सकता है? नहीं

भावार्थः—पुरुष यदि चाहे कि मैं मोक्ष की सिद्धि निस्संशय करूँ तो उसे मन विषयों में कभी फँसा नहीं सकता। हाँ, यह बात दूसरी है कि पुरुष ने मोक्ष प्राप्त करने की तरफ तथा विषयों को छोड़ने की तरफ उपयोग ही न लगाया हो। नहीं तो उसका स्त्रीलिंग धारण करने वाली स्त्री तथा नपुंसक मन ये दोनों कुछ भी नहीं

कर सकते हैं।

यह सब व्याजोक्ति है। यथार्थ में अभिप्राय इतना ही है कि मन कुछ, पुरुष का स्वामी नहीं है किन्तु पुरुष मन का स्वामी है। मन कोई स्वतंत्र निराली वस्तु नहीं है। केवल विचार करने की जो इच्छा व शक्ति प्राप्त होना है वही मन है। वह शक्ति व इच्छा जीव की है—जीव ही उसे प्रकट करता है। इसलिये जिस जीव ने जिस तरफ दृढ़ संकल्प किया हो उस जीव का मन वहीं या उसी तरफ है ऐसा कहना चाहिये और वह यदि जोरदार हो तो कालान्तर में भी दूसरी तरफ वह क्यों झुकेगा ? बस, जिस जीव ने मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प कर लिया है उसका वहीं या उधर ही जब कि मन है तो वह जीव मोक्ष साधन से क्यों हटेगा ? और जब तक मोक्ष साधन से हटेगा नहीं तब तक स्त्री आदि विषयों में उसके मन की प्रवृत्ति कभी नहीं आ सकती है। इसलिये आगामी विषयों में मन झुक जाने के भय से मोक्ष साधन में कमी व उत्साहघात कभी नहीं करना चाहिये।

आगे के श्लोक में यह कहते हैं कि यथार्थ आत्म-स्वरूप का घात करनेवाला चंचल मन ही है।

> दुर्विषयंगळं व विषयं कुडिदार्थ विरोधमोहमें-।
> बुर्विन वत्सनाभियने श्रेन्चि किडुत्तिदे लोकवक्कटा !॥
> सर्वर मेय्योळा विपनिवारणेगात्मनिजस्वरूपदा ।
> निर्विषमुंटदं मरेदु नोवर देकपराजितेश्वरा ! ॥६४॥

हे अपराजितेश्वर ! जैसे मृग दूषित विष को पीकर उसका उपाय जो अपने पास ही वत्स नाभि के समान विद्यमान है उसे न जानता हुआ और उपयोग में नहीं लाता हुआ जन्म जरा मरण रूप व्याधियों से घिरा रहता है उसी प्रकार यह जगत अपने शरीर में ही स्थित आत्मा के स्वरूप को न जानता हुआ विषय रूपी विष का पानकर मदोन्मत्त हुआ फिरता है। खेद है कि उस विषकी औषधि उसी के पास है परन्तु न उसे जानता है और न उपयोग ही करता है ॥६४॥

64. O, Aparajiteshwar ! As a deer, who has drunk poison but has its medicine in his Nabhi (a spot in the abdomenal part of the body) not knowing it undergoes various pains, in the same way the jivas, not knowing the nature of their souls wander in the world drunk with the poison sees. Alas, they have the medicine with themselves but still they bear pains unknowing it.

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि इस जगत के प्राणी दुष्ट विषय रूपी विष को पीकर आर्तध्यान रौद्रध्यान द्वेष मोह ममकार अहंकार इत्यादि मदिरा से मत्त होकर यद्वा तद्वा जैसे दारु पिया हुआ मत्त मनुष्य बकता है उसी तरह विषयांध हुआ संसारी प्राणी मिथ्यात्व से मत्त होकर अनेक चेष्टा करते हुए विषयरूपी विष से अचेत होकर अपने शरीर के अन्दर ही अमृत के समान रहने वाले तथा अनादि काल से मिथ्यात्व विष को नाश करने वाले ऐसे दिव्य संजीवनी सुखामृत रूपी अखंड आत्मानं परम औषध

को भूल गया है, यह कितनी आश्चर्य की बात है! इस शरीर के अंदर के विष के निवारण करने वाले आत्मस्वरूप औषधि को भूलकर ये संसार रूपी विषयरूपी विष में पड़कर क्यों दुःख पाता है ?

आत्मानुशासन में गुणभद्र आचार्य विषय दुःखों का दृष्टान्त देखकर विषयांध प्राणियों को समझाया है कि:—

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमंभसापि,
नो संगतं दिनविकाशि सरोजमित्थम् ।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव,
प्रायः कुतो व्यसनिनां स्वहितेविवेकः ॥६३॥

यह सरोज (कमल) जल से पैदा होकर भी उसमें लिप्त नहीं हुआ सदा उस जल से जुदा ही रहा। इससे यह जान पड़ता है कि यह कमल अति कठोर हृदय है। इसीलिए शायद हँसोंने इसको खाया नहीं। केवल दिन में ही खिला रह कर रात को मुँद जाता है सदा विकसित भी नहीं रह पाता। अरे भौंरा! इस कमल के ऐसे स्वभाव की तरफ तूने कुछ ध्यान नहीं दिया। स्वभाव का विचार न करके उसमें फँसा इसलिए उसी में वृथा प्राणान्त हुआ विषयों का भी ठीक यही स्वभाव है, पुण्य कर्म का उदय जब तक रहता है तभी तक विषय भोग टिकते हैं नहीं तो रात को कमल की तरह पुण्य कर्म के समाप्त होते ही वे विलीन हो जाते हैं। आत्मा में उपजकर भी आत्मीय शुद्ध भावों से सदा ही ये विषय जुदे रहते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मीय शुद्ध भावों का स्वरूप प्रकाशमान रहता है वहाँ इन विषयों की गति नहीं हो पाती। इसीलिए शायद तुम्हें

तीर्थंकरादि श्रेष्ठ पुरुषों ने कठोर हृदय दुःखदायक समझ कर भोगने से छोड़ दिया। ऐसे निःस्नेह निःसार क्षणभंगुर इन विषयों में जो जीव फँसते हैं वे वृथा ही मरण पाते हैं। पर व्यसनी जनों को व्यसन के सामने अपने हिताहित का भान प्रायः कहाँ रहता है ? नहीं। इसीलिए तो यह कहावत है कि व्यसनी जनों को अपने हिताहित का विवेक प्रायः नहीं रहता। अरे जीव, तू ऐसे निरर्थक, उलटे दुःखदायक विषयों में भौंरें की तरह फँसकर प्राण क्यों गमाता है ? ये विषय भोगते समय तो ठीक कमल की तरह कोमल लगते हैं। पर कमल जिस प्रकार फँसे हुए भौंरे को आखिर मार कर छोड़ता है तथैव ये विषय अपने में फँसे हुए जीवों को अनेक बार प्राणान्त के दुःख देने वाले हैं। इसीलिए हंस सदृश श्रेष्ठ पुरुषों ने इन्हें दूर से ही छोड़ रक्खा है।

अथवा ये विषय भोग उस पत्थर के समान हैं कि जिस पर पानी के संसर्ग से काई लग जाती है। छूते तो वह काई अति कोमल जान पड़ती है पर पैर रखते ही ज्यों मनुष्य गिरता है कि सर्व अंजर-पंजर टूट जाते हैं। व्यसन भी प्रथम स्पर्श के समय तो रमणीय जान पड़ते हैं पर ज्यों ही प्राणी उनमें फँसा कि आधि-व्याधि निर्धनता आदि अनेक दुःखमय कीचड़ में गिर पड़ता है कि जहाँ से निकलना तथा संभलना कठिन हो जाता है। देखते ही ऐसे दुःख तो भोगने पड़ते हैं किन्तु पाप संचित करके जब पर भव में पहुँचता है तो और भी अधिक दुःखों की खानि में पड़ना पड़ता है। इसलिए विषयों से प्रीति करना अच्छा नहीं है।

यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि जो वस्तु अपने पास ही हो उसको न जानकर उस वस्तु के लिए बाहर ढूँढते हुए खेद उठाना नितान्त मूर्खता है। कोई साधु महादेवीजी के मंदिर में रहता था। वहीं जब उसको पेट भर खाने को मिष्टान्न आदि मिल जावे तब वह भिक्षा के लिए भ्रमण करके वृथा ही कष्ट उठाता है। आत्मा का स्वभाव आनन्द है यह आनन्द अविनाशी है। पाप रहित है। कर्मों के नाश से प्रगट होता है। इसी आनन्द को सदा साधुजन चाहा करते हैं तथा यह आनन्द मात्र अपने उपयोग को अपने में स्थिर करने से ही अपने को प्राप्त हो जाता है। जो अपने ही पास है व जिसके लिए किसी दूसरे पदार्थ की जरूरत नहीं है व जो सदैव तृप्तिकारक है जो ऐसे सच्चे सुख को मूर्ख जन नहीं पहिचानते हैं और उस सच्चे सुख के लाभ के लिए अपने आत्मा के भीतर प्रवेश नहीं करते तथा बाह्य इन्द्रियजन्य नीरस और अतृप्तकारी सुख की प्राप्ति के लिये चेष्टा किया करते हैं वे वृथा ही कष्ट उठाते हैं। क्योंकि यदि परिश्रम करने से कदाचित् इच्छित बाहरी सुख प्राप्त भी हो जाय, तो भी उससे तृप्ति नहीं होती तथा वह स्थिर न रहकर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

इसीलिए जिनकी बुद्धि बिगड़ी है ऐसे अज्ञानी जीवों के लिये आचार्य कहते हैं कि:—

चित्रोपद्रव संकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संस्मृतिं।
मुक्तिंनित्य निरंतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम् ॥

प्राणी कोऽपि कपायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते ।
मुक्त्वामुचिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते ॥८१तत्त्व०॥

जिसकी बुद्धि बिगड़ जाती है वह हितकारी पदार्थ को छोड़कर अहितकारी पदार्थ को ही ग्रहण करता है। जिस प्रकार किसी मूर्ख मनुष्य को एक हाथ से अमृत तथा दूसरे हाथ से रोटी का टुकड़ा देते हुये उससे कहा जाय कि इन दोनों वस्तुओं में से अपनी इच्छानुसार किसी एक को ले लो, तो वह अमृत के गुण को न जानने से उस में विश्वास न रखने के कारण उसे छोड़कर रोटी का टुकड़ा ही लेकर आनन्द मानता है, उसी प्रकार यदि अज्ञानी जीव को सद्गुरु मोक्ष और संसार के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुये समझावें कि संसार जन्म, मरण, रोग, शोक, भय तथा वियोगादि उपद्रवों से परिपूर्ण होकर महा मलिन एवं आकुलतामय है और मोक्ष इन समस्त उपद्रवों से रहित होकर नित्य निराकुल तथा परमोत्कृष्ट सुख को देने वाला है, तो भी वह अज्ञानी अनादि काल से बुरी आदत पड़ने के कारण अनन्तानुबन्धी कषायों के वशवर्ती होकर मोक्ष की ओर किंचिद् भी दृष्टि न करके संसार को ही अपनाता है। यही कारण है कि रात दिन धर्मोपदेश श्रवण करते हुये तथा नित्य प्रति अन्य प्राणियों का मरण देखते हुये भी अज्ञानी जीवों के ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और वे रात दिन संसार में मग्न रहकर आत्म कल्याण की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देते। यह सब मोह का ही माहात्म्य है। परन्तु जो लोग यह समझ जायँ कि संसार त्यागने तथा मोक्ष ग्रहण करने योग्य है उन्हें तो अप्रमादी

होकर उभय लोग के सुख को प्राप्त करने के लिये निरन्तर आत्मानुभव करते रहना चाहिये।

ग्रन्थकार ने ऊपर के श्लोक में यह बतलाया था कि जैसे अंधा मनुष्य दिन में भी अत्यन्त सुन्दर व मनोज्ञ चित्रों को नहीं देख सकता, इसी प्रकार उत्तम तत्वों से भरे हुये जिनेन्द्र देव के मत को दिखलाये जाने पर भी मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव नहीं समझता है, यह सर्व मोह का तीव्र वेग है।

इस मोह तिमिर को नाश करने के लिये आत्मानन्द रूपी औषधि अपने पास ही है। इसका सेवन करने वाला मनुष्य सदा आरोग्य रहकर परमानन्द को प्राप्त करता है।

आगे के श्लोक में कहते हैं कि मोहान्धकार में फँसा हुआ मन अपने आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं रहता है।

> अरियले चित्तमीयदघसंततियात्मननेत्तलाद्मो-
> न्दरिदोडेयस्तवेस्तवने माड्वुदोर्मे यथार्थमागि ता- ॥
> नरिदोडमेनो तन्नोळगे तन्नने भेदिसि सुद्धसिद्धनं ।
> दरिविनोळीलिसल्के बिडिदचारि नोडपराजितेश्वरा ॥६५

हे अपराजितेश्वर ! ये पापों के समूह आत्मा के स्वरूप के जानने और आचरण करने में बड़े भारी बाधक हैं। यदि कभी आत्मस्वरूप का आभास भी होता है तो ये संसार के विषय इतने प्रबल हैं कि फिर हलचल पैदा कर देते हैं। यह कितने खेद की बात है कि ये सांसारिक विषय कषाय मुझे छोड़ते ही नहीं। आत्मा शुद्ध है, निर्विकार है, अखण्ड है परन्तु जब तक विषय कषाय और उनके

निमित्त न छूटें तब तक इस ज्ञान से भी क्या फल ? इसलिये हे भगवन् ! ये विषय कषाय और पाप समूह कब छूटेंगे ॥६५॥

65. O, Aparajiteshwar ! These sins are great blocks in the way of knowing and realising the soul. If at any time we come to know the soul then these powerful foes make us disturbed. How much sorrowful it is that the worldly pleasures do not leave me. Soul is pure. incontaminated. perfect but till these defects- sensuality and passion and their efficient causes- are not let what is the good of this knowledge. Hense, Lord. when will I become free of these sin aggregates.

विवेचनः—ग्रन्थकार कहते हैं कि अनादि संचित पाप समूह आत्मा को जानने नहीं देता है। कदाचित् यदि प्रेम सहित आत्मा को देखना चाहता हूँ तो मन की चञ्चलता आत्मा को देखने नहीं देती है। तथा यथार्थ आत्म-स्वरूप जानने से भी केवल शब्दों से ही आत्मा का बोध होता है। स्वानुभूतिरूप आत्म प्रत्यक्ष जब नहीं होता है तो वह जानना केवल प्रयोजन रहित ही रहता है। मैं चेतना लक्षण स्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, ज्ञान दृष्टा मात्र हूँ, सिद्ध समान हूँ, इस प्रकार स्वात्मोपलब्धि का प्रयत्न करता हूँ परन्तु हे भगवन् ! अशुभ कर्म सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् रुचि और सम्यक् स्वात्मोपलब्धि को नहीं होने देते हैं जिसका मुझे बड़ा ही खेद है।

ग्रन्थकार यहां खेद प्रकट करते हैं कि हे भगवन ! मैंने अनादिकाल से जो पाप समूह संचय किये हैं वे आज मेरा इतना बिगाड़ कर रहे हैं कि मुझको निज आत्मा को जानने भी नहीं देते हैं। तथा चंचल पवन की हिलोरों से गँदला जल जिस प्रकार भीतर की वस्तु को देखने नहीं देता है उसी प्रकार मोह की चंचल तरंगों से दूषित मन भी अन्तरात्मा को देखने नहीं देता है। यदि बाह्य कारणों से आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, एवम् शाब्दिक बोध प्राप्त कर भी लेता हूं तो भी वे उदयागत पाप समूह स्वानुभूतिरूप आत्म प्रत्यक्ष को प्राप्त नहीं होने देते हैं, जिससे वह शाब्दिक बोध प्रयोजन रूप नहीं होता है। तथा हे भगवन् मैं निश्चय से आप समान हूं, चेतना स्वरूप हूं, शुद्ध हूं, निर्मल हूं, ज्ञाता द्रष्टा मात्र हूं इस प्रकार की विचार धारणा के द्वारा सतत स्वात्मोपलब्धि का प्रयत्न भी करता हूं परन्तु मेरे ये अशुभ कर्म न तो सम्यक् श्रद्धा ही उत्पन्न होने देते हैं, और न सम्यक् रुचि ही होने देते हैं तथा न सम्यक् स्वात्मोपलब्धि ही होने देते हैं। मैं इन कर्मों से बड़ा दुःखी हूं।

यहां ग्रन्थकार ने कर्म की प्रबलता को दिखलाया है कि अशुभ कर्म के उदय से सब प्रयत्न निष्फल होते हैं। शास्त्रों को पढ़कर विद्वान् हो जाने पर जो 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसी जो स्वात्मोपलब्धि शाब्दिक होती है वह मिथ्यारूप ही होती है। सम्यक् स्वात्मोपलब्धि तो स्वानुभूतिरूप आत्म प्रत्यक्ष की प्राप्ति होने पर ही होती है। क्योंकि इस बारे में आगम भी ऐसा ही कहता है कि:—

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना ।
असद्बन्धफलातत्र सैव बन्धफलान्यथा ॥
(२१७ । पं. द्वि. अ.)

अर्थ—यदि स्वात्मोपलब्धि सम्यक्त्व होने पर हो तब तो शुद्ध है और बिना सम्यक्त्व के वही अशुद्ध है । सम्यक्त्व के होने पर वह बन्ध का कारण नहीं है और सम्यक्त्व के अभाव में बन्ध का कारण है । इस से यह भी जान लेना चाहिये कि आत्मोपलब्धि मात्र ही सम्यक्त्व सहित होती है, ऐसा नियम नहीं है ।

सम्यक्त्व कब होता है तथा उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ऐसी जानने की इच्छा होने पर पंचाध्यायी कार कहते हैं कि:—

दैवात्कालादिसंल ब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥३७६॥

अर्थ—दैवयोग से विशेष पुण्योदय से कालादि लब्धियों के प्राप्त होने पर, संसार समुद्र निकट रह जाने पर और भव्यत्व का विपाक होने से यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है । तथा श्री नेमिचन्द्र आचार्य महाराज ने श्री गोमट्टसारजी में इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति में पंचलब्धियों को भी कारण भूत कहा है । यथा:—

खय उवसमियविसोही देसण पाउग्ग करणलद्धीय ।
चत्तारि वि सामण्णा करणं सम्मत्तचारित्ते ।३। (लब्धिसारे)

अर्थ—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, और करण ये पांचलब्धियां हैं । इनमें से पहली चार तो साधारण हैं अर्थात्

भव्यजीव अभव्यजीव दोनों के होती हैं लेकिन पांचवी करणलब्धि सम्यक्त्व और चारित्र की तरफ झुके हुए भव्यजीव के ही होती है। इन पांचों लब्धियों का स्वरूप इस प्रकार है कि:—

१. कर्मों में मैल रूप जो अशुभ ज्ञानावरणादि समूह का अनुभाग जिसकाल में समय समय अनंतगुणा क्रम से घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशम लब्धि होती है।

२. जीवके प्रथम क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न हुए साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंधने का कारण शुभ परिणाम की जो प्राप्ति है वह विशुद्धि लब्धि है। अशुभ कर्म के घटने से संक्लेश की हानि और उसके विपक्षी विशुद्ध पने की वृद्धि स्वाभाविक ही है।

३. छह द्रव्य नौ पदार्थ का उपदेश करने वाले आचार्य आदि का लाभ, उपदेश का मिलना अथवा उपदिष्ट पदार्थों के धारण करने की प्राप्ति तीसरी देशना लब्धि है। नरकादि गति में जहां उपदेश देने वाला कोई नहीं है वहां पूर्व भव में धारण किये हुए तत्त्वार्थ के संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

४. पूर्वोक्त तीनलब्धि वाला जीव प्रति समय विशुद्धता की वृद्धि होने से आयु के विना सात कर्मों की स्थिति घटाता हुआ अंतः कोडाकोडि मात्र रक्खे और कर्मों का फल देने की शक्ति को भी कमजोर कर दे, ऐसे कार्य करने की योग्यता की प्राप्ति को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं।

ये चारों लब्धियां सामान्य रीति से भव्यजीव और अभव्यजीव दोनों के ही हो सकती हैं।

५. आत्मा के परिणामों में जो कर्मों की स्थिति खंडन और अनुभाग खंडन की शक्ति का पैदा होना है इसी का नाम करण लब्धि है। करणलब्धि तीन प्रकार है, १ अधःकरण २अपूर्वकरण ३ अनिवृत्तिकरण।

अधः करण के असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं। एक समय में रहने वाले अथवा भिन्न २ समयों में रहने वाले जीवों के परिणामों में समानता अथवा असमानता दोनों हो सकती है और अपूर्व करण में एक समय में रहने वाले जीवों में तो समानता और असमानता हो सकती है परन्तु भिन्न २ समयों में रहने वाले जीवों में समानता नहीं हो सकती किन्तु नवीन नवीन ही परिणाम होते हैं। इस करण के परिणाम अधः करण से असंख्यात लोक गुणित हैं। अनिवृत्ति करण में एक समय में एक ही परिणाम होता है। जितने भी जीव उस समय में होंगे सभी के एक ही परिणाम होगा, दूसरे समय में दूसरा ही परिणाम होगा, इस करण के परिणाम उसके काल के समयों के बराबर हैं। ये पांचों लब्धियां सम्यक्त्व की प्राप्ति में करण हैं। लेकिन इतना विशेष है कि पहली चारों के होने पर सम्यग्दर्शन का होना जरूरी नहीं है लेकिन करणलब्धि तभी होती है जब कि सम्यग्दर्शन प्राप्ति में अन्तर्मुहूर्त काल शेष रह जाता है अर्थात् करण लब्धि के होने पर अन्तर्मुहूर्त बाद अवश्य ही सम्यग्दर्शन होजाता है। ऊपर पंचाध्यायी कार ने जो सम्यक्त्व की प्राप्ति में काल लब्धि आदिक सामग्री को कारण कहा है उनकारणों को भी पंच लब्धि के साथ मिला लेना चाहिये। इन सबों के होने

पर कहीं सम्यक्त्व प्रकट होता है ऐसा जानना चाहिये। भव्यत्व भाव के विपाक का ऐसा अर्थ है कि जिस समय आत्मा में मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है उस समय इस भव्यत्व गुण का अपक्व परिणमन (अशुद्ध अवस्था रहता है सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय भव्यत्व गुण का विपक्व परिणमन हो जाता है अर्थात् अपने परिणाम में आ जाता है।

दर्शन मोहनीय कर्म से उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है वह मिथ्यात्व अवस्था से जीव की दूसरी अवस्था विशेष है। सम्यक्त्व आत्मा का निर्विकल्पक निराकार गुण है वह सत्व रूप है और आत्मा के प्रदेशों में परिणमन करने वाला है। जिस प्रकार सूर्य के उदय से सब जगह दिशायें निर्मलता धारण करती हुई प्रसन्नता को प्राप्त होजाती हैं उसी तरह आत्मा में सम्यक्त्व के उदय से उत्कृष्ट निर्मलता और प्रसन्नता पैदा होजाती है। ज्ञान गुण के सिवा आत्मा के सभी अनन्त गुण निर्विकल्पक हैं, अतः सम्यक्त्व भी निर्विकल्पक है। सम्यक्त्व के तत्वार्थ श्रद्धानादि जो लक्षण कहे हैं वे सब बाह्य लक्षण हैं क्योंकि श्रद्धानादिक सम्यक्त्व के रूप नहीं हैं किन्तु ये सब ज्ञान की पर्याय हैं। समयसारकार ने आत्मानुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण बताया है परन्तु वह भी ज्ञान रूप ही पड़ता है। पंचाध्यायीकार कहते हैं कि:—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं अस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्॥

अर्थ—सम्यक्त्व वास्तव में आत्मा का सूक्ष्म गुण है वह

वचनों के गोचर नहीं है इसलिये उसके कहने सुनने के लिये विधि क्रम से कोई अधिकारी नहीं हो सकता। फिर सम्यक्त्व कैसे जाना जा सकता है तो आचार्य कहते हैं कि:—

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौचितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदं ॥४०१॥

अर्थ—आत्मा का एक ज्ञान गुण ही प्रसिद्ध है जो कि हरएक पदार्थ की सिद्धि करता है। सम्यक्त्व के लिये स्वानुभूति ही एक हेतु है इसीलिये वही सर्वोत्कृष्ट पद है। सरांश इसका यह है कि काल लब्धि मिलने पर जिस समय आत्मा में शुद्ध स्वानुभूति हो जाती है तब उसके द्वारा उसके अविनाभावी सम्यग्दर्शन की उद्भूति का बोध हो जाता है। इसीलिये शास्त्रों में उस शुद्ध स्वानुभूति को ही सम्यक्त्व कह दिया गया है। स्वानुभूति सम्यक्त्व का अविनाभावी गुण है जिस प्रकार अविनाभावी होने से स्वानुभूति को ही सम्यक्त्व कहते हैं उसी प्रकार स्वानुभूति के साथ यदि श्रद्धा आदिक हों तो उन्हें भी सम्यग्दर्शन कहना चाहिये। परन्तु यदि श्रद्धा रुचि, प्रतीति, आचरण, ये चारों गुण मिथ्यात्व के साथ हों तो उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं कहना चाहिये किन्तु श्रद्धाभास, रुच्याभास एवं सम्यक्त्वाभास समझना चाहिये। आचार्य महाराज स्पष्ट रूप से कहते हैं कि:—

स्वानुभूति सनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥४२॥

अर्थ—यदि श्रद्धा आदिक गुण स्वानुभूति के साथ हों तो वे गुण (सम्यग्दर्शन के लक्षण) समझे जाते हैं। और विना स्वानुभूति के गुणाभास समझे जाते हैं। अर्थात् स्वानुभूति के अभाव में श्रद्धा आदिक गुण नहीं समझे जाते।

इससे यह प्रकट है कि 'स्वानुभूति' ही एक ऐसी वस्तु है कि जिसके होने पर श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, आचरण, तत्त्वार्थ वोध ये सब गुण हैं अन्यथा सब गुणाभास हैं। परन्तु इस स्वानुभूति की उत्पत्ति निकट भव्य जीव में ही होती है सब जीवों में नहीं होती। तथापि इसके लिये प्रयत्नशील प्राणी को सदा रहना चाहिये, अशुभ कर्मों से सदा अपने को वचाना चाहिये तथा पाप कर्मों से जीव को सदा डरना चाहिये। आगम का ऐसा ही कथन है कि सब अच्छे पदार्थ जगत में पुण्य योग से ही मिलते हैं। पुण्य योग का कारण देव; गुरु की भक्ति है। भगवान की प्रतिमा में जब दश प्राणों की प्रतिष्ठा हो जाती है और सूर्य मंत्र से जब वह प्रतिमा आगम विधि के अनुसार मंत्रित होजाती है तो उस प्रतिष्ठित प्रतिमा का दर्शन अर्चन साक्षात् भगवान का दर्शन अर्चन मानकर करना चाहिये। ग्रन्थकार कर्म के उदय को जो बलवान कहते हैं वह प्रकट में सत्य नजर आ रहा है कि इस काल के कितने ही शिक्षितों को मिथ्यात्व कर्म का उदय भवगान के दर्शन को भी नहीं जाने देता है खाने पीने में धन कमाने में ही उनको लगाया रखता है कभी पुण्य उपार्जन करने का अवसर ही नहीं देता है। कर्म की गति विचित्र है। कवि ने कहा है कि "कर्म करे सो करे नहीं कोई"। संसार में

नाना मिथ्या धर्म के उपदेशक तीर्थंकरों के समय में ही बन्द नहीं रहे तो इस काल में हमारे भाईयों को डुबोने वाले कब चुप रह सकते हैं। हमारे जिन धर्मी भाई ही जिन धर्म को अन्यथा विपरीत अर्थ कहने वाले हो गये तब दूसरों को क्या दूषण है। एक कथा प्रसिद्ध है कि जब महावीर भगवान का समव शरण विपुला चल पर्वत पर आया तो सभी दर्शन करने गये मगर एक बुढ़िया नहीं गई। लोगों ने उसको बहुत कुछ कहा परन्तु उसने जाने का कभी विचार नहीं किया। एक दिन जबरदस्ती से उसको कांधे पर रखकर उसके घर के लोग ले जाने लगे तो उसने दौड़कर २ लोहे के सूये अपनी आंखों में घुसेड़ लिये और कहा कि मैं उस नंगे के दर्शन करना नहीं चाहती। कर्म की गति बड़ी विचित्र होती है। भव्य जीवो! पाप मत कमाओ, मिथ्यात्व का सेवन मत करो अन्यथा इससे भी बुरी तुम्हारी भी गति होगी। सदा देव की भक्ति चित्त में धारण करो भगवान का भजन करो, भगवान की अर्चा, पूजा करो गुरु की सेवा करो गुरु को दान आगम विधि के अनुसार देकर पुण्य का उपार्जन करो यही कर्म शत्रु के जीतने का सहज उपाय है। आचार्य कहते हैं कि "येऽस्म नतिं विदधते मुनि पुंगवाय ते नूनमूर्ध्व गतयः खलु शुद्ध भावाः" जो उन मुनि पुंगव अर्हन्त देव को नमस्कार करेंगे वे अवश्य ऊर्ध्व गति (स्वर्ग, मोक्ष) को प्राप्त होंगे परन्तु वे ही प्राप्त होंगे कि जो शुद्ध भावों से भगवान को भक्तिसहित नमन करेंगे। जो केवल दिखाऊ रूप से दर्शन वंदन करेंगे वे कभी शुभ फल नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिये कर्मारि

को नाश करने के लिये सदा देव गुरु की सच्ची भक्ति धारण करनी चाहिये यही आगम का उपदेश है।

इस प्रकार प्रथम खंड में पैंसठ श्लोक का विवेचन समाप्त हुआ।

अंतिम मंगलतथा टीकाकारकी प्रशस्ति।

पंच परम पद क्लेशहर मंगलमय शिवरूप।
स्मरण मात्र जिनका किये बन्द होय भव कूप ॥ १ ॥
अर्हत्सिद्धाचार्य अरु पाठक साधु महान्।
सकल दुःख हर जगत में देते सौख्य निधान ॥ २ ॥
चक्रवर्ति चारित्र के शांति सागराचार्य।
इनके सम दूजा नहीं नमते इनको आर्य ॥ ३ ॥
शिष्य आपके सुगुणि वर पायसागराचार्य।
जिनकी वाणी मधुर सुन शिव मग है अनिवार्य ॥ ४ ॥
अति पावन आचार्य वर श्री जय कीर्ति महान्।
पायसागराचार्य के थे सच्छिष्य प्रधान ॥ ५ ॥
उनही का मैं शिष्य हूँ देशभूषणाचार्य।
मुझ पर कर उपकार वे सिद्ध कर गये कार्य ॥ ६ ॥
मम गुरु के गुरु भ्रात जो सकल गुणों की खान।
वीर सिंधु मुनिराज हैं उग्र तपस्वी जान ॥ ७ ॥

चन्द्र सिंधु तो नहिं रहे करें स्वर्ग में वास।
जिनके दृढ़ उपदेश से नष्ट होय भव त्रास ॥ ८ ॥
कुंथुसागराचार्य भी थे रत पर उपकार।
मिष्ट सुधा सम वचन थे छोड़ गये संसार ॥ ६ ॥
सबको वदूँ भाव से नत मस्तक मतिमान।
जिनवाणी दुःख हारिणी ही से हो कल्याण ॥ १० ॥
रत्नाकर कवि हो गये कर्णाटक विख्यात।
जिनकी रचना रसभरी प्रमुदित हो मन गात ॥ ११ ॥
पावन अपराजित शतक सुन्दर काव्य महान्।
जिसकी मैं हिन्दी करी हिन्दी का नहिं ज्ञान ॥ १२ ॥
छंद न्याय जानूँ नहीं अलंकार अज्ञात।
कन्नड़ भाषा काव्य का कुछ रस ही मिल जात ॥ १३ ॥
जयपुर चातुर्मास में कीनो यत्न प्रयास।
देव शास्त्र गुरु भक्ति से हृदय रहा उल्लास ॥ १४ ॥
ग्यारह ऊपर दो सहस विक्रम संवत् जान।
दिवस वीर निर्वाण को किया पूर्ण व्याख्यान ॥ १५ ॥
इन्द्रलाल शास्त्री यहाँ हैं विद्वान महान्।
हुआ सहायक यत्न में निःस्पृह धार्मिक जान ॥ १६ ॥
अगरवाल राधा किशन हैं उदार मतिमान।
ग्रन्थ प्रकाशित कर दियो लगा द्रव्य धनवान ॥ १७ ॥
धर्म वृद्धि हो जगत में धार्मिक हो संसार।
शासक शासित हों सभी धर्म बुद्धि के धार ॥ १८ ॥

मोह नींद सब उपशमैं आतम रुचि हो सार।
हिंसा चोरी झूँठ का हो कुशील परिहार ॥ १६ ॥
लोभ परिग्रह पाप हैं इनका हो संहार।
श्रद्धा हो परलोक में सच्चा हो व्यवहार ॥ २० ॥
शासक जन धर्मज्ञ हों सदाचार से पूर।
मायावी व्यवहार से रहे जगत सब दूर ॥ २१ ॥
दुर्जन सज्जन हों सभी सज्जन होवैं शांत।
शांत बन्ध से मुक्त हो मुक्त करे जग कांत ॥ २२ ॥
जिनवाणी के मर्म का होवे सब को ज्ञान।
आत्म स्वरूप लखें सभी मिटे मोह अज्ञान ॥ २३ ॥
जिन पूजा होती रहे मिले पात्र को दान।
श्रावक जन करते रहें इनसे निज कल्यान ॥ २४ ॥
मुनि जन त्यागी अरु व्रती लीन ध्यान स्वाध्याय।
निज पद के अनुरूप सब करें आत्मधन आय ॥ २५ ॥
सकल विश्व होवे सुखी आतम में सुख जान।
और ठौर मिलता नहीं ढूँढत फिरो जहान ॥ २६ ॥
जो मधुराई आत्म रस वैसा नहिं कहुँ जान।
हो जाओ रत आत्म रस पावो अतुल निधान ॥ २७ ॥
गुप्त खजाना माल का अपने में है धन्य।
स्वयं ढूँढ़लो आप में मिले स्वर्ग शिवजन्य ॥ २८ ॥

॥ समाप्त ॥